“STRI-VIMARSH KE SANDARBH MEIN HINDI KI STRI AATMAKATHAON KA ADHYAYAN”

A Thesis submitted during (Year) 2025 to the University of Hyderabad in partial fulfillment for the award of a Ph.D. degree in Department of Hindi, School of Humanities.

by

ARPNA SINGH

19HHPH04

Supervisor

Prof. R. S. SARRAJU

Co-Supervisor

Prof. C. ANNAPURNA

DEPARTMENT OF HINDI

SCHOOL OF HUMANITIES

UNIVERSITY OF HYDERABAD

(P.O.) CENTRAL UNIVERSITY, GACHIBOWLI

HYDERABD-500046 TELANGANA STATE (INDIA)

“स्त्री-विमर्श के सन्दर्भ में हिन्दी की स्त्री आत्मकथाओं का अध्ययन”

पीएच.डी. उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध-प्रबंध, हिंदी विभाग, हैदराबाद विश्वविद्यालय

शोधार्थी

अर्पणा सिंह

19HHPH04

वर्ष 2025

शोध-निर्देशक

प्रो.आर.एस. सर्राजू

सह-शोध-निर्देशिका

प्रो. सी. अन्नपूर्णा

हिंदी विभाग

मानविकी संकाय

हैदराबाद विश्वविद्यालय

हैदराबाद-500046

तेलंगाना (भारत)

DECLARATION

I, **ARPNA SINGH**, hereby declare that this thesis entitled **"STRI-VIMARSH KE SANDARBH MEIN HINDI KI STRI AATAMKATHAON KA ADHYAYAN" ("स्त्री-विमर्श के संदर्भ में हिन्दी की स्त्री आत्मकथाओं का अध्ययन")** submitted by me under the guidance and supervision of **Prof. R. S. Sarraju** is a bonafide research work which is also free from plagiarism. I also declare that it has not been submitted previously in part or in full to this University or any other University or Institution for the award of any degree or diploma. I hereby agree that my thesis can be deposited in shodhganga/INFLIBNET.

Date : 29/07/2025

Signature of the Student

(ARPNA SINGH)

Registration No. 19HHPH04

CERTIFICATE

This is to certify that the thesis entitled **"STRI-VIMARSH KE SANDARBH MEIN HINDI KI STRI AATAMKATHAON KA ADHYAYAN" ("स्त्री-विमर्श के संदर्भ में हिन्दी की स्त्री आत्मकथाओं का अध्ययन")** submitted by **ARPNA SINGH** bearing Registration No. **19HHPH04** in partial fulfilment of the requirements for the award of the Degree of Doctor of Philosophy in Department of Hindi is a bonafide work carried out by her under my supervision and guidance.

This thesis is free plagiarism and has not been submitted previously in part or in full to this or any other University for the award of any degree or diploma.

Parts of this thesis have been:

A. Published research paper in the following publication:

1. "Madhyakaleen Samaj aur Stri-Dasha" has been published in the Hindustani Trimaski, April-June 2025, ISSN: 0378-391X, Published from U.P. Prayagraj.
2. "Hindi Atmakathaoan mein Stri Atmakatha ka Sthan aur Bhumika" has been published in the Worldwide International Inter Disciplinary Research Journal, April 2025, ISSN-2454-7905, Edited by Mrs. Pallavi Laxman Shete, Published from Parbhani. Maharashtra

B. Research paper presented in the following conference :

1. "Stri Atmakathaoan ki Bhasha" (Language of Women's Autobiographies) was presented at a two-day national seminar on "Hindi Sahitya ke Badalte Sarokar evam Mulya" (Changing Concerns and Values of Hindi Literature) held on March 07 and 08, 2025, at Rajkeey Mahavidyalaya Manglour, Haridwar (Uttarakhand).
2. "Harishankar Parsai ke Nivanyon mein Samajik Sarokar" (Social Concerns in Harishankar Parsai's Essays) was presented at a national seminar on "Harishankar Parsai— Sahitya, Samaj aur Samay" (Harishankar Parsai— Literature, Society and Time) held on October 19, 2024, at Veer Kunwar Singh University, Ara, Bihar.

Further the student has passed the following courses towards the fulfillment of coursework requirement for Ph.D during August 2019 to June 2020.

Course Code	Name	Credit	Pass/Fail
HH801	CRITICAL APPROACH TO RESEARCH	4	PASS
HH802	RESEARCH PAPER	4	PASS
HH826	IDEOLOGY OF HINDI LITERATURE	4	PASS
HH827	PRACTICAL REVIEW	4	PASS

29/7

Prof. R.S. Sarraju
Supervisor
Dept. of Hindi

प्रो. आर एस. सर्राजु
हिन्दी विभाग,
हैदराबाद विश्वविद्यालय,
हैदराबाद -500046.

Prof. C. Annapurna
Co-Supervisor
Dept. of Hindi

Annapurna
30/7/25

Head of Department
Dept. of Hindi

(Awasthi)
30/07/25

Dean
School of Humanities

प्रोफ़ेसर / Professor
हिन्दी विभाग / Department of Hindi
हैदराबाद विश्वविद्यालय / University of Hyderabad
हैदराबाद / Hyderabad-500 046.

अध्यक्ष, हिंदी विभाग
Head, Department of Hindi
हैदराबाद विश्व विद्यालय
University of Hyderabad
हैदराबाद, Hyderabad-500046.

DEAN
SCHOOL OF HUMANITIES
UNIVERSITY OF HYDERABA
HYDERABAD-500 046. T.S. IN

‘सतत विकास लक्ष्य’ रिपोर्ट

“स्त्री विमर्श के संदर्भ में हिंदी की स्त्री आत्मकथाओं का अध्ययन”

(STRI-VIMARSH KE SANDARBH MEIN HINDI KI STRI AATMAKATHAON KA ADHYAYAN)

ARPNA SINGH
19HHPH04

Supervisor
Prof. R. S. SARRAJU

Co-Supervisor
Prof. C. ANNAPURNA

A Thesis submitted during (Year) 2025 to the University of Hyderabad in partial fulfillment for the award of a Ph.D. degree in Department of Hindi, School of Humanities.

सन् 2015 में संयुक्त राष्ट्र महासभा द्वारा वैश्विक विकास के एक समावेशी, न्यायसंगत और मानव-केन्द्रित ढाँचे की आधारशिला रखते हुए 17 सतत विकास लक्ष्य (Sustainable Development Goals) निर्धारित किए गए। इन लक्ष्यों का उद्देश्य 2030 तक गरीबी उन्मूलन, असमानता में कमी, जलवायु संरक्षण, लैंगिक न्याय और समावेशी समाज की स्थापना करना है। प्रस्तुत शोध प्रबंध— हिंदी की स्त्री आत्मकथाओं के माध्यम से स्त्री विमर्श की वैचारिक, सामाजिक और सांस्कृतिक पड़ताल करता है— इन लक्ष्यों से गहराई से जुड़ा हुआ है।

यह शोध न केवल साहित्यिक अध्ययन है बल्कि सामाजिक न्याय, लैंगिक समानता, सशक्तिकरण, मानसिक स्वास्थ्य, शिक्षा और संस्थागत भागीदारी जैसे क्षेत्रों में भी वैचारिक हस्तक्षेप करता है।

शोध विषय: "स्त्री-विमर्श के संदर्भ में हिंदी की स्त्री-आत्मकथाओं का अध्ययन"

सतत विकास लक्ष्यों से सम्बद्धता (SDGs) — 3, 4, 5, 8, 10, 16, 17

21वीं सदी के वैश्विक परिदृश्य में जब समाज, राष्ट्र और ज्ञान की विविध प्रणालियाँ समावेशी, न्यायपूर्ण और सतत विकास की दिशा में सक्रिय हो रही हैं तब साहित्य; विशेषतः आत्मकथा जैसे सृजनात्मक माध्यमों का महत्व और अधिक बढ़ गया है। हिंदी की स्त्री आत्मकथाएँ न केवल निजी अनुभवों की अभिव्यक्ति हैं, बल्कि वे लैंगिक असमानता, सामाजिक बहिष्करण, मानसिक स्वास्थ्य, शिक्षा, कार्यक्षेत्र, न्याय और समानता जैसे बहुआयामी विमर्शों की संवेदनशील प्रस्तुति भी हैं। अतः "स्त्री विमर्श के संदर्भ में हिंदी की स्त्री आत्मकथाओं का अध्ययन" न केवल साहित्यिक समीक्षा है, बल्कि यह संयुक्त राष्ट्र द्वारा निर्धारित सतत विकास लक्ष्यों (SDGs) की सिद्धि में वैचारिक आधार भी प्रस्तुत करता है।

SDG 3 (Good Health and Well-being)—

स्त्री आत्मकथाओं में मानसिक स्वास्थ्य, भावनात्मक उत्पीड़न, आत्मद्वंद्व और यौनिक आघात जैसी अनुभूतियाँ बार-बार उभरती हैं। प्रभा खेतान, कृष्णा अग्निहोत्री जैसी लेखिकाओं की आत्मकथाएँ यह स्पष्ट करती हैं कि समाज द्वारा थोपी गई चुप्पियाँ, पारिवारिक अस्वीकृति और आत्मग्लानि स्त्री के मानसिक स्वास्थ्य पर गहरा प्रभाव डालती है। ऐसे साहित्य का

अध्ययन मानसिक स्वास्थ्य और कल्याण के सामाजिक संदर्भों को समझने और सुधारने में सहायक हो सकता है।

SDG 4 (Quality Education)—

स्त्री आत्मकथाएँ स्त्री शिक्षा के सामाजिक संदर्भों और संघर्षों की व्याख्या करती हैं। ममता कालिया, कुसुम अंसल जैसी लेखिकाओं की रचनाओं में स्पष्ट होता है कि किस प्रकार शिक्षा स्त्री के आत्मबोध और आत्मनिर्णय का द्वार खोलती है। इन रचनाओं के अध्ययन से शिक्षा में लैंगिक समावेश और जीवनपरक शिक्षा की आवश्यकता की पुष्टि होती है।

SDG 5 (Gender Equality)—

यह शोध सीधे-सीधे लैंगिक समानता के लक्ष्य से संबद्ध है। हिंदी की स्त्री आत्मकथाएँ स्त्री के स्वतंत्र व्यक्तित्व, शरीर पर स्वामित्व, विवाह-संस्था की आलोचना और सामाजिक न्याय की माँग को स्वर देती हैं। ये आत्मकथाएँ पितृसत्ता के खिलाफ स्त्री-स्वर को न केवल स्थापित करती हैं, बल्कि समान अधिकारों की दिशा में वैचारिक आंदोलन का कार्य करती हैं।

SDG 8 (Decent Work and Economic Growth)—

अनेक स्त्री आत्मकथाएँ जैसे अन्या से अनन्या या कस्तूरी कुंडल बसे में श्रम, आर्थिक आत्मनिर्भरता और कार्यस्थल पर स्त्री की पहचान से जुड़े प्रश्न उठाए गए हैं। लेखिकाएँ यह स्पष्ट करती हैं कि आर्थिक सशक्तिकरण ही स्त्री को आत्मनिर्णय का अवसर प्रदान करता है, जो एक सम्मानजनक कार्य संस्कृतिकी नींव है।

SDG 10 (Reduced Inequalities)—

जातिगत, लैंगिक, क्षेत्रीय और सांस्कृतिक असमानताओं को स्त्री आत्मकथाएँ बेहद सूक्ष्मता से उभारती हैं। विशेषकर दलित स्त्रियों की आत्मकथाओं में दोहरी उत्पीड़न प्रणाली का चित्रण (जाति + लिंग) SDG-10 के तहत समानता के अवसरों की माँग को सशक्त बनाता है।

SDG 16 (Peace, Justice and Strong Institutions)—

स्त्री आत्मकथाएँ उन न्यायिक और सामाजिक संस्थाओं की विफलताओं को भी रेखांकित करती हैं, जो लैंगिक हिंसा, घरेलू उत्पीड़न या कार्यस्थल पर भेदभाव के विरुद्ध प्रभावी नहीं रही हैं। ये आत्मकथाएँ शांति, न्याय और पारदर्शिता की आवश्यकता पर बल देती हैं, और इस दिशा में चेतना निर्माण का कार्य करती हैं।

SDG 17 (Partnerships for the Goals)—

स्त्री आत्मकथाएँ यह भी सिद्ध करती हैं कि सामाजिक परिवर्तन सहभागिता से ही संभव है। जब स्त्री लेखिकाएँ अपने अनुभवों को साझा करती हैं, तब वे अन्य स्त्रियों की आवाज़ को शक्ति प्रदान करती हैं। साहित्यिक विमर्श, शिक्षण संस्थान, अकादमिक मंच, मीडिया और सामाजिक संगठन—सभी इस साझेदारी का हिस्सा बन सकते हैं, जिससे लैंगिक न्याय और मानव गरिमा सुनिश्चित हो सके।

निष्कर्षतः

यह शोध-प्रबंध यह स्थापित करता है कि हिंदी की स्त्री आत्मकथाओं का अध्ययन न केवल साहित्यिक महत्व रखता है, बल्कि वह सतत विकास लक्ष्यों की पूर्ति में भी एक वैचारिक, आलोचनात्मक और सामाजिक औजार के रूप में कार्य करता है। यह विमर्श स्त्री को केंद्र में रखकर समावेशी, संवेदनशील और न्यायपूर्ण समाज की पुनर्रचना की दिशा में अत्यंत प्रासंगिक और आवश्यक है।

Research Title: "STRI-VIMARSH KE SANDARBH MEIN HINDI KI STRI-AATAMKATHAON KA ADHYAYAN"

Alignment with Sustainable Development Goals (SDGs): 3, 4, 5, 8, 10, 16, 17

In the contemporary global discourse of inclusive, equitable, and sustainable development, literature—particularly autobiographical writing—emerges as a powerful medium of socio-cultural expression and transformation. Hindi women's autobiographies are not merely records of personal memory but are critical commentaries on gender inequality, social exclusion, mental health, education, labour, justice, and identity. Therefore, the present research, *"A Study of Hindi Women's Autobiographies in the Context of Feminist Discourse"*, is deeply interlinked with the core objectives of the **United Nations Sustainable Development Goals (SDGs)**.

SDG 3 – Good Health and Well-being

Women's autobiographies often reveal the emotional trauma, psychological suppression, and internal conflict women face within patriarchal structures. Texts like those by Prabha Khaitan and Krishna Agnihotri emphasize how *silencing, familial rejection, and internalized guilt* severely impact women's mental well-being. These narratives bring mental health issues into the feminist literary framework, advocating for greater psychosocial awareness.

SDG 4 – Quality Education

Many autobiographies highlight the transformative role of education in shaping a woman's self-awareness and autonomy. Authors such as Mamta Kalia and Kusum Ansal portray *education not merely as formal*

instruction but as a path to selfhood and intellectual emancipation. This aligns with the vision of inclusive and equitable quality education for all.

SDG 5 – Gender Equality

This research directly addresses the goal of *achieving gender equality*. Hindi women's autobiographies vocalize women's rights to bodily autonomy, critique marriage and social institutions, and demand intellectual and social justice. These narratives assert the *female self* against the confines of patriarchy and contribute to a literary culture of feminist resistance.

SDG 8 – Decent Work and Economic Growth

Autobiographies such as *Anya Se Ananya* and *Kasturi Kundal Base* discuss labour, gendered spaces in the workplace, and the struggles for economic independence. These texts show that *economic empowerment* is essential to a woman's right to self-determination and dignity, aligning with the goal of *productive and inclusive employment* for all.

SDG 10 – Reduced Inequalities

Caste, class, gender, and linguistic marginalization are key themes in many autobiographies—especially of Dalit women—demonstrating *intersections of oppression*. These texts advocate for *social equity and the dismantling of institutionalized discrimination*, thereby reinforcing the relevance of SDG 10.

SDG 16 – Peace, Justice and Strong Institutions

Women's autobiographies also critique the failure of legal and institutional systems in protecting women from gender-based violence and discrimination. These life narratives call for *transparent, inclusive, and accountable institutions* that uphold *peace and justice*, especially for marginalized voices.

SDG 17 – Partnerships for the Goals

These autobiographies exemplify how women writers build *networks of*

shared experience and solidarity, transforming their personal narratives into collective resistance. The role of academia, literature, media, and civil society as partners in promoting feminist thought and gender equity is essential to realizing the aims of this goal.

Conclusion :

Thus, this research establishes that Hindi women's autobiographies are not merely personal chronicles but *textual interventions into systems of power, gender, and culture*. Their study offers significant contributions not only to feminist literary criticism but also to the vision of a more inclusive, sensitive, and just society envisioned by the Sustainable Development Goals. These life narratives serve as *catalysts for socio-political change*, reaffirming the transformative potential of women's lived experiences in literature.

अध्याय-विभाजन

प्राक्कथन	**i-viii**
प्रथम अध्याय : **साहित्य, समाज और आत्मकथा**	**1-32**
1.1 : साहित्य, समाज और संस्कृति का अंतर-संबंध	2-10
1.2 : साहित्य की विविध विधाएँ	11-20
1.3 : साहित्य में आत्मकथाओं का महत्व	21-32
द्वितीय अध्याय : **आत्मकथाएँ और हिंदी साहित्य**	**33-93**
2.1 : हिन्दी आत्मकथा साहित्य का विकास	34-47
2.2 : हिंदी की प्रमुख आत्मकथाएँ	48-73
2.3 : हिंदी की प्रमुख स्त्री-आत्मकथाएँ	74-93
तृतीय अध्याय : **हिंदी-आत्मकथाओं के परिप्रेक्ष्य में स्त्री-विमर्श की अवधारणा**	**94-163**
3.1 : साहित्य में विमर्श की अवधारणा	95-111
3.2 : पाश्चात्य एवं भारतीय सन्दर्भ में स्त्री-विमर्श की अवधारणा	112-132
3.3 : हिंदी की स्त्री-आत्मकथाओं के विभिन्न परिप्रेक्ष्य	133-163
चतुर्थ अध्याय : **हिंदी की स्त्री-आत्मकथाओं का विश्लेषणात्मक अध्ययन**	**164-288**
4.1 : हिंदी की प्रमुख स्त्री-आत्मकथाओं का विश्लेषण— I & II	165-244
4.2 : हिंदी की स्त्री-आत्मकथाओं से सम्बंधित स्त्री-विमर्श की दिशा	245-255
4.3 : वैश्वीकरण का हिंदी स्त्री-लेखन पर प्रभाव	256-270
4.4 : हिंदी की स्त्री-आत्मकथाओं की प्रासंगिकता और प्रभाव	271-288
पंचम अध्याय : **हिंदी-आत्मकथा एवं भाषा**	**289-348**
5.1 : हिंदी-आत्मकथात्मक भाषा का स्वरुप	290-317
5.2 : हिंदी की स्त्री-आत्मकथाओं की भाषा	318-350
उपसंहार	**351-364**
ग्रंथ-सूची	**365-375**

प्राक्कथन

साहित्य सदा से मानव सभ्यता का संवेदनशील दर्पण रहा है, जो न केवल उसके भावनात्मक और बौद्धिक आयामों को अभिव्यक्त करता है, अपितु सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक यथार्थ की भी गहराई से पड़ताल करता है। विशेष रूप से आत्मकथा साहित्य वह विधा है, जहाँ लेखक स्वयं अपने जीवनानुभवों के माध्यम से न केवल अपने 'स्व' को उद्घाटित करता है, बल्कि उस 'स्व' के सहचर बने समय, समाज और सत्ता-संरचनाओं का भी सजीव चित्रण करता है। हिंदी साहित्य में आत्मकथा विधा का विकास धीरे-धीरे हुआ, किंतु समकालीन काल में इसने स्त्री लेखन के संदर्भ में एक वैचारिक और सामाजिक प्रतिरोध की प्रभावशाली भूमिका ग्रहण की है।

भारतीय समाज की पारंपरिक संरचना में स्त्री की भूमिका को सदैव सीमित, परिभाषित और नियंत्रणकारी दायरों में बाँधा गया। उसकी चुप्पी को उसकी गरिमा और त्याग का पर्याय माना गया। किंतु जब स्त्री स्वयं अपनी कथा कहने लगती है, तो वह न केवल उस मौन को तोड़ती है, बल्कि उस इतिहास, संस्कृति और सामाजिक सोच पर भी पुनर्विचार की माँग करती है जिसने उसकी अस्मिता को बहुधा गौण या अनुपस्थित बनाए रखा। हिंदी की स्त्री आत्मकथाएँ इसी वैचारिक और अनुभवात्मक संघर्ष की प्रतिध्वनि हैं, जहाँ लेखिकाएँ आत्मकथा को आत्मप्रकाशन से आगे बढ़ाकर आत्म-संघर्ष और आत्म-अधिकार की स्थापना के साहित्यिक औजार के रूप में प्रयुक्त करती हैं।

स्त्री आत्मकथाओं की विशेषता यह है कि वे केवल स्त्री जीवन की पीड़ा नहीं, बल्कि एक सोचने-समझने वाली सत्ता के रूप में स्त्री के आत्मबोध को स्थापित करती हैं। प्रभा खेतान की 'अन्या से अनन्या', मन्नू भंडारी की 'एक कहानी यह भी', मैत्रेयी पुष्पा की 'कस्तूरी कुंडल बसे', गुड़िया भीतर गुड़िया, कृष्णा अग्निहोत्री की 'लगता नहीं है दिल मेरा' और और औरत, ममता कालिया की 'कितने शहरों में कितनी बार', सुषम बेदी की 'आरोह-

अवरोह', चंद्रकिरण सौनरेक्सा की आत्मकथा 'पिंजरे की मैना', शीला झुनझुनवाला की आत्मकथा 'कुछ कही कुछ अनकही', निर्मला जैन की आत्मकथा 'जमाने में हम' और अन्य आत्मकथाएँ स्त्री-जीवन के अनुभवों, द्वंद्वों, यथार्थों और चेतनाओं का ऐसा दस्तावेज प्रस्तुत करती हैं, जो हिन्दी साहित्य को वैचारिक समृद्धि प्रदान करते हैं।

प्रस्तुत शोध-प्रबंध इसी विमर्श की परतों को खोलने का प्रयास है। यह अध्ययन हिंदी की स्त्री आत्मकथाओं को केवल साहित्यिक विधा के रूप में नहीं, बल्कि एक सामाजिक, सांस्कृतिक और वैचारिक आंदोलन के रूप में देखता है। यह शोध यह भी प्रतिपादित करता है कि स्त्री आत्मकथाएँ न केवल स्त्री के निजी अनुभवों की पुनर्रचना हैं, बल्कि वे समूचे समाज के मौन, विस्मृति और विडंबनाओं की सार्वजनिक अभिव्यक्ति भी हैं।

स्त्री आत्मकथा के भीतर वह राजनीतिक चेतना, सांस्कृतिक आत्मसजगता और भाषिक आत्मनिर्भरता अंतर्निहित है, जो हिंदी साहित्य के वर्तमान परिदृश्य को न केवल समृद्ध करती है, बल्कि उसे अधिक मानवीय, आलोचनात्मक और परिवर्तनशील बनाती है। इसीलिए यह शोध-प्रबंध ; स्त्री-आत्मकथा को एक गंभीर आलोचनात्मक विमर्श के केंद्र में स्थापित करने का प्रयास है, ताकि हिंदी साहित्य में स्त्री की वैचारिक उपस्थिति को नई दृष्टि से समझा जा सके।

प्रस्तुत शोध-प्रबंध **"स्त्री-विमर्श के संदर्भ में हिंदी की स्त्री-आत्मकथाओं का अध्ययन"** को पाँच अध्यायों में विभाजित किया गया है। प्रथम अध्याय '**साहित्य, समाज और आत्मकथा'** में साहित्य, समाज और संस्कृति के पारस्परिक संबंध की विवेचना की गई है। साहित्य को सामाजिक चेतना का वाहक मानते हुए इसकी विविध विधाओं का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया गया है। आत्मकथा को एक विशेष साहित्यिक विधा के रूप में स्थापित करते हुए इसमें उसके महत्व, प्रयोजन और सामाजिक भूमिका पर प्रकाश डाला गया है। यह अध्याय आत्मकथा के सैद्धांतिक आधार की भूमिका निर्मित करता है।

द्वितीय अध्याय **'आत्मकथाएँ और हिंदी साहित्य'** के तहत हिंदी आत्मकथा-साहित्य के ऐतिहासिक विकास को रेखांकित करता है। बनारसीदास की 'अर्धकथानक' से लेकर आधुनिक लेखकों की आत्मकथाओं तक की यात्रा का परिचय देते हुए इसमें प्रमुख आत्मकथाओं का उल्लेख और वर्गीकरण किया गया है। साथ ही, हिंदी की स्त्री आत्मकथाओं की विशिष्ट पहचान और उनकी ऐतिहासिक प्रासंगिकता को भी उद्घाटित किया गया है। तृतीय अध्याय **'हिंदी-आत्मकथाओं के परिप्रेक्ष्य में स्त्री-विमर्श की अवधारणा'** में विमर्श की अवधारणा का सैद्धांतिक अध्ययन किया गया है। पाश्चात्य और भारतीय स्त्री विमर्श की तुलनात्मक समीक्षा करते हुए इसमें यह विश्लेषित किया गया है कि आत्मकथाएँ स्त्री के जीवनानुभवों को कैसे विमर्श के केंद्र में लाती हैं। स्त्री आत्मकथाओं के विविध सामाजिक, सांस्कृतिक और वैचारिक परिप्रेक्ष्य इस अध्याय का मूल स्वर हैं।

चतुर्थ अध्याय **'हिंदी की स्त्री-आत्मकथाओं का विश्लेषणात्मक अध्ययन'** यह अध्याय शोध का केंद्रीय और सर्वाधिक विश्लेषणात्मक खंड है, जिसमें हिंदी की प्रमुख स्त्री आत्मकथाओं— जैसे, प्रभा खेतान की 'अन्या से अनन्या', मन्नू भंडारी की 'एक कहानी यह भी', मैत्रेयी पुष्पा की 'कस्तूरी कुंडल बसे' एवं 'गुड़िया भीतर गुड़िया', कृष्णा अग्निहोत्री की 'लगता नहीं है दिल मेरा' और 'और औरत', ममता कालिया की 'कितने शहरों में कितनी बार', सुषम बेदी की 'आरोह-अवरोह', चंद्रकिरण सौनरेक्सा की 'पिंजरे की मैना', शीला झुनझुनवाला की 'कुछ कही कुछ अनकही', तथा निर्मला जैन की 'जमाने में हम'— का विस्तार से आलोचनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

इन आत्मकथाओं के माध्यम से स्त्री-जीवन के निजी अनुभवों, मानसिक द्वंद्वों, सामाजिक यथार्थों और चेतनात्मक उभार को रेखांकित किया गया है। यह अध्याय दर्शाता है कि इन रचनाओं में स्त्री अस्मिता, यौनिकता, पारिवारिक असंतुलन, जातिगत भेदभाव, सामाजिक दमन और सांस्कृतिक वर्जनाओं के विरुद्ध एक सशक्त वैचारिक प्रतिरोध प्रकट होता है। साथ ही, इस अध्याय में वैश्वीकरण के प्रभाव का विश्लेषण भी किया गया है,

जिससे यह स्पष्ट होता है कि कैसे आधुनिकतावाद, उपभोक्तावाद और भूमंडलीय संस्कृति ने स्त्री की सामाजिक स्थिति, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता और आत्मकथात्मक शैली को प्रभावित किया है। अंततः, यह अध्याय स्त्री आत्मकथाओं में निहित स्त्री विमर्श की दिशा, उसकी राजनीतिक चेतना, तथा साहित्य में उसकी वैचारिक प्रासंगिकता की पहचान कराते हुए, समकालीन स्त्री लेखन की संभावनाओं की ओर भी संकेत करता है।

पंचम अध्याय **'हिंदी-आत्मकथा एवं भाषा'** अध्याय आत्मकथाओं में भाषा की भूमिका को वैचारिक और संवेदनात्मक उपकरण के रूप में रेखांकित करता है। आत्मकथात्मक लेखन में भाषा केवल संप्रेषण नहीं, बल्कि आत्मबोध, अस्मिता और प्रतिरोध की सशक्त अभिव्यक्ति बनती है। विशेष रूप से स्त्री आत्मकथाओं में लोकभाषा, देशज मुहावरे, क्षेत्रीय शब्दावली और हिंदी-अंग्रेज़ी मिश्रित प्रयोग के माध्यम से स्त्री अनुभवों, संघर्षों और यौनिक चेतना को प्रभावी रूप में व्यक्त किया गया है। यह भाषा न केवल पितृसत्ता का प्रतिरोध करती है, बल्कि स्त्री के 'स्व' की पुनर्रचना का माध्यम भी बनती है।

अंत में ; **उपसंहार** के अंतर्गत यह विवेचित किया गया है कि हिंदी की स्त्री आत्मकथाएँ केवल अतीत की घटनाओं का वृत्तांत नहीं, बल्कि वर्तमान संघर्षों की सजीव गाथा और भविष्य की संभावित दिशा का संकेत भी हैं। ये आत्मकथाएँ स्त्री के उस 'स्व' की पुनर्खोज हैं जिसे इतिहास, धर्म, समाज और परिवार ने दबा दिया था। आत्मकथाओं के माध्यम से स्त्री अपने अस्तित्व की तलाश, अस्मिता की पुनर्परिभाषा और आत्मबोध की प्रक्रिया को व्यक्त करती है। साथ ही ये रचनाएँ पितृसत्तात्मक ढाँचों में खोई स्त्री-आवाज़ को पुनः स्थापित करती हैं और एक न्यायपूर्ण समाज की कल्पना को बल प्रदान करती हैं।

सर्वप्रथम, ज्ञान की देवी माँ शारदे की असीम कृपा से इस शोध-प्रबंध को पूर्णता तक पहुँचाने का श्रेय मेरे शोध-निर्देशक प्रो. आर.एस. सर्राजू सर, सह-शोध निर्देशक प्रो. अन्नपूर्णा मा'म को जाता है। उनके कुशल निर्देशन से ही यह शोध-प्रबंध इस रूप में प्रस्तुत

किया जा सका है। इन्होंने ; न केवल शोधार्थी के गुणों से मुझे परिचित कराया बल्कि एक विमर्शपरक चिंतन की दिशा भी दी। अब तक जो भी मार्गदर्शन और सहयोग मुझे प्राप्त हुआ है उसके लिए मैं सदैव आभारी रहूँगी। साथ ही, विभाग समस्त विभागीय गुरुजनों के प्रति भी मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ जिनके विद्वत्तापूर्ण सुझाव एवं प्रोत्साहन ने इस अध्ययन को वैचारिक दृढ़ता प्रदान की।

मैं अपने प्रिय मित्र डॉ. अवनीश प्रकाश सिंह और डॉ. रीतिका सिंह के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करती हूँ, जिन्होंने इस शोध-यात्रा के विभिन्न चरणों में निरंतर बौद्धिक सहयोग, आत्मीय समर्थन और प्रेरक संवाद के माध्यम से मेरी सहायता की। उनके विचारशील मार्गदर्शन, आलोचनात्मक दृष्टिकोण तथा सकारात्मक ऊर्जा ने मेरे शोध चिंतन को गहराई और स्पष्टता प्रदान की। वे न केवल एक सहृदय मित्र के रूप में, बल्कि एक सजग शोध-सहयात्री के रूप में सदैव उपस्थित रहे।

मैं अपने विद्वत मित्रों— डॉ. महेश अन्ना जी, डॉ. करन पलसानिया जी, डॉ. भावना, डॉ. प्रिया कौशिक, डॉ. सुनील कुमार, डॉ. हिमांशु रॉय तथा डॉ. अमित कुमार शर्मा के प्रति हृदय से आभार प्रकट करती हूँ। इन सभी मित्रों ने अपने-अपने ढंग से इस शोध-यात्रा में बौद्धिक और भावनात्मक रूप से मेरी भरपूर सहायता की। चर्चा, विमर्श और आलोचनात्मक संवाद के माध्यम से इन्होंने मेरे शोध-चिंतन को सुस्पष्ट दिशा प्रदान की तथा अनेक जटिलताओं को सरल रूप में समझने का अवसर दिया। उनके द्वारा प्रदत्त प्रोत्साहन, मित्रवत सुझाव और आत्मीय सहभागिता ने मेरी शोध-यात्रा को न केवल सार्थक बनाया, बल्कि उसे ऊर्जा और प्रेरणा भी प्रदान की। इस सहयोग, मित्रता और विद्वत्ता के लिए मैं इन सभी के प्रति अपनी गहन कृतज्ञता व्यक्त करती हूँ।

मैं हैदराबाद विश्वविद्यालय के जीवंत, सृजनात्मक और बौद्धिक रूप से उर्वर प्रांगण के प्रति गहन कृतज्ञता प्रकट करती हूँ, जिसने मुझे स्वतंत्र चिंतन, विमर्श और नवाचार की अनुकूल भूमि प्रदान की। इस संस्थान का अकादमिक वातावरण, पुस्तकालय-संपदा, विद्वत

संवाद और शोधोन्मुख वातावरण मेरे लिए प्रेरणा, प्रयोग और पुनर्विचार का सतत स्रोत बना रहा। यह विश्वविद्यालय न केवल ज्ञान का केंद्र है, बल्कि आत्मविकास, संवेदना और सामाजिक चेतना की एक जीवंत प्रयोगशाला भी है, जहाँ प्रत्येक विचार को सुनने, समझने और तराशने का अवसर मिलता है। इस सृजनशील प्रांगण ने मेरे शोध-संघर्षों को सहारा दिया, मेरी जिज्ञासाओं को दिशा दी और मेरी अकादमिक पहचान को आकार प्रदान किया।

परिवार के उन सभी बंधु और भगिनी का भी हृदय से धन्यवाद करती हूँ जिनका प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग रहा। मैं उन सभी के प्रति हृदय से आभार व्यक्त करती हूँ जिन्होंने इस अकादमिक यात्रा में मेरा अनवरत साथ दिया।

मेरी बड़ी बहन सरला दी मेरे जीवन की प्रेरणा रही हैं। उन्होंने मुझे बचपन से अपनी संतान की भाँति स्नेह, संरक्षण और वह परिवेश प्रदान किया जिसकी बदौलत मैं आज इस शैक्षिक उपलब्धि तक पहुँच सकी हूँ। उनके प्रति मेरी कृतज्ञता शब्दों में व्यक्त नहीं की जा सकती। साथ ही, मैं श्री नरपत सिंह जी भाईसाब एवं श्री गूंथा लक्ष्मण जी भाईसाब के प्रति भी अपना हार्दिक आभार प्रकट करती हूँ जिनके आशीर्वाद, आत्मीय सहयोग के बिना यह शोध कार्य संभव न हो पाता।

मैं अपनी बहनों— श्रीमती मनोरमा, मुस्कान एवं स्वीटी, तथा भाई श्री प्रह्लाद सिंह के प्रति स्नेह और कृतज्ञता के साथ आभार प्रकट करती हूँ। पारिवारिक स्नेह, अपनत्व और उत्साहवर्धन के वातावरण ने मुझे जीवन की कठिन परिस्थितियों में भी आगे बढ़ते रहने की प्रेरणा दी। उनके आत्मीय सहयोग, हौसले और विश्वास ने मेरी इस शैक्षणिक यात्रा को भावनात्मक संबल प्रदान किया है।

साथ ही, मैं अपने दिवंगत भाई हिम्मत सिंह जंडेला और बहन संजय की स्मृति को विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करती हूँ। उनका स्नेह, मार्गदर्शन और उपस्थिति भले ही अब शारीरिक रूप से न हो, किंतु उनकी यादें, सीख और शुभकामनाएँ आज भी मेरी चेतना में जीवित हैं और मेरे हर प्रयास में उनका मौन आशीर्वाद समाहित है। उनका जीवन, संघर्ष और

आत्मीयता मेरे लिए सदैव प्रेरणा का स्रोत रहेंगे। इन सभी पारिवारिक संबंधों ने मेरे जीवन को न केवल भावनात्मक रूप से समृद्ध किया, बल्कि मेरी शैक्षणिक उपलब्धियों की नींव को भी मजबूती दी। मैं उनके प्रति हृदय से आभार ज्ञापित करती हूँ।

मैं अपने सास-श्वसुर श्रीमती प्रेमलता जी एवं श्री हरि सिंह जी के प्रति भी हृदय से नमन और आभार प्रकट करती हूँ। विवाहोपरांत मेरी शैक्षणिक आकांक्षाओं को जिस स्नेह, सम्मान और समर्थन के साथ उन्होंने आगे बढ़ने का अवसर दिया, वह मेरे लिए अत्यंत प्रेरक और महत्त्वपूर्ण रहा है। पारिवारिक उत्तरदायित्वों के बीच अध्ययन और शोध को जारी रखने में उनका सतत सहयोग मेरे लिए एक अमूल्य शक्ति रहा है।

अपने पूज्य माता-पिता श्रीमती अंगूरी देवी एवं श्री क़िलेदार सिंह के प्रति अशेष श्रद्धा, आदर और कृतज्ञता प्रकट करती हूँ। वे न केवल मेरे जीवन के प्रथम गुरु हैं, बल्कि उन्होंने मुझे जीवन के प्रत्येक मोड़ पर आत्मविश्वास, परिश्रम, ईमानदारी और नैतिक मूल्यों के साथ आगे बढ़ने की प्रेरणा दी है। उनके द्वारा दिए गए संस्कारों और जीवन-दृष्टि ने ही मुझे इस शैक्षिक यात्रा में निरंतर आगे बढ़ने का संबल प्रदान किया। आज मैं जिस भी उपलब्धि के निकट पहुँची हूँ, उसके मूल में उनके त्याग, तपस्या और प्रोत्साहन की गहराई छिपी हुई है।

और अंततः मैं अपनी प्रिय पुत्री गुपलू के प्रति भी विशेष आभार व्यक्त करती हूँ, जो इस शोध-कार्य के दौरान मेरी प्रेरणा का स्रोत रही है। उसकी मासूम जिज्ञासा, भाषिक कोमलता ने मुझे शोधगत ईमानदारी, संवेदनशीलता और सतत संलग्नता का पाठ पढ़ाया।

मैं अपने जीवनसाथी बुटा सिंह जी के प्रति हृदय की गहराइयों से कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ जिनका इस शोध-यात्रा में न केवल बौद्धिक अपितु भावनात्मक रूप से भी अमूल्य योगदान रहा है। शोध की विविध जटिल अवधारणाओं पर उनकी तार्किक अंतर्दृष्टि, विवेकपूर्ण सुझाव और गहन अकादमिक दृष्टिकोण ने मेरे चिंतन को दिशा प्रदान की तथा शोध-प्रबंध की गुणवत्ता को उल्लेखनीय रूप से समृद्ध किया।

किन्तु यह सहयोग केवल बौद्धिक स्तर तक सीमित नहीं था ; उनके निःस्वार्थ प्रेम, अटूट धैर्य और नितांत आत्मीय साथ ने इस शोध-यात्रा को मेरे लिए सहज, सन्तुलित और सम्भव बनाया। जब-जब मैं मानसिक अथवा भावनात्मक रूप से विचलित हुई; उनका विश्वास, धैर्य और प्रोत्साहन मेरे लिए संबल बनकर उपस्थित हुआ। यह शोध-कार्य वस्तुतः हमारे साझा जीवन के उस स्नेह, सहयोग और आंतरिक संवाद का परिणाम है, जिसने इस अकादमिक यात्रा को केवल बौद्धिक नहीं बल्कि एक आत्मिक अनुभव में परिवर्तित कर दिया।

सादर

अर्पणा सिंह

अध्याय : 1

साहित्य, समाज और आत्मकथा

1.1 — साहित्य, समाज और संस्कृति का अंतर-संबंध

1.2 — साहित्य की विविध विधाएँ

1.3 — साहित्य में आत्मकथाओं का महत्व

1.1

साहित्य, समाज और संस्कृति का अंतर-संबंध

साहित्य, समाज और संस्कृति का अंतर-संबंध एक व्यापक और प्रभावी प्रक्रिया है। मानवीय स्वभाव की प्रत्येक परत की शिनाख्त इस प्रक्रिया का हासिल है। अज्ञेय ने श्रेष्ठ साहित्य को समाज के लिए मुक्तिदायक बताया है। "साहित्य लगभग ज़रूरी तौर पर जीवन को बदल देता है तथा साहित्य और जीवन का संबंध ख़ास, जटिल और गतिशील होता है।"*1 वस्तुतः साहित्य का सच; रोज़मर्रा का अखबारी सच नहीं होता बल्कि लंबे समय का सच होता है। ऐसे में जब कोई समाज अपने मूल्यों, अपनी नैतिकताओं से भटकता है तो साहित्य का दीर्घकालीन सच उसे सही रास्ते पर लाने का प्रयास करता है।

साहित्य, समाज की ज़िम्मेदारियों को भी आगे बढ़कर उठाता रहा है। यदि कोई भी रचना हमारे समाज में मनुष्य की हालत का कोई पहलू, उसके अंतर्विरोध की कोई झलक नहीं दे पाती, तो व्यर्थ है। संस्कृत साहित्य में भी साहित्य के समाज पर प्रभाव के बारे में उल्लेख मिलता है।

आचार्य मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' में काव्य के प्रयोजनार्थ एक श्लोक कहा है—

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे।।*2

डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने कहा है कि 'जिस राष्ट्र को अपनी भाषा और साहित्य पर गर्व नहीं होता, वह सांस्कृतिक रूप से उन्नति नहीं कर सकता। साहित्य मानव समाज की अनुभूतियों, संघर्षों और सांस्कृतिक मूल्यों का दर्पण होता है। इसमें जीवन के सुख-दुख, उत्थान-पतन और भावनात्मक आयामों का चित्रण होता है। यह अनुभवों की अक्षरित थाती है, जो सभ्यता के

विकास का प्रमाण प्रस्तुत करती है।"*3 मुंशी प्रेमचन्द ने साहित्य को 'जीवन की आलोचना' कहा है। "साहित्य जीवन की आलोचना है। चाहे फिर, निबंध के रूप में हो, चाहे कहानियों के या काव्य के— उसे हमारे जीवन की आलोचना और व्याख्या करनी चाहिए।" *4 प्रेमचंद का उपरोक्त कथन साहित्य की सामाजिक और मानवतावादी भूमिका को रेखांकित करता है। यह विचार दर्शाता है कि साहित्य मात्र मनोरंजन का माध्यम नहीं, बल्कि जीवन के विविध पक्षों की आलोचनात्मक समझ और व्याख्या का सशक्त उपकरण है। चाहे वह निबंध हो, कहानी या काव्य—साहित्य का उद्देश्य मानव अनुभव, सामाजिक व्यवहार और सांस्कृतिक मूल्यों की पड़ताल करना है। इस दृष्टि से साहित्य समाज का दर्पण नहीं, बल्कि उसका विवेचक बनता है, जो यथार्थ को विचार और संवेदना के माध्यम से उजागर करता है।

साहित्य में सत्य की साधना है, शिवत्व की कामना है और सौन्दर्य की अभिव्यंजना है। "साहित्य तो एक ऐसा सागर है जिसे सदियों से मनुष्य ने अपने अनुभवों, स्वप्नों, कल्पनाओं, विचारों और हृदय के उद्गारों से भरा है। साहित्य; विज्ञान की तरह मनुष्य के मस्तिष्क की सबसे लाभप्रद उपज है। सामाजिक मनुष्य सोचता है, अपने विचारों, अपने अनुभवों, अपने अन्वेषणों को तरतीब देता है; उनका उपयोग करता है। और इस प्रकार, विज्ञान का जन्म होता है; किन्तु साथ ही वह दुख भी झेलता है, प्रसन्न होता है, पीड़ा से कातर हो उठता है, गर्व से फूल जाता है, ख़ुशी से उनका मन नाच उठता है; साहित्य इन्हीं मनोदशाओं की अभिव्यक्ति करता है। मनुष्य के हृदय और मस्तिष्क में बाह्यजगत के नाना रूपों और कार्यकर्ताओं की जो प्रतिक्रिया होती है उन्हीं की समन्वित एवं कलात्मक व्यक्ति को साहित्य कहते हैं।"*5 शिवदान सिंह चौहान के इस विचार में साहित्य को मानव चेतना की एक समग्र अभिव्यक्ति के रूप में प्रस्तुत किया गया है। उनके अनुसार, साहित्य न केवल मस्तिष्क की बौद्धिक उपज है, बल्कि यह हृदय की भावनात्मक प्रतिक्रियाओं का कलात्मक समन्वय भी है। जैसे विज्ञान विचार और अन्वेषण की परिणति है, वैसे ही साहित्य मानव-मन

की अनुभूतियों, संवेदनाओं और स्वप्नों का सृजनात्मक रूपांतरण है। यह विश्लेषण साहित्य को जीवन की भावनात्मक-आध्यात्मिक प्रक्रिया के रूप में स्थापित करता है, जो समाज और व्यक्ति के गहरे संबंधों की अभिव्यक्ति करता है।

इसमें दो राय नहीं कि मनुष्य के सहज स्वभाव के अनुसार साहित्य भी परिवर्तित होता रहता है। कारण यह है कि साहित्यकार समय की विचारधारा से अछूता नहीं रह सकता। जीवन की तरह साहित्य में भी संघर्ष और निरन्तरता चलती ही है, इसलिए साहित्य समाज का दर्पण कहलाता है और कहलाए भी क्यों न; समय और परिस्थिति का प्रभाव साहित्य पर अनिवार्य रूप से जो पड़ता है। वास्तव में हर देश का साहित्य उस देश की लौकिक सभ्यता एवं संस्कृति, मातृभाषा, लोक गीत, लोक भाषाओं, (जन भाषाओं) तथा तत्कालीन परिस्थितियों (सामाजिक, आर्थिक, नैतिक, राजनीतिक) को भी उजागर करता है। साहित्य एक राष्ट्र की धरोहर है, उसका अभिमान है, गौरव है, पहचान है।

साहित्य का वास्ता काफी हद तक सामाजिक और आर्थिक तथा राजनीतिक संरचनाओं से पड़ता है जिनसे समाजशास्त्र का। लेकिन कलात्मक रचना के रूप में साहित्य वस्तुगत के विश्लेषण से आगे बढ़कर सामाजिक जीवन की गहराई में प्रवेश करता है। इस सम्बन्ध में रिचर्ड होगार्ट *6 का यह कथन स्मरणीय है कि साहित्य की समझ के लिए जिस प्रकार समाज की समझ जरूरी है उसी प्रकार-"पूरे साहित्यिक प्रभाव के अभाव में समाजशास्त्र का विद्यार्थी समाज की पूर्णता से बेखबर रहेगा।

साहित्य के समाजशास्त्र के अन्तर्गत समाज से साहित्य के सम्बन्ध की व्याख्या की दो पद्धतियाँ उल्लेखनीय है। एक पद्धति तो वह है जिसमें समाज को समझने के लिए साहित्य का उपयोग होता है। दूसरी पद्धति वह है जिसमें साहित्य को समझने के लिए खालिस समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण अपनाया जाता है। ऐसे में अच्छे-बुरे, सतही और गम्भीर साहित्य का अन्तर करना मुश्किल हो जाता है और महान साहित्य और लोकप्रिय साहित्य महत्व के साबित होते हैं इनसे अलग दूसरी तरफ वैसे लोग हैं जो साहित्यिक कृतियों के विशिष्ट रूप

की उपेक्षा नहीं करते। वे अन्य बातों के अलावा यह समझने की कोशिश करते हैं कि साहित्य सृजन में समाज की क्या भूमिका होती है और रचना की जड़े समाज में कितनी गहरी हैं और रचना पर युग की प्रभावशाली विचारधारा का प्रभाव कैसा है और कृति की अन्तर्वस्तु और रूप को उसने कहाँ तक प्रभावित किया है।

यह सही है कि साहित्यिक कृति एक सामाजिक उत्पादन है। लेकिन इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि साहित्य की रचना व्यक्ति करता है। इसलिए समाज से साहित्य के सम्बन्ध को समझने के लिए रचनाकार के समाज से सम्बन्ध की समझ भी आवश्यक है। रामविलास शर्मा कहते हैं, "सामान्यतः सामाजिक इतिहास को सांस्कृतिक इतिहास से अलग रखा जाता है, जबकि हमारी संस्कृति हमारे सामाजिक जीवन को प्रभावित करती है। हमारा इतिहासबोध हमारी संस्कृति का महत्त्वपूर्ण अंग है।"*7

उन्नीसवीं शताब्दी में साहित्यिक समाजशास्त्रीय चिन्तन इस विचार पर केंद्रित रहा कि साहित्य समाज की संरचना, गतिशीलता और चेतना का प्रतिबिंब है। यह दृष्टिकोण विधेयवाद (Positivism) से प्रभावित था, जिसके अनुसार साहित्य और समाज के बीच कार्य-कारण संबंध निहित होता है। द्विवेदी युग की आलोचना पद्धतियों में इस प्रभाव को आंशिक रूप से लक्षित किया जा सकता है। मादाम दी स्ताल ने साहित्य की उत्पत्ति में सामाजिक परिवेश की भूमिका और साहित्य द्वारा समाज पर पड़ने वाले प्रभाव की गंभीर विवेचना प्रस्तुत की। उन्होंने साहित्य के जातीय चरित्र और समकालीन राजनीति से उसके अंतर्संबंध को विशेष महत्व दिया। तेन (Taine) ने इस विमर्श को और व्यवस्थित रूप देते हुए साहित्य को सामाजिक ज्ञान का प्रमुख स्रोत माना।

श्रेष्ठ साहित्य न केवल वर्तमान को अभिव्यक्त करता है, अपितु भविष्य की दिशाओं का आभास भी देता है। यह समाज की निष्क्रिय चेतना को जाग्रत कर मानवीय विकल्पों और प्रतिरोध की संभावनाओं को उद्घाटित करता है। कबीर, प्रेमचन्द, रेणु से लेकर टैगोर और शेक्सपियर तक की रचनाएँ इस दृष्टिकोण की पुष्टि करती हैं, जो साहित्य को समाज

परिवर्तन का सशक्त माध्यम मानती हैं। वस्तुतः "यदि कोई भी रचना हमारे समाज में मनुष्य की हालत का कोई पहलू, उसके अंतर्विरोध की कोई झलक नहीं दे पाती, तो व्यर्थ है।"*8

साहित्य जीवन का संश्लिष्ट रूप है, जिसकी उत्पत्ति व्यक्ति और समाज के अनुभव, चेतना तथा कल्पना से होती है। साहित्यकार जीवन की ठोस सामग्री को अपनी संवेदना, दृष्टि और विचारबोध से परखकर उसे कलात्मक एवं बौद्धिक रूप देता है। साहित्य केवल मनोरंजन या आत्माभिव्यक्ति का माध्यम नहीं है, बल्कि वह सामाजिक चेतना का वाहक और परिवर्तन का सशक्त उपकरण भी होता है। इसलिए सच्चा साहित्यकार वह नहीं, जो केवल अपने निजी अनुभवों की निर्बल पुनरावृत्ति कर आत्मकेंद्रित लेखन में लीन हो, बल्कि वह है जो अपने युगबोध और उत्तरदायित्व के प्रति सजग रहते हुए समाज के सत्य को उद्घाटित करे।

राहुल सांकृत्यायन, रामधारी सिंह 'दिनकर', मोहन राकेश और कमलेश्वर जैसे साहित्यकारों ने इसी बोध को आत्मसात करते हुए साहित्य को जनजीवन से जोड़ा। इन्होंने साहित्य को व्यक्ति और समाज के मध्य सेतु के रूप में गढ़ा, जहाँ व्यक्तिगत अनुभूति भी सामाजिक सरोकारों से अनुप्राणित होती है। साहित्यकार की दृष्टि वहाँ पहुँचती है, जहाँ सामान्य चेतना नहीं पहुँच पाती— इसीलिए कहा गया है, "जहाँ न पहुँचे रवि, वहाँ पहुँचे कवि।" साहित्य की सत्ता केवल भाषिक सौंदर्य तक सीमित नहीं, वह सामाजिक संरचना के आर्थिक, राजनैतिक और वैचारिक संदर्भों से भी जुड़ी होती है। वह इन प्रवृत्तियों से प्रभावित होता है और उन्हें प्रभावित भी करता है। साहित्य मानव अनुभव की विलक्षण अभिव्यक्ति है, जो समाज की सुषुप्त चेतना को जाग्रत कर संभावनाओं के द्वार खोलता है। समाज ही वह आधार है, जिस पर साहित्यरूपी भवन की नींव रखी जाती है।

साहित्य सर्वथा देशकालिक होता है— वह अपने समय, समाज और परिस्थितियों की उपज होता है। जिस युग की साहित्यिक और सामाजिक संरचना जैसी होती है, उस युग का साहित्य उसी अनुरूप स्वरूप ग्रहण करता है। साहित्य के स्वरूप को लेकर विद्वानों में दो

प्रवृत्तियाँ देखने को मिलती हैं— एक वर्ग साहित्य को निराशा, पाप, और कष्ट के यथार्थ चित्रण का माध्यम मानता है, जबकि दूसरा वर्ग इसे आशा, पुण्य और सौंदर्य के आदर्शवादी उद्घाटन का क्षेत्र मानता है। किन्तु इन दोनों ध्रुवों को एकीकृत करते हुए छायावाद के पुरोधा जयशंकर प्रसाद ने 'काव्य और कला' में लिखा— "जीवन की अभिव्यक्ति यथार्थवाद है और अभावों की पूर्ति आदर्शवाद। साहित्य की पूर्णता के लिए यथार्थवाद और आदर्शवाद दोनों का समन्वित रूप आवश्यक है।" यह दृष्टिकोण साहित्य को संतुलित और समग्र बनाता है।

वस्तुतः साहित्य का आधार जीवन है— वह जीवन जो व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और संपूर्ण मानवता को अपने भीतर समेटे हुए होता है। साहित्य न तो केवल कटु यथार्थ का प्रतिबिंब है और न ही केवल स्वप्नमय आदर्शों का प्रस्तुतीकरण। यह दोनों के मध्य संवाद स्थापित कर मानव चेतना का संवाहक बनता है। जिस प्रकार जीवन बहुआयामी है, उसी प्रकार साहित्य भी विविध रूपों में उसे अभिव्यक्त करता है। इसीलिए साहित्य के बिना समाज की सांस्कृतिक समृद्धि और विकास की कल्पना अधूरी है। साहित्य वही श्रेष्ठ है जो यथार्थ के धरातल पर खड़े होकर आदर्श की ओर अग्रसर हो।

वैसे तो तथाकथित आध्यात्मिक गतिविधियाँ भी सामाजिक स्थितियों से सीधा संबंध रखती है या कहिए उनका परिणाम है पर लेखन कोई आध्यात्मिक या मोक्ष की तलाश में की जाने वाली एकांतिक तपस्या नहीं बल्कि यह चाहे कितना भी व्यक्तिवादी क्यों न हो अंततः इसमें एक सामाजिक प्राणी के रूप में व्यक्ति और उससे अपने समाज से संबंधों की तलाश होती है। लेखन की सांसरिकता से जो असहमति नजर आती है, वह कुल मिलाकर एक बेहतर नई दुनिया की तलाश ही होती है। वृहत्तर अर्थों में, साहित्य जो है और जो होना चाहिए उसके बीच का पुल है।

इस सब के साथ; संस्कृति किसी समाज की जीवनशैली, मूल्यबोध, परंपराएँ, विश्वास प्रणाली और कलात्मक अभिव्यक्तियों का समुच्चय होती है। यह समाज की आत्मा

है, जो न केवल उसकी पहचान निर्मित करती है, बल्कि साहित्य को भी दिशा प्रदान करती है। संयुक्त राष्ट्र संघ के शैक्षिक एवं सांस्कृतिक संगठन 'यूनेस्को'*9 ने संस्कृति को परिभाषित करते हुए कहा है कि, संस्कृति का अभिप्राय समाज या सामाजिक समूह की आध्यात्मिक, भौतिक, बौद्धिक, भावनात्मक, कला एवं साहित्य की विशिष्टताओं के साथ-साथ मानव जीवन शैली, साथ-साथ रहने के तौर-तरीक़ों, मानवीय मूल्यों, परम्पराओं एवं विश्वासों का भी उसमें समावेश होता है।

साहित्य, संस्कृति का संवेदनात्मक दस्तावेज होता है जो समाज की सांस्कृतिक चेतना को शब्दों में बाँधता है। इस प्रकार, साहित्य, समाज और संस्कृति एक त्रयी के रूप में एक-दूसरे से गहरे स्तर पर जुड़े होते हैं। संस्कृति समाज को उसकी ऐतिहासिक स्मृतियों, नैतिक मानकों और व्यवहार की आचार-संहिताओं से जोड़ती है। यह साहित्यकार को उसके विचार और संवेदनाओं की भूमि प्रदान करती है। कबीर, तुलसी, प्रेमचंद या महादेवी वर्मा जैसे रचनाकारों की साहित्यिक रचनाएँ उनकी समकालीन संस्कृति की जीवंत झलकियाँ हैं। संस्कृति ही वह मूल आधार है जो साहित्य को जनमानस से जोड़ती है और समाज में मूल्यपरक परिवर्तन की भूमिका निभाती है। इस प्रकार, संस्कृति न केवल साहित्य की प्रेरणा है, बल्कि समाज की चेतना को जीवित रखने वाला तत्व भी है। यह साहित्य और समाज के मध्य संवाद का सेतु बनकर दोनों को एक सूत्र में बाँधती है।

अतः साहित्य, संस्कृति तथा समाज के अंतर-संबंधों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि साहित्य, समाज और संस्कृति का संबंध अन्योन्याश्रित है। न तो साहित्य समाज को समझे बगैर कुछ सीख सकता है और ना ही कोई सीख दे सकता है। दूसरी ओर यह भी उतना ही सत्य है कि कोई भी समाज साहित्यविहीन नहीं होता और यह सब मिलकर एक वृहद संस्कृति का निर्माण करते हैं। साहित्य अर्थात रचनात्मकता; मानव प्रकृति का अभिन्न अंग है जो कल्पनाशीलता की सक्रियता के माध्यम से विकास की प्रेरक शक्ति के रूप में विद्यमान नजर आती है। हर बड़ा रचनाकार पूर्ण रूप से संस्कृति और समाज-विशेष की ही

देन होता है और उसी समाज विशेष की भाषा, संस्कृति और परंपरा और इतिहास के दायरे में उसकी रचनात्मकता अभिव्यक्ति पाती है। "वास्तविकता यह है कि समाज यदि उच्चता की ओर बढ़ता है, तो साहित्य भी व्यापक चिंतन से पूर्ण हो जाता है।जब साहित्य व्यापक चिंतन और श्रेष्ठतम विचारों को अभिव्यक्त करता है,तो संस्कृति भी व्यापक हो जाती है। यदि समाज,साहित्य और संस्कृति का अन्तर्सम्बन्ध है। जब-जब ये सकारात्मक चिंतन से पूर्ण होते हैं, तब- तब व्यक्ति और समाज प्रगति के पथ पर चलते हैं और जब भी इनमें तारतम्य नहीं रहता, तब साहित्य और संस्कृति का ह्रास होने के कारण समाज का भी पतन होने लगता है।"*10 इस प्रकार जिस साहित्य का अपने समाज और संस्कृति से जितना आदान-प्रदान होगा व साहित्य उतना ही जीवंत संवेदनशील एवं प्रभावशाली होगा।

संदर्भ :

1. अशोक वाजपेयी, https://satyagrah.scroll.in/topic/2069/कभी-कभार, 27 जून 2021
2. http://sanskritvishvam.in/thoughts/subhashit-17/
3. जैनेन्द्र कुमार साहित्य और संस्कृति पृष्ठ संख्या चार
4. प्रेमचंद : कुछ विचार, डॉ. रामविलास शर्मा, पृष्ठ 6
5. साहित्य की परख, शिवदान सिंह चौहान, पृष्ठ 40
6. Richard Hoggart – Speaking to Each other, Page-20
7. भूमिका, भारतीय संस्कृति और हिन्दी प्रदेश) रामविलास शर्मा
8. 'यदि कोई भी रचना' https://www.youtube.com/watch?v=xeNM3OcdHL8
9. https://unstats.un.org/unsd/statcom/doc10/BG-FCS-E.pdf
10. https://iias.ac.in/hindi/?event=समाजसाहित्य-और-संस्कृति

1.2
साहित्य की विविध विधाएँ

साहित्य मानव जीवन की प्रांजल अभिव्यक्ति के साथ–साथ संप्रेषणीयता का गुण भी अपने अंदर सँजोए रखता है। जिस प्रकार मानव बहुविध है उसी प्रकार साहित्य भी अभिगमित होने के लिए स्वयं को बहुविध करता हुआ विभिन्न विधाओं में प्रस्तुत होता है। यह विविधता ही साहित्य की विभिन्न विधाएँ कहलाती हैं।

विधा का अर्थ है— किस्म, वर्ग, या श्रेणी अर्थात विविध प्रकार की रचनाओं को उनके गुणधर्मों के आधार पर अलग–अलग विभाजित, नामकरण और वर्गीकरण करना। साहित्य में विधा शब्द का प्रयोग एक वर्गकारक के रूप में किया जाता है। विधाओं की कोई निश्चित सीमारेखा तय नहीं की जा सकती। इनकी पहचान वस्तुत: समय के साथ कुछ मान्यताओं के आधार पर निर्मित की जाती है।

संस्कृत साहित्य के आचार्यों ने साहित्य को दो भागों में विभाजित किया था। साहित्यदर्पण के षष्ठ परिच्छेद की पहिली कारिका 'दृश्य श्रव्यत्व भेदेन पुनः काव्यं द्विधा मतम्।' काव्य का दो भाग करती है- दृश्य तथा श्रव्य। इसके अतिरिक्त साहित्याचार्य गम्बिकादत्तजी भी गद्यकाव्य की मीमांसा में अपनी कारिका 'दृश्य श्रव्यमिति द्वेधा तत्काव्यं परिकीर्तितम्।' में उसी का समर्थन करते हैं। दृश्य काव्य में वे नाटकों को रखते थे जो रूपक के अंतर्गत आते हैं। आचार्य विश्वनाथ ने 'साहित्य दर्पण' में दृश्य काव्य के अंतर्गत रूपकों के दस भेद बताए हैं तथा उपरूपकों के अठारह प्रकार बताएं हैं।

इस प्रकार दृश्य काव्य में विभिन्न वर्ग मौजूद थे। दृश्य काव्य संस्कृत साहित्य का महत्वपूर्ण भाग रहा है। इसके अंतर्गत गुरुकुलों में गुरु और शिष्यों के बीच श्रुत परंपरा विद्यमान रही। संस्कृत साहित्य का बड़ा भाग श्रुत परंपरा रही है। दृश्य को गाकर या सुनाकर संप्रेषित किया जाता था। प्रबंध काव्य और मुक्त काव्य आदि इसी के भाग हैं।

हिंदी साहित्य ने अपनी परम्परा को संजोते हुए तथा आधुनिकता के साथ चलते हुए अपनी विधाओं में पर्याप्त विविधता शामिल कर ली है। गद्य विधाओं और पद्य विधाओं के आलावा कई अन्य ऐसी विधाएँ भी शामिल हो रही है जो हिंदी साहित्य के प्रांगण को विस्तृत कर रहीं हैं। आत्मकथा, जीवनी, संस्मरण, रेखाचित्र, डायरी लेखन, रिपोर्ताज, गल्प, पुस्तक समीक्षा, व्यंग, विज्ञानकथा, व्याख्यान, पत्र लेखन, साक्षात्कार, संपादकीय विभिन्न भाषाओं पुस्तकों के अनुवाद आदि ऐसी बहुत विधाएँ नित्यप्रति साहित्य को उत्तरोत्तर समर्थवान बना रही हैं।

हिन्दी की प्रमुख विधाओं के बारे में बात करें तो 'कविता' उसकी सबसे प्राचीन विधा है। कविता; साहित्य की आरम्भिक विधा कविता है। जिसे हम पद्य और काव्य भी कहते हैं। इस साहित्यिक रूप में मानव-मन की आशाओं, आकांक्षाओं को अभिव्यक्त करतें हैं। मनुष्य अपने जीवन के अनुभवों को किसी न किसी रुप में व्यक्त करने की चाह रखता है वो जो कुछ अनुभव करता है उससे उसके मन में अनंत भाव उत्पन्न होते इन्हीं भावों को जब वह रसात्मक रुप से शब्द बद्ध करता तब काव्य की सृष्टि होती है। इस रसात्मक शब्द संयोजन को परिभाषित करते हुए आचार्य विश्वनाथ ने कहा 'वाक्यम रसात्मक काव्यम' अर्थात रसमय शब्द संयोजन काव्य है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल के शब्दों में "जिस प्रकार आत्मा की मुक्तावस्था ज्ञान दशा कहलाती है उसी प्रकार हृदय की मुक्तावस्था रस दशा कहलाती है। हृदय की इस मुक्ति की साधना के लिए मनुष्य की वाणी जो शब्द विधान करती आई है उसे कविता कहते हैं"।*1 शब्द और अर्थ का ऐसा संयोजन जो सहृदय के मन को स्वच्छंदता और आनन्द प्रदान करे वही काव्य है। तत्वों की संरचना में कहे तो वर्ण, शब्द, मात्रा, नाद, रस छंद, अलंकार, बिम्ब, लय, वैयक्तिक सोच, परिवेश परिस्थितियाँ और भाषा आदि के तय नियमों में पदबद्ध रचना कविता कहलाती है।

1.2.i कहानी— कहानी उतनी ही पुरानी है जितना मनुष्य का इतिहास। यह जन–जीवन में सबसे लोकप्रिय विधा है। शुरूआती समय में कहानी का उद्देश्य उपदेश और मनोरंजन ही माना जाता था। आज कहानी का उद्देश्य जन–जीवन की विभिन्न समस्याओं और संवेदनाओं को व्यक्त करना है। कहानी गद्य साहित्य की वह विधा जिसमें मानव जीवन की किसी एक समस्या को पात्रों, संवादों और घटनाक्रम के माध्यम से पूर्ण संवेदना के साथ अभिव्यक्त किया जाता है। मुंशी प्रेमचन्द के शब्दों में कहानी— "कहानी (गल्प) एक रचना, जिसमें जीवन के किसी एक अंग या मनोभाव को प्रदर्शित करना ही लेखक का उद्देश्य रहता है।उसके चरित्र, उसकी शैली तथा कथा विन्यास सब उसी एक भाव को पुष्ट करते हैं"।*2 कहानी कथा तत्व प्रदान रचना है। जिसकी सरंचना में कथानक, चरित्र–चित्रण, संवाद, वातावरण, शैली और उद्देश आदि शामिल है।

1.2

1.2.ii उपन्यास — उपन्यास शब्द 'उप' उपसर्ग और 'न्यास' पद के योग से बना है। जिसका अर्थ है उप का अर्थ 'समीप' और न्यास का अर्थ 'रखना' यानि निकट से देखी हुई घटना या समस्या। अर्थात् वह घटना या समस्या जिसको पढ़ कर पाठक को ऐसा अनुभव हो कि ये तो मेरे आस–पास ही घटित हुई है। डॉ. हरिमोहन ने उपन्यास को उपर्युक्त विशेषता ध्यान में रखकर इस तरह से परिभाषित किया है —"उपन्यास में मानव जीवन अपेक्षाकृत अधिक समीपता से चित्रित होता है —इतना अन्य साहित्यिक विधाओं में नहीं— अत: यह विधा उपन्यास है"।*3 उपन्यास में मानव जीवन के विविध पक्षों का उद्घाटन सत्यता के साथ होता है जिससे पाठक उसकी कथावस्तु और पात्रों से अपना तादात्मीकरण कर सके। कथावस्तु, पात्र, कथोपकथन, देशकाल, भाषा शैली, और उद्देश का संयोजन उसके कलेवर को पूर्णता प्रदान करते है।

1.2.iii नाटक — नाटक एक दृश्य काव्य रुप है, जो सुनकर और पढ़कर ही नहीं बल्कि देखकर भी श्रोताओं, पाठकों और दर्शकों को रसानुभूति और मनोरंजन कराता है। नाटक 'नट' धातु से बना है जिसका अर्थ है– 'सात्विक भावों का अभिनय' । अभिनेता इसका प्रमुख गुण है इसका प्रदर्शन रंगमंच पर होता है। नाटक काल्पनिक और वास्तविक घटनाओं से प्रेरित होता है। । नाटक का संबंध धर्म, संस्कृति, समाज, राजनीति, मनुष्य, देवता, स्त्री, पुरुष, उच्च, मध्य, निम्न, किसी से भी हो सकता है।

आधुनिक हिंदी नाटक के प्रवर्तक भारतेंदु के अनुसार नाटक "काव्य का सर्वगुण सम्पन्न प्रदर्शन ही नाटक है"। बाबू गुलाब राय अपनी 'नाट्य विमर्श' नामक रचना में नाटक को कुछ इस तरह परिभाषित करते हैं— "नाटक का संबंध नट से है, अवस्थाओं की अनुकृति को नाट्य कहते इसी में नाटक शब्द की अधिक सार्थकता है"।*4

नाटक में सम्पूर्ण मानव जीवन का रोचक एवम् कौतुहलपूर्ण वर्णन व प्रदर्शन किया जाता है। यह प्रदर्शन रंगमंच पर कथा के साथ चित्रकला, नृत्य, संगीत, संवादों, दृश्यों, पात्रों, आदि के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। नाटक व्यक्तिगत न होकर सामूहिक कला है, पूरा समूह मिलकर इसके बहुमुखी उद्देश्य की पूर्ति करता है।

1.2.iv एकांकी — एकांकी नाटक का छोटा रुप है। यह एक अंक की विधा है। अंग्रेजी में इसे 'one act Play' है। हिंदी में एकांकी। इसके प्रमुख गुण अभिनेयता और रंगमंचीयता होते हैं। पात्रों की संख्या भी कम होती है। मानव जीवन का कोई एक पहलू ही चित्रित और प्रदर्शित किया जाता है। डॉ. हरिमोहन के शब्दों में एकांकी— "एकांकी में एक अंक, एक घटना, एक कार्य और एक समस्या होती है।... स्थूल दृष्टि से एकांकी नाटक से बहुत लघु और सीमित होती है" ।*5

एकांकीकार डॉ राम कुमार वर्मा के अनुसार— " एकांकी में एक ही घटना होती है और वह घटना नाटकीय कौशल से ही कौतूहल का संचय करती हुई चरम सीमा तक पहुंचती

है। विस्तार के अभाव में प्रत्येक घटना कली की भांति खिल कर पुष्प की भांति विकसित हो उठती है। उसमें लता के सामने फैलने की उच्छृंखलता नहीं होती"। एकांकी का संयोजन नाटक के तत्वों में होता है। एकांकी भी नाटक की तरह मानव जीवन के मर्म का उद्घाटन करने वाली हिंदी साहित्य की प्रमुख विधा है। इसका उद्देश्य एक मात्र मनोरंजन नहीं है बल्कि मानवीय भावभूमि को प्रबलता प्रदान करना है। एकांकी की शैली में संक्षिप्तता और गतिशीलता भी होनी चाहिए है।

1.2.v **निबंध**— 'निबंध' शब्द का अर्थ है, "किसी वस्तु को सम्यक रुप से बांधना"। निबंध उस गद्य रचना को कहते हैं जिसमें किसी विषय का विवेचन-विश्लेषण किया गया हो। निबंध में लेखक उस विषय के बारे में अपने भावों और विचारों को विचारत्मक ढंग से व्यक्त करता है। विषय का अच्छा ज्ञाता ही श्रेष्ठ, संगठित और सुव्यवस्थित निबंध लिख सकता है। साथ ही उसकी भाषा पर भी अच्छी पकड़ होनी चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति की अपनी अभिव्यक्ति क्षमता होती है, इसलिए एक ही विषय पर निबंध अलग अलग तरीके से लिखा जाता है।

किसी एक विषय पर भावों–विचारों को सुंदर, सुव्यवस्थित, सुसंगठित, क्रमबद्ध, और सुबोध भाषा में लिखित रचना को निबंध कहते हैं। आचार्य रामचंद्र शुक्ल के शब्दों में, "निबंध लेखक अपने मन की प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छंद गति से इधर–उधर फूटी हुई सूत्र शाखाओं पर विचरता चलता है। यही उसकी अर्थ सम्बन्धी व्यक्तिगत विशेषता है। अर्थ सम्बन्ध सूत्रों की टेढ़ी–मेढ़ी रेखाएँ ही भिन्न–भिन्न लेखकों के दृष्टि पथ को निर्दिष्ट करती हैं। एक ही बात को भिन्न दृष्टियों से देखना व्यक्तिगत विशेषता का मूल आधार यही है"।*6 निबंध की केन्द्रीय विशेषता व्यक्तित्व का प्रकाशन करना है। निबंध भूमिका, विस्तार और उपसंहार इन तीन तत्वों के संयोजन में सम्पूर्ण होता है।

1.2.vi जीवनी — जीवनी गद्य विधा का साहित्य में विशेष महत्व है। लिटन स्ट्रैची ने जीवनी के बारे में कहा है कि — "जीवनी लेखन–कला का सबसे सुकोमल और सहानुभूतिपूर्ण स्वरूप है"।*7 जीवनी में व्यक्ति विशेष के सम्पूर्ण जीवन यात्रा का विवेचन–विश्लेषण किया जाता है। उसमें न केवल उसका जीवन बल्कि उस व्यक्ति विशेष का 'चरित्र' भी वर्णित होता है। जीवन गौण, चरित्र प्रधान होता है। जीवनी के केंद्र में नायक होता है। जीवनी में 'पर कथा' होती है, जो कि किसी व्यक्ति विशेष पर ही लिखी जाती है।

Encyclopedia Britannica में जीवनी की परिभाषा— "A narrative which seeks consciously and artistically to record the action and re-create the personality of an individual life."*8 अर्थात् जीवनी में नायक के यथार्थ क्रियाकलापों की पृष्ठभूमि और वातावरण के चित्रण के साथ–साथ लेखनी की संयमता, शैलीरस, रोचकता का योग भी अनिवार्य है। जीवनीकार को अपनी कल्पना पर अंकुश लगाना पड़ता है। इतिहास की अपेक्षा जीवनी में केवल एक व्यक्ति की जीवन गाथा वर्णित की जाती है। जीवन का यथातथ्य वर्णन करना ही आत्मकथा है।

जीवनीकार विष्णु प्रभाकर के अनुसार जीवनी— "अनुभवों का श्रृंखलाबद्ध कलात्मक चयन है। इसमें वे ही घटनाएं पिरोई जाती है, जिनमें संवेदना की गहराई हो, भावों को आलोडित करने की शक्ति हो। घटनाओं का चयन लेखक किसी नीति, तर्क या दर्शन से प्रभावित होकर नहीं करता। वह गोताखोर की तरह जीवन सागर में डूब-डूब कर मोती चुनता है। श्रेष्ठ जीवनी लेखक काल, देश, व्यक्ति और घटना की सीमाओं को तोड़ कर अनुभूतियों का सौंदर्य में विक्षेपण करता है। विशुद्ध कला और मानदंडों के बीच संतुलन और सामंजस्य का प्रणयन करता है"।*9 संत-चरित्र, ऐतिहासिक चरित्र, राजनैतिक चरित्र, विदेशीय चरित्र, कलाकार का चरित्र, अन्य सामाजिक चरित्र आदि ही जीवनी के नायक होते है। जीवनी का उद्देश्य नायक को केंद्र में लाना और पाठकों को उसके जीवन चरित्र से प्रेरणा देना है।

1.2.vii संस्मरण — गद्य की नव्य विधाओं में संस्मरण महत्वपूर्ण विधा है। जब अनुभव की तीव्रता, सहजता, गंभीरता और सत्यता से किसी व्यक्ति, घटना, दृश्य और वस्तु का स्मरण कर शब्दबध्द किया जाए तब ऐसी रचना संस्मरण कहलाती है। इसमें व्यक्ति विशेष के जीवन या घटना के पहत्वपूर्ण पक्ष को वर्णित करना लेखक का उद्देश्य रहता है।

महादेवी वर्मा ने संस्मरण को स्पष्टता से परिभाषित किया है—"संस्मरण पुरातत्व का उत्खनन नहीं है, जिसमें आश्चर्यजनक तथा अपरिचित सामग्री मूल्यांकन या अनुमान के लिए प्राप्त होती है। संस्मरण में हम अपनी स्मृति के आधार पर से समय की धूल पोंछ-पोंछ कर उन्हें अपने मनोजगत के निभृत कक्ष में बैठा कर उनके साथ जीवित रहते हैं और अपने आत्मीय संबंधों को पुन: जीवित करते हैं। इस स्मृति मिलन में मानो हमारा मन बार-बार दोहराता है— हमें आज भी तुम्हारा अभाव है। अन्य आत्मपरक विधाओं में वर्तमान अतीत की ओर चलता है, किन्तु संस्मरण में अतीत समय का अंधकार पार कर वर्तमान में लौटता है"। *10 संस्मरण में तथ्यपरकता, संवेदनात्मकता, मार्मिकता, विशिष्टता, स्मृतियां, अंतरंगता आदि तत्वों का सुबोध संयोजन ही इसके कलेवर को पुष्टता प्रदान करता है।

1.2.viii रेखाचित्र— रेखाचित्र जीवनीपरक वर्णनात्मक गद्य विधा है। इस विधा में लेखक अपने शब्द कौशल से किसी एक व्यक्ति, वस्तु और घटना का चित्रण इस ढंग से करता है कि उसकी वाह्य आकृति के साथ–साथ व्यक्ति का आन्तरिक व्यक्तित्व भी आकर पाता है। व्यक्तित्व की विलक्षणता नायक के लिए अपरिहार्य है। ऐसा व्यक्ति जिसकी खूबी लेखक व पाठक वर्ग में संवेदना का संचार कर सके। इसमें कथा की अपेक्षा तथ्यों और घटनाओं का यथार्थ चित्रण का ध्यान भी रखा जाना चाहिए।

रेखाचित्र में विषय की समग्रता न होकर चुने हुए विषय की कुछ ख़ास विशेषताएं शब्दबद्ध की जाती हैं। "रेखाचित्र किसी व्यक्ति, वस्तु, घटना या भाव का कम से कम शब्दों में मर्मस्पर्शी, भावपूर्ण एवम सजीव अंकन है"।*11 रेखाचित्र में सजीवता, संवेदनात्मकता,

मार्मिकता, विशिष्टता, आदि का सुसंगठित संयोजन किया जाना चाहिए। रेखाचित्र में लेखक वर्ण्यविषय या नायक की चारित्रिक गुणों को वर्णित करता है। यह वर्ण्य विषय यथार्थ होना चाहिए तभी पाठक उसमें रुचि लेगा। रेखाचित्र का प्रेरक कोई वास्तविक व्यक्ति होता है, जिसके व्यक्ति त्व और चरित्र का विवेचन-विश्लेषण लेखक करता है। एकात्मकता, संक्षिप्तता, वैयक्तिता, तटस्थता, चित्रात्मकत या बिम्बात्मकता, सरसता, भाषाशैली और उद्देश्य आदि तत्व होते हैं।

1.2.ix आत्मकथा— आत्मकथा में आत्मकथाकार के व्यकित्व का चित्रण होता है इसलिए लेखक आत्मकथा में न केवल अपने जीवन की घटनाओं को बल्कि अपने भावों, विचारों, चिंतन–मनन, स्वाध्याय व दर्शन को भी चित्रित करता है। आत्म विवेचन–विश्लेषण और आत्मनिरीक्षण की प्रक्रिया में वह अपने व्यकित्व को रचना में बुनते समय कुछ घटा–बढ़ा भी सकता है बशर्ते रचना में रोचकता बनी रहे।

आत्मकथा में पूरी ईमानदारी से अपने जीवन को चित्रित करना होता है जो कि कठिन कार्य है। आत्मकथा व्यक्तिपरक है इसी विधा में व्यक्ति का आन्तरिक भाव-जगत उद्घाटित हो सकता है। राहुल सांकृत्यायन के विचार में आत्मकथा— "आत्मकथा या आत्मचरित, जीवनी साहित्य का विकासशील अंग है। यही एक ऐसा माध्यम है जिसमें आत्मकथाकार अपने विषय में एवम् अपने व्यक्तिगत अनुभवों के सम्बन्ध में कहता है"।*12 इसमें व्यक्ति निजी जमीन का बाह्यीकरण करता है यह बाह्यीकरण सुसम्बद्ध , तटस्थ, रोचक, और पूरी ईमानदारी के साथ प्रस्तुत किया जाता है। आत्मविश्लेषण करते समय संसार और अपने संबद्ध में एकाग्र चिंतन करता है। क्योंकि आत्मकथा में जो जीवन जिया है, अनुभव किया है, जो समाज से लिया है, जो समाज में हारे, जो समाज को दिया सबका सिलसिले बार वर्णन किया जाता है। इसमें उपस्थिति व्यक्ति विशेष और जिस परिवेश में वह बना है, उससे समाज की विचारभूमि को भी समझा जा सकता है।

आज साहित्य की विभिन्न विधाएँ अपनी शैली और गठन के विशिष्ट संयोजनों को साथ लेकर चलती हुई सशक्त रूप से उपस्थिति दर्ज करा रही हैं। आत्मकथा एक ऐसी ही विधा है जिसमें न केवल साहित्य की प्रांजलता विद्यमान है, बल्कि जीवन के वास्तविक अनुभवों का सत्व भी मौजूद होता है। साहित्य इसमें रचना करता हुआ आत्मावलोकन करते हुए दुनिया को अपने नज़रिए से देखता है तथा अपने जीवन पर पड़े समय–समाजों के प्रभावों को भी रेखांकित करता है। इस नाते आत्मकथा एक भोगे हुए जीवन का विवेचन और विश्लेषण तो है ही साथ ही जीवन और व्यक्तित्व निर्माण पर बाहरी प्रभाव की तीव्रता और उसके प्रति समुचित प्रतिक्रिया को भी दर्शाता है। आत्मकथा में लेखक वस्तुत: सच्चाई से आत्मनिरीक्षण करता हुआ अपने देशकाल एवं परिवेश से सामंजस्य अथवा संघर्ष के द्वारा स्वयं को विकसित करता है।

संदर्भ :

1. चिंतामणि, भाग-1, आचार्य रामचंद्र शुक्ल ; पृष्ठ 141
2. साहित्यिक विधाएँ : पुनर्विचार ; डॉ हरिमोहन, पृष्ठ 154
3. वही, पृष्ठ 146
4. वही, पृष्ठ 26
5. वही, पृष्ठ 65
6. http://www.sahityalochan.com/2008/09/blog-post_02.html
7. भारतीय साहित्य कोश, डॉ नगेंद्र, पृष्ठ 446
8. Encyclopedia Britannica, vol-3, page no. 636
9. आवारा मसीहा, विष्णु प्रभाकर, पृष्ठ 7-8
10. स्मृति की रेखाएँ, महादेवी वर्मा, पृष्ठ 8
11. हिंदी साहित्य कोश-1, संपा. धीरेंद्र वर्मा, पृष्ठ 731
12. राहुल सांकृत्यायन का वाङ्मय, (सं) कमला सांकृत्यायन, पृष्ठ 1017

1.3

साहित्य में आत्मकथाओं का महत्व

साहित्य और कलाएँ मनुष्य की आदिम सहचर हैं। इनको पता है कि मनुष्य की आदिम स्थिति क्या थी और हजारों वर्षों बाद अब उसकी दशा और दिशा क्या है? यह एक ऐसी यात्रा है जिसमें यह शिनाख्त संभव है कि समूची मानव जाति के प्रयासों, आलंबनों, आकर्षणों और सरोकारों में कितना और कैसा बदलाव आया है! अपनी इसी शिनाख्त के कारण साहित्य सदियों से मानवीयता का सचेतक रहा है। गद्य हो या पद्य या कि फिर कोई गद्य–पद्य मिश्रित कोई संरचना— सभी में साहित्य ने अपने सरोकारी पतवार को कभी नहीं छोड़ा।

हिन्दी साहित्येतिहास के निर्माण में आत्मकथा-साहित्य का स्थान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। जब हम आत्मकथाओं को केवल व्यक्ति विशेष की जीवनगाथा मानकर देखना छोड़ते हैं और उन्हें साहित्यिक व ऐतिहासिक दस्तावेज की दृष्टि से परखते हैं, तब उनका महत्व और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है। आत्मकथाएँ उस युग, समाज और साहित्यिक परिवेश की जीवंत गवाही बनकर सामने आती हैं, जिससे साहित्य का इतिहास निर्मित होता है। साहित्येतिहास लेखन के लिए जिन मूल स्रोतों की आवश्यकता होती है, आत्मकथाएँ उनमें प्रमुख स्थान रखती हैं। आत्मकथा में यदि लेखक ने अपने जन्म, रचनाकाल, स्थान, साहित्यिक प्रवृत्ति या अन्य महत्वपूर्ण प्रसंगों का विवरण दिया है, तो यह सामग्री इतिहासकार के लिए अमूल्य प्रमाण बन जाती है। इससे वह लेखक के युग और रचनाशीलता को ऐतिहासिक क्रम में व्यवस्थित कर सकता है।

प्राचीन साहित्य में 'बीतक' साहित्य तथा ‘वार्ताएँ’ भी इसी आत्मकथात्मक परंपरा की सहायक विधाएँ रही हैं, जिन्होंने अतीत के प्रसंगों को संरक्षित किया। इनसे साहित्य के सांस्कृतिक और सामाजिक पक्षों की भी झलक मिलती है। इस प्रकार आत्मकथा साहित्य

केवल आत्मकथ्य नहीं, बल्कि साहित्येतिहास का एक प्रामाणिक स्तम्भ है, जिसके माध्यम से नव्य तथ्यों और ऐतिहासिक साक्ष्यों का समावेश संभव होता है।

आज साहित्य की विभिन्न विधाएँ अपनी शैली और गठन के विशिष्ट संयोजनों को साथ लेकर चलती हुई सशक्त रूप से उपस्थिति दर्ज करा रही हैं। आत्मकथा एक ऐसी ही विधा है जिसमें न केवल साहित्य की प्रांजलता विद्यमान है, बल्कि जीवन के वास्तविक अनुभवों का सत्व भी मौजूद होता है। साहित्य इसमें रचना करता हुआ आत्मावलोकन करते हुए दुनिया को अपने नज़रिए से देखता है तथा अपने जीवन पर पड़े समय–समाजों के प्रभावों को भी रेखांकित करता है। इस नाते आत्मकथा एक भोगे हुए जीवन का विवेचन और विश्लेषण तो है ही साथ ही जीवन और व्यक्तित्व निर्माण पर बाहरी प्रभाव की तीव्रता और उसके प्रति समुचित प्रतिक्रिया को भी दर्शाता है। आत्मकथा में लेखक वस्तुत: सच्चाई से आत्मनिरीक्षण करता हुआ अपने देशकाल एवं परिवेश से सामंजस्य अथवा संघर्ष के द्वारा स्वयं को विकसित करता है।

पारिभाषिक तौर पर देखा जाए तो आत्मकथा का शाब्दिक अर्थ— 'आत्मकथा' मूलत: अंग्रजी शब्द Autobiography से बना है जिसके लिए संस्कृत में 'आत्मवृतकथनम' और 'आत्मचरितम' शब्द मिलते हैं। 'ऑटोबायोगाफी' के लिए हिंदी में आत्मकथा, आत्मजीवनी, आत्मव्रतांत, आत्मचरित, आत्मगागाथा, आपबीती, आत्मचरित्र, मेरीकाहनी आदि अनेक शब्द प्रयोग किए जाते हैं। डॉ. नगेंद्र ने आत्मकथा को इस प्रकार परिभाषित किया है, 'आत्मकथाकार अपने संबंध में किसी मिथक की रचना नहीं करता, कोई स्वप्न सृष्टि नहीं रचता वरन अपने गत जीवन के खट्टे–मीठे, उजाले–अंधेरे, प्रसन्न विपदन, साधरण–असाधारण संचरण पर मुड़कर एक दृष्टि डालता है, अतीत को पुन: कुछ क्षणों के लिए स्मृति में जी लेता है और अपने वर्तमान और अतीत के मध्य सूत्रों का अन्वेषण करता है'*1

उपन्यास, कहानी आदि में जहां मानव जीवन का विवेचन परोक्ष व काल्पनिक शैली से देखने को मिलता है वहीं आत्मकथा में जीवन की व्याख्या प्रत्यक्ष और यर्थाथ रूप में प्रस्तुत की जाती है। आत्मकथा दूसरों के द्वारा जीवन सत्यों का चित्रण न होकर स्वयं का स्वयं द्वारा जिए भोगे यर्थाथ को चित्रित किया जाता है। जब व्यक्ति अपने जीवन का विवेचन–विश्लेषण पूर्ण तटस्थता के साथ वक्त करता है तब वह रचना आत्मकथा कहलाती है।

आत्मकथाएँ किसी लेखक के संपूर्ण जीवन, उनके साहित्यिक विकास और वैचारिक दिशा को समझने की एक प्रमाणिक कुंजी प्रदान करती हैं। इन आत्मकथाओं के माध्यम से लेखक के निजी अनुभवों, संघर्षों और विचारधाराओं का ऐसा अंतरंग रूप सामने आता है, जो अन्य स्रोतों से संभव नहीं होता। यदि लेखक द्वारा आत्मकथा में प्रतिपादित नीतियों और साहित्यिक दृष्टिकोणों की उसकी रचनात्मक अभिव्यक्तियों से तुलना की जाए, तो उसके रचनात्मक व्यक्तित्व का एक सुसंगत और समग्र मूल्यांकन किया जा सकता है।

आत्मकथाओं के महत्व को इंगित करते हुए पोद्दारी रामावतार ‘अरुण' कहते हैं कि “आत्मकथा व्यक्ति के संघर्षमय जीवन का वह सत्यांकित इतिहास है, जो स्वयं मेघ की तरह उमड़कर बरस जाता है-जो स्वयं फूल की तरह खिलकर झड़ जाता है।”*2 आत्मकथा को लेकर पोद्दारी रामावतार 'अरुण' का यह कथन आत्मकथा की आत्मिक और भावनात्मक प्रकृति को अत्यंत सजीव ढंग से उद्घाटित करता है। यह कथन दर्शाता है कि आत्मकथा मात्र जीवन घटनाओं का विवरण नहीं, बल्कि वह संवेदनात्मक सत्य है जो लेखक के अंतर्मन से स्वतः प्रस्फुटित होता है।

आत्मकथा में व्यक्ति अपने जीवन के संघर्ष, अनुभूति, पीड़ा, उल्लास और आत्मचेतना को इस प्रकार अभिव्यक्त करता है, जैसे आकाश में घिरा हुआ बादल बरस कर मन को शीतल कर देता है, या फूल अपनी आभा बिखेरकर मुरझा जाता है। यह विधा न तो कल्पना पर टिकी होती है, न ही बनावट पर, बल्कि यह लेखक की गहराई से उपजी

स्वाभाविक अभिव्यक्ति होती है। आत्मकथा का मूल्य इसी में निहित है कि यह लेखक के जीवन के भीतर छिपे यथार्थ को ईमानदारी के साथ पाठकों के सामने प्रस्तुत करती है। यह न केवल आत्म-प्रकाशन का माध्यम है, बल्कि आत्म मूल्यांकन और आत्मबोध की दिशा में भी एक महत्त्वपूर्ण साहित्यिक प्रयत्न होती है।

डॉ चम्पा श्रीवास्तव कहती हैं "आत्मकथाओं के आलोक में ही सम्बन्धित आत्मकथाकार के साहित्यिक व्यक्तित्व का, उसके विकासक्रम का तथा उसके जीवन सर्वस्व का प्रामाणिक परिचय प्राप्त किया जा सकता है। यदि आत्मकथाओं में घोषित नीतियों और साहित्यिक सिद्धान्तों को उनकी रचनाओं में घटित करके उनका पूर्वापर सापेक्ष और व्यावहारिक अध्ययन किया जाये तो उससे विभिन्न साहित्यकारों के व्यक्तित्व और कृतित्व का एक नया परिप्रेक्ष्य उद्घाटित किया जा सकता है। कहने का आशय यह है कि इन साहित्यकारों की कथनी और करनी का तुलनात्मक विवेचन किया जा सकता है। अभी तक साहित्यकारों की आत्मकथाएँ प्रचार और प्रसार के अभाव में दबी सी थीं, उन्हें खोज निकालने का श्रम ही नहीं किया गया था।"*3 यह प्रक्रिया लेखक की 'कथनी' और 'करनी' के बीच संबंध को उजागर करती है तथा एक तुलनात्मक आलोचनात्मक दृष्टिकोण को जन्म देती है। विडंबना यह रही है कि अब तक हिन्दी साहित्य में आत्मकथात्मक साहित्य को अपेक्षित गंभीरता से न देखा गया, न ही इन रचनाओं को सामने लाने का विशेष प्रयास किया गया। अनेक मूल्यवान आत्मकथाएँ केवल उपेक्षा और प्रचार के अभाव में गुमनाम पड़ी रहीं। अतः यह आवश्यक है कि आत्मकथाओं को केवल आत्मवृत्तांत न मानकर एक विश्लेषणात्मक स्रोत के रूप में ग्रहण किया जाए, जिससे लेखक की वैचारिक यात्रा और साहित्यिक संकल्पनाओं की गहराई को समझा जा सके।

गुलाबराय आत्मकथा के महत्व को रेखांकित करते हुए इसे आत्मबोध और आत्मविस्तार की श्रेष्ठतम विधा मानते हैं। उनके अनुसार, व्यक्ति जितना अपने बारे में जान सकता है, उतना कोई अन्य—even लाख प्रयत्न करने पर भी—नहीं जान सकता।

आत्मकथाओं के महत्व को इंगित करते हुए गुलाबराय कहते हैं कि "आत्मकथा लेखक जितना अपने बारे में जान सकता है, उतना लाख प्रयत्न करने पर भी कोई दूसरा नहीं जान सकता, किन्तु इसमें कहीं तो स्वाभाविक आत्मश्लाघा की प्रवृत्ति बाधक होती है और किसी के साथ शील संकोच आत्मप्रकाश में रुकावट डालता है। यद्यपि सत्य के आदर्श से तो दोनों ही प्रवृत्तियाँ निन्द्रय हैं तथापि गुलाबराय आवश्यक आत्मविस्तार कुछ अधिक वांछनीय है।" *4 आत्मकथा लेखक के पास अपनी अंतरात्मा, अनुभवों और भावनात्मक यात्रा की वह गहराई होती है जिसे वह स्वयं ही उद्घाटित कर सकता है। यही आत्मकथा की मौलिक विशेषता है—उसका आत्मसाक्षात्कारमूलक स्वर।

परन्तु गुलाबराय यह भी स्वीकार करते हैं कि आत्मकथा लेखन में दो प्रवृत्तियाँ लेखक के सत्य से साक्षात्कार में बाधा बनती हैं—एक, स्वाभाविक आत्मश्लाघा और दूसरी, संकोचवश आत्मप्रकाश से बचना। आत्मश्लाघा लेखक को अति-प्रशंसा की ओर ले जा सकती है, जबकि संकोच उसे अपने जीवन के सत्य को पूरी तरह खोलने से रोकता है। दोनों ही प्रवृत्तियाँ आत्मकथा की प्रामाणिकता के लिए संकट पैदा कर सकती हैं।

फिर भी गुलाबराय यह मानते हैं कि आत्मविस्तार—अर्थात लेखक का अपने अनुभवों, भावनाओं और विचारों को व्यापक रूप में व्यक्त करना—वांछनीय है। यही आत्मविस्तार आत्मकथा को केवल आत्मकथ्य नहीं, बल्कि एक गहन साहित्यिक विधा में परिवर्तित करता है, जो पाठक को न केवल लेखक से जोड़ती है, बल्कि उसके अनुभवों में अपने जीवन का प्रतिबिंब भी देखने देती है।

आत्मकथा में आत्मकथाकार के व्यक्तित्व का चित्रण होता है इसलिए लेखक आत्मकथा में न केवल अपने जीवन की घटनाओं को बल्कि अपने भावों, विचारों, चिंतन–मनन, स्वाध्याय व दर्शन को भी चित्रित करता है। आत्म विवेचन–विश्लेषण और आत्मनिरीक्षण की प्रक्रिया में वह अपने व्यक्तित्व को रचना में बुनते समय कुछ घटा–बढ़ा भी सकता है बशर्ते रचना में रोचकता बनी रहे।

आत्मकथा लिखते समय लेखक को केवल अपनी नहीं, दूसरों की निजता और प्रतिष्ठा की भी चिंता करनी पड़ती है—और यही आत्मकथा को एक सहज विधा न बनाकर, साहस, ईमानदारी और संवेदनशीलता का परीक्षण-क्षेत्र बना देती है। आत्मकथाकार हरिवंशराय बच्चन ने स्वीकार किया है कि "आत्मकथा लिखना बहुत कठिन काम है, क्योंकि जिनके बारे में आप लिखते हैं, वे लोग अपनी जो शक्ल बनाये हुए हैं, उससे अलग शक्ल नहीं चाहते हैं और बिना दूसरों के बारे में कहे हुए, अपने बारे में आप कह भी नहीं सकते।"*5 यह कथन दर्शाता है कि आत्मकथा केवल आत्मकथ्य नहीं होती, वह सामाजिक संबंधों, स्मृतियों और पारस्परिक अनुभवों की ऐसी संरचना होती है, जिसमें लेखक अकेला नहीं होता —वह अनेक चेहरों, प्रसंगों और संदर्भों से घिरा होता है।

लेखक जब अपने जीवन की सच्चाइयाँ लिखने बैठता है, तो वह केवल अपने अनुभवों को नहीं, बल्कि उन सभी लोगों को भी शब्द देता है, जो उसके जीवन से जुड़े रहे हैं। परंतु समस्या तब उत्पन्न होती है जब ये अन्य व्यक्ति अपनी सार्वजनिक 'छवि' को सुरक्षित रखना चाहते हैं, जबकि लेखक का उद्देश्य यथार्थ का अनावरण होता है। आत्मकथा तब तक संपूर्ण नहीं हो सकती, जब तक लेखक दूसरों के साथ अपने संबंधों को ईमानदारी से उजागर न करे। लेकिन ऐसा करना सामाजिक व नैतिक दबावों के कारण कठिन हो जाता है।

कोई भी व्यक्ति अपनी आत्मकथा इसी विश्वास को लेकर लिखता है कि उसके व्यक्तित्व में जन – मानस रुचि लेगा। यदि लोगों ने किसी महान व्यक्ति, नेता, कवि, कथाकार के व्यक्तित्व और जीवनादर्श में रुचि ली है तो निश्चित ही वे उनके जीवन को भी जानना चाहते हैं। यह रुचि सिर्फ मनोरंजन और कौतूहल को शांत करने के लिए नहीं होती बल्कि आत्मकथा के द्वारा व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन पर प्रकाश डालकर अपने व्यक्तित्व में कुछ सकारात्मक बदलाव लाने की चाह रखती है।

आत्मकथा का कलेवर व्यापक और बहुमुखी होता है। आत्मकथा व्यक्ति विशेष के जीवन, व्यक्तित्व , चरित्र तथा संघर्षों के लेखा– जोखा के साथ–साथ पूरे युग की झलक भी

प्रस्तुत करती है। इसमें सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और साहित्यिक गतिविधियों को देखा व समझा जा सकता या कहें कि आत्मकथा स्वलिखित इतिहास है जिसके माध्यम से हम अतीत और वर्तमान के अंतर्संबंध को समझ सकते हैं। राम अवतार अरुण के शब्दों में आत्मकथा "व्यक्ति के संघर्ष का सत्यांकित इतिहास" आत्मकथा के माध्यम से हम तत्कालीन युग की परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में जाकर आत्मकथाकार के जीवन की घटनाओं और संघर्षों के बीच से उभरे उसके व्यक्तित्व का आकलन तो कर ही सकते हैं, साथ ही समाज के मूल्य, प्रतिमान और संस्कृति भी जान सकते हैं।

इसमें व्यक्ति निजी जमीन का बाह्यकरण करता है यह बाह्यकरण सुसम्बद्ध, तटस्थ, रोचक, और पूरी ईमानदारी के साथ प्रस्तुत किया जाता है। आत्मविश्लेषण करते समय संसार और अपने संबद्ध में एकाग्र चिंतन करता है। क्योंकि आत्मकथा में जो जीवन जिया है, अनुभव किया है, जो समाज से लिया है, जो समाज में हारे, जो समाज को दिया, सबका सिलसिले बार वर्णन किया जाता है। इसमें उपस्थिति व्यक्ति विशेष और जिस परिवेश में वह बना है, उससे समाज की विचारभूमि को भी समझा जा सकता है।

हिंदी साहित्य की आधुनिक नव्य गद्य विधाओं में 'आत्मकथा' गद्य की प्रमुख विधा है। तात्विक विवेचन और यथार्थ की अभिव्यक्ति होने के कारण अन्य विधाओं से अधिक पुष्ट एवम् प्रामाणिक रचना है। स्वयं के जीवन की क्रमबद्ध और सुगठित विवेचन आत्मकथा को जन्मदेता है। इसमें लेखक अपने गुण–दोषों और सबलताओं–दुर्बलताओं का विवेचन–विश्लेष्ण निष्पक्ष होकर करता है। दूसरे शब्दों में कह सकतें हैं कि व्यक्ति विशेष के जीवन की घटनाओं का वे चाहे सुख-दुखात्मक कैसी भी हैं, जब स्वयं के द्वारा पूर्ण तटस्थता के साथ यथार्थ चित्रण किया जाता है तब वह रचना आत्मकथा कहलाती है। आत्मकथा मोटे तौर पर दो रूपों में लिखी जाती है—

1. स्मृति के आधार पर अपनी कथा का सिंहावलोकन करना।

2. स्फुट निबंधों के रूप में निज वृतांत प्रस्तुत करना।

आत्मकथा में प्रमुख रूप से पांच तत्व माने गए हैं—

i.आत्म — 'आत्म' यानी लेखक, स्वयं जो लिख रहा है।

ii.कथा — कथा विशिष्ट और व्याख्या सापेक्ष हो। इसमें ही लेखक अपने जीवन का आत्मनिरीक्षण–विश्लेषण कर पूरी ईमानदारी और रोचकता के साथ जीवनसत्यों को स्मृतियों के आधार पर पुनर्गठित करता है।

iii.परिवेश— 'परिवेश' तत्कालीन युग की सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, आर्थिक और साहित्यिक परिस्थितियों की पृष्ठभूमि जिसमें आत्मकथाकार जीवन की घटनाओं और संघर्षों के बीच से उभरकर व्यक्तित्व का निर्माण करता है।

iv.भाषा — भाषा शुद्ध, सरल, स्पष्ट, परिष्कृत ओर परिमार्जित तो हो ही साथ ही भाव व विषय के अनुकूल होनी चाहिए। पात्रों तथा परिवेश की अनुरूपता को ध्यान में रखना चाहिए। आत्मकथाकार को अपने सम्पूर्ण जीवन का उद्घाटन इस प्रकार करना चाहिए जिससे रचना में भावों व विचारों का अनावश्यक। विस्तार न हो, रोचकता और ग्रह्यता बनी रहे।

v.उद्देश्य— आत्मकथा लेखन का उद्देश्य अन्य विधाओं की अपेक्षा थोड़ा सा भिन्न है। आत्मनिर्माण, आत्मपरीक्षण, अतीत की स्मृतियों को पुनर्जीवित करने का मोह या जटिल विश्व की उलझनों में स्वयं का अन्वेषण करने का साहित्यिक प्रयास आदि आत्मकथा के उद्देश्य होते हैं। आत्मकथाकार आप बीती को व्यक्त करता है ताकि पाठक इससे प्रेरणा ग्रहण कर अपने जीवन को सार्थक बनाएं।

साथ ही, आत्मकथा के प्रमुख रूप से चार वर्ग होते हैं—

i. सामाजिक चरित्र प्रधान आत्मकथाएँ

ii. राजनीतिक चरित्र प्रधान आत्मकथाएँ

iii. धार्मिक चरित्र प्रधान आत्मकथाएँ

iv. कलाकार के चरित्र प्रधान आत्मकथाएँ

इस प्रकार आत्मकथा की प्रमुख विशेषताएँ तय की जा सकती हैं-

- आत्मकथा में आत्मकथाकार के अपने जीवन की घटनाओं और प्रसंगों का विवरण होता।
- लेखक पूरी ईमानदारी से अपने जीवन की सबलाताओं और दुर्बलताओं का उद्घाटन करता है।
- आत्मकथा में लेखक के सम्पूर्ण जीवन के साथ-साथ उसका परिवेश भी चित्रित होता है।
- आत्मकथा में विषयनुकूलता, रोचकता, क्रमबद्धता, स्पष्टता, सत्यता, तटस्थता और प्रभावोत्पादकता आदि प्रमुख रूप से होते हैं।
- आत्मकथा की उपादेयता और प्रासंगिकता अनन्तकाल तक रहती है।

वस्तुतः आत्मकथा अपने जीवन और मस्तिष्क का विश्लेषण करने के साथ ही जीवन और संसार को समझने का प्रयत्न भी है। आत्मकथाकार अपने जीवन के अनेक विवरणों या आंतरिक जीवन का वर्णन कर, आत्मकथा के माध्यम से पाठकों से निकटता स्थापित करता है। इस विश्वास के साथ कि पाठक पढ़ कर उसके जीवन का अवलोकन कर अपने जीवन को बेहतर बना सके।

आत्मकथा साहित्य की वह विधा है, जो व्यक्ति के निजी जीवन, उसके अनुभवों और उसकी चेतना का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करती है। इसे स्वयं लेखक द्वारा लिखा गया ऐसा जीवन-वृत्तांत माना जाता है, जो आत्मनिवेदन के साथ-साथ आत्मबोध और आत्मपरीक्षण का माध्यम भी बनता है। यह केवल घटनाओं का विवरण मात्र नहीं होती, बल्कि जीवन की अंतरंग अनुभूतियों, मानसिक द्वंद्वों, विश्वासों, विफलताओं और विकासक्रम का गहन अभिलेख होती है।

संस्कृत परंपरा में आत्मकथा को 'स्वयं के विषय में कही गई कथा' कहा गया है, जो इस विधा के आत्मीय स्वरूप की पुष्टि करता है। अंग्रेज़ी में इसे "the story of one's life

written by himself or herself" के रूप में परिभाषित किया गया है, जिससे स्पष्ट होता है कि आत्मकथा न केवल आत्मकथ्य है, बल्कि आत्मान्वेषण की प्रक्रिया भी है। यह व्यक्ति की उस अंतर्धारा को व्यक्त करती है, जो बाह्य जीवन से अधिक गहन, संवेदनशील और बौद्धिक होती है।

इस विधा का प्रमुख आकर्षण यह है कि इसमें लेखक स्वयं को पूर्णतः खोल देता है —अपने उजले और धूमिल दोनों पक्षों को सामने लाता है। वह अपने अतीत के साथ संवाद करता है, वर्तमान से उसका संबंध खोजता है और भविष्य के लिए आत्म-चेतना का मार्ग प्रशस्त करता है। आत्मकथा में आत्मस्वीकृति और आत्मसमीक्षा की प्रवृत्ति एक साथ चलती हैं, जिससे यह विधा ईमानदारी और साहस की मांग करती है।

आत्मकथा का महत्व केवल लेखक के जीवन की पुनर्रचना तक सीमित नहीं रहता, बल्कि वह समय, समाज और संस्कृति की गहन अभिव्यक्ति भी बन जाती है। उसमें व्यक्ति के मानसिक और आध्यात्मिक विश्वासों के साथ-साथ समाज की रूढ़ियों, संघर्षों और परिवर्तनों की झलक भी मिलती है। यही कारण है कि आत्मकथा व्यक्ति-केन्द्रित होते हुए भी वस्तु-केन्द्रित हो जाती है, और उसमें सामाजिक यथार्थ का भी दस्तावेज बन जाने की क्षमता होती है।

आत्मकथा में आत्मश्लाघा की प्रवृत्ति स्वाभाविक हो सकती है, परन्तु जब वह आत्मबोध और जीवन की गहरी सच्चाइयों से जुड़ जाती है, तब वह साहित्यिक दृष्टि से मूल्यवान बन जाती है। आत्मकथा लेखक को स्वयं के भीतर झाँकने और अपने अनुभवों को पाठकों के सामने सच्चाई से रखने का अवसर देती है, जो न केवल व्यक्तिगत ईमानदारी का प्रमाण होती है, बल्कि साहित्य में एक जीवंत संवाद की भी शुरुआत बनती है।

यह विधा एक ओर जीवन के व्यक्तिगत पक्ष को उद्घाटित करती है, तो दूसरी ओर पाठकों को यह अवसर देती है कि वे उसमें अपने जीवन की झलक देख सकें। जब एक व्यक्ति अपने जीवन के प्रसंगों, असमंजसों और निर्णयों को साझा करता है, तो वे प्रसंग

पाठकों के लिए अनुभव-संवाद का माध्यम बन जाते हैं। आत्मकथा इसीलिए आदर्श की स्थापना नहीं, यथार्थ की स्वीकृति और उससे जूझने की प्रक्रिया है।

वस्तुतः आत्मकथा साहित्य की एक ऐसी विधा है, जो व्यक्ति की निजता को सार्वजनीन अनुभव में रूपांतरित करती है। उसमें न केवल आत्मदर्शन की गहराई होती है, बल्कि समय, समाज और संस्कृति की धड़कनें भी दर्ज होती हैं। इसलिए साहित्य में आत्मकथा का महत्व केवल आत्मकथ्य में नहीं, बल्कि आत्म-चेतना और सामाजिक संवाद के मध्य पुल बनने की उसकी विलक्षण क्षमता में निहित है।

संदर्भ :

1. डॉ नगेंद्र, आस्था के चरण, पृष्ठ 202
2. डॉ चम्पा श्रीवास्तव, हिंदी का आत्मकथात्मक साहित्य, पृष्ठ 192
3. वही, फ़्लैप से
4. वही, पृष्ठ 207
5. वही, पृष्ठ 69

अध्याय : 2

आत्मकथाएँ और हिंदी साहित्य

2.1— हिन्दी आत्मकथा साहित्य का विकास

2.2— हिंदी की प्रमुख आत्मकथाएँ

2.3—हिंदी की प्रमुख स्त्री-आत्मकथाएँ

2.1

हिन्दी आत्मकथा साहित्य का विकास

हिन्दी साहित्य में आत्मकथा की विधा का उद्भव कब हुआ! यह प्रश्न अभी तक आलोचकों और साहित्य-इतिहासकारों के लिए जटिल बना हुआ है। इससे भी पहले एक यक्ष प्रश्न ये भी कि हिंदी में आत्मकथा की परम्परा की उपस्थिति कितनी है! इस विषय में पंकज चतुर्वेदी का विचार है कि, "हिंदी साहित्य में आत्मकथा-लेखन की न तो समृद्ध परंपरा है और न मज़बूत वर्तमान। उल्टे इसका आश्चर्यजनक अभाव है। मग़र जब हम इस अभाव के सांस्कृतिक कारणों में जाते हैं, तो आश्चर्य नहीं भी होता है।"*1 पंकज चतुर्वेदी का उपरोक्त कथन वस्तुतः हिंदी आत्मकथा साहित्य की विडंबनात्मक स्थिति को रेखांकित करता है। आत्मकथा, जो पश्चिमी साहित्य में एक सशक्त विधा रही है, हिंदी में अपेक्षाकृत सीमित और विलंबित रही है। इसका कारण मात्र साहित्यिक उदासीनता नहीं, बल्कि भारतीय समाज की सामूहिकता-प्रधान दृष्टि, निजता के प्रति आग्रह और 'मैं' के उद्घाटन से संकोच रहा है। हिंदी समाज आत्मप्रशंसा को वर्जित मानता रहा है, जिससे आत्मकथ्यात्मक अभिव्यक्ति को संकोच मिला। जब हम इन सांस्कृतिक कारकों को समझते हैं, तो आत्मकथा की अल्पता चौंकाती नहीं, बल्कि सामाजिक संरचना का स्वाभाविक परिणाम प्रतीत होती है।

किंतु फिर भी, हिंदी आत्मकथा की विधा का उद्भव के विषय में भिन्न-भिन्न विद्वानों की राय देखने को मिलती है। फिर भी डॉ. नगेन्द्र, डॉ. हरदयाल और डॉ. बनारसीदास चतुर्वेदी जैसे प्रमुख आलोचकों ने सर्वप्रथम आत्मकथात्मक रचना के रूप में 'बनारसीदास जैन' कृत 'अर्द्धकथानक' को मान्यता दी है।

'अर्द्धकथानक' की रचना तो 1641 ई. में हुई लेकिन इसका प्रकाशन 1943 में नाथूराम प्रेमी द्वारा किया गया। 'अर्द्धकथानक' हिन्दी साहित्य की पहली आत्मकथात्मक

रचना मानी जाती है, जिसमें लेखक ने आत्मकथा लेखन में आवश्यक निष्पक्षता और आत्मालोचन की चेतना का परिचय दिया है। यह रचना पद्यात्मक शैली में है और लेखक ने अपने जीवन की सफलताओं के साथ-साथ असफलताओं, सामाजिक व्यवहारों और निजी दोषों को भी अत्यंत ईमानदारी से प्रस्तुत किया है।

बनारसीदास ने लिखा है कि वे अपनी कथा 'मध्यदेश की बोली' में कहेंगे, जिससे यह भी स्पष्ट होता है कि वे आमजन की भाषा में लिखने के पक्षधर थे। डॉ. रवीन्द्र कुमार जैन के अनुसार— "ऐतहासिकता, सरलता, जीवन घटनाओं का यथावत निरूपण संक्षेपण-संक्षिप्तता आदि आत्मकथा की कसौटी पर यह जीवनवृत्त पूर्णरूपेण खरा उतरा है। हिंदी में ही नहीं, सम्पूर्ण भारतीय भाषाओं में यह सर्वप्रथम और अनुपम पद्यात्मक आत्मकथा है।"*2

ब्रज में पद्यात्मक रूप से लिखी इस आत्मकथात्मक कृति को यदि एक तरफ़ रखते हैं तो आत्मचरित्र लिखने की परम्परा का विकास वस्तुतः आधुनिक युग में ही हुआ है। आधुनिक काल वस्तुतः बीजारोपण काल माना जा सकता है, जहाँ — आदर्शात्मक, उपदेशात्मक, सूचनात्मक प्रवृत्तियाँ ही प्रधान दिखायी पड़ती हैं। इस समय को वस्तुतः 'स्वतंत्रता-पूर्व हिंदी आत्मकथा' के अंतर्गत विचारित किया ज़ा सकता है। आत्मकथाओं के इस बनते हुए अनिर्दिष्ट स्वरूप काल में आत्मकथाकारों की विभिन्न श्रेणियाँ दृष्टिगोचर होती है—

2.1.i स्वतंत्रता-पूर्व हिंदी आत्मकथा साहित्य —

- धार्मिक और समाज सुधार के दृष्टिकोण आधारित आत्मकथाकार
- राजनेता वर्ग आधारित आत्मकथाकार
- स्वतंत्रता सेनानी आधारित आत्मकथाकार
- साहित्यिक दृष्टिकोण आधारित आत्मकथाकार

धार्मिक दृष्टिकोण आधारित आत्मकथाकारों की बात करें तो स्वामी दयानन्द लिखित 'जीवनचरित्र' प्रमुख है। स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा रचित 'जीवनचरित्र' हिन्दी आत्मकथा साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी के रूप में स्थापित होती है, जो आत्मकथा लेखन की उस परंपरा का विस्तार करती है जहाँ आत्मावलोकन के साथ-साथ विचारधारात्मक उद्घोषणा भी प्रमुख होती है। यह कृति 4 जुलाई 1885 को दिए गए उनके भाषणों का संकलन है जो 1917 में प्रकाशित हुई। यह कृति न केवल एक संन्यासी के जीवन-संघर्ष का विवरण है, बल्कि 19वीं शताब्दी के सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक परिवेश का यथार्थ चित्रण भी प्रस्तुत करती है। 'जीवनचरित्र' को हिन्दी आत्मकथा परंपरा में इसलिए भी विशेष माना जाता है क्योंकि यह आत्मनिष्ठ होते हुए भी व्यापक सामाजिक परिवर्तन की प्रेरणा देती है और आत्मकथा को आत्मसुधार के माध्यम से समाजसुधार की दिशा में एक सशक्त उपकरण बनाती है।

आधुनिक हिन्दी साहित्य के इतिहास में 'भारतेन्दु युग' को आत्मकथा सहित अनेक गद्य विधाओं के पुनरुत्थान का काल माना जाता है। इस युग में नाटक, उपन्यास, जीवनी, संस्मरण, रेखाचित्र आदि के साथ आत्मकथा को भी नवजीवन मिला। पाश्चात्य साहित्य और आत्मकथा लेखन की परंपरा के प्रभाव में इस युग की आत्मकथाएँ भारतीय परंपरा से भिन्न दृष्टिकोण और शिल्प की परिचायक हैं।

भारतेंदु ने भी आत्मकथ्य लिखने का प्रयास किया। उनका अधूरा ग्रंथ 'एक कहानी कुछ आपबीती कुछ जगबीती' इस बात का प्रमाण है कि वे आत्मकथा को केवल आत्मप्रशंसा नहीं, वरन् सामाजिक विश्लेषण का उपकरण मानते थे। "उनकी इस आत्मकथा का प्रकाशन सम्वत् 1933 के 'कविवचन सुधा' — सन 1968 के भाग 8 में हुआ था।.... यह अपूर्ण रचना ही बनकर रह गई यदि यह आत्मकथा पूर्ण हो जाती तो हिंदी साहित्य को आत्मकथा का सौंदर्य प्राप्त हो जाता।"*3 इसमें वे लिखते हैं: "हम कौन हैं? और किस कुल में उत्पन्न हुए हैं, आप लोग पीछे जानेंगे... अभी मैं इतना ही कहता हूँ कि मेरे जन्म जिस

तिथि को हुआ वह जैन और वैदिक दोनों में ही बड़ा पवित्र दिन है।"*4 वस्तुतः भारतेन्दु हरिश्चंद्र आत्मकथा को आत्म-अवलोकन, सामाजिक यथार्थ और व्यक्तिगत विडंबनाओं के समुच्चय के रूप में देख रहे थे।

आत्मकथाओं का ये समय वस्तुतः स्वतंत्रता आंदोलन का समय था, इसलिए साहित्येतर व्यक्तियों के अलावा जिन लोगों ने आत्मकथाएँ लिखी वे अधिकतर स्वतंत्रता सेनानी और समाज-सुधार, नवजागरण से जुड़े हुए लोग थे। इनमें जो लेखन हुआ वो देशसेवा की चेतना और समाज को जागरूक करने वाला था। "आत्मकथाकारों एवं आत्मसंस्मरणकारों ने आपबीती घटनाओं का समाज के सम्मुख प्रस्तुतिकरण किया। उन्होंने व्यक्ति, समाज और देश के प्रति अपना उत्तरदायित्व समझा और इन तीनों को अपनी साहित्यिक परिधि में प्रतिष्ठित किया। आत्मकथात्मक उक्तियों के द्वारा उन्होंने अपने ही मन का नहीं बल्कि समाज के मन का भी परिष्कार किया।"*5 इस समय की कुछ आत्मकथाएँ हैं—

- सत्यानंद अग्निहोत्री : मुझमें देव-जीवन का विकास (1910)
- भाई परमानंद : आपबीती, काले पानी की कारावास की कहानी (1921)
- पं. लक्ष्मण नारायण गर्दे : जेल में चार साल (1922)

इसके साथ ही, समाज-सुधार श्रेणी में स्वामी श्रद्धानंद की आत्मकथा भी प्रमुख है। हिन्दी आत्मकथा साहित्य में स्वामी श्रद्धानंद कृत *'कल्याण मार्ग का पथिक'* एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण रचना है, जो आत्मकथा को आत्मकेंद्रित वृत्तांत से आगे बढ़ाकर सामाजिक, धार्मिक और राष्ट्रीय चेतना का दर्पण बना देती है। यह कृति न केवल लेखक के जीवनानुभवों का बिंब है, बल्कि भारत के स्वतंत्रता आंदोलन, आर्य समाज के उत्थान और धार्मिक सुधारों के सामाजिक संदर्भों को भी उजागर करती है। *'कल्याण मार्ग का पथिक'* आत्मकथा को महज व्यक्तिगत वृत्तांत की विधा न मानकर, इसे विचार, प्रेरणा और सामाजिक हस्तक्षेप का माध्यम बनाती है। हिन्दी आत्मकथा साहित्य के विकास में यह कृति आत्मनिष्ठता और

सामाजिक प्रतिबद्धता के संतुलन का उत्कृष्ट उदाहरण है, जो इसे विशेष स्थान प्रदान करती है।

महात्मा गाँधी द्वारा मूलतः गुजराती में लिखी गई आत्मकथा 'सत्य के मेरे प्रयोग' न केवल एक साधक जीवन की कहानी है, बल्कि आत्मकथा की भारतीय परंपरा में एक युगांतकारी प्रविष्टि भी है। इसका हिन्दी अनुवाद हरिभाऊ उपाध्याय द्वारा 1927 में प्रकाशित हुआ, जो हिन्दी आत्मकथा साहित्य को एक नये वैचारिक और नैतिक धरातल पर स्थापित करता है। गाँधीजी ने इस आत्मकथा में जीवन के प्रत्येक प्रसंग को 'सत्य' की कसौटी पर परखा है—चाहे वह व्यक्तिगत विफलता हो, पारिवारिक संबंध, धर्म का अनुशीलन, राजनीति या ब्रह्मचर्य का अभ्यास। इस आत्मकथा की विशेषता इसकी आत्मालोचनात्मक दृष्टि, नैतिक ईमानदारी और प्रयोगशीलता है। पंकज चतुर्वेदी इस विषय में लिखते हैं कि, "महात्मा गांधी का लेखन इस जनतांत्रिक स्पिरिट से अनुप्राणित है। उन्होंने जब अपने 'सत्य के प्रयोग' अथवा 'आत्मकथा' शब्दबद्ध की तो उसका आधार, उनका यह विश्वास रहा कि 'जो एक के लिए शक्य है वह सब के लिए भी शक्य है' इसलिए उन्होंने अपने प्रयोगों को एकांत-वस्तु न रहने दिया। ज़ाहिर है कि वे आत्मकथा लिखकर एक व्यापक जन समाज को शक्य की अपनी साधना का हिस्सेदार बनाना चाहते थे और यह भी उनकी इच्छा थी कि जीवन मुक्ति की खोज उनकी बतायी और बरती हुई प्रणालियों तक सीमित न रहे, बल्कि लोगों की चेतना तथा गतिविधि में अन्य विभिन्न स्तरों पर सत्य के प्रयोग हों।"*6

उनकी आत्मकथा वस्तुतः आत्मप्रशंसा से रहित, गहराई से आत्मनिरीक्षण करने वाली रचना है, जो पाठक को आत्म-चिंतन की ओर प्रेरित करती है। "यह ग़ौरतलब है कि महात्मा गांधी ने आत्मदर्शन की अपनी जीवन-व्यापी कोशिशों को आत्मकथा का रूप दिया था, जिसे उन्होंने सत्य के प्रयोग की संज्ञा दी लेकिन गांधीजी के लिए जीवन-सत्य, जीवन-मुक्ति और ईश्वर के दर्शन— परस्पर संबद्ध थे; यहाँ तक कि वे एक-दूसरे के पर्याय थे"*7 भाषा सहज, आत्मीय और प्रवाहपूर्ण है, जिसमें कोई कृत्रिमता नहीं है। 'सत्य के मेरे प्रयोग' हिन्दी

आत्मकथा को केवल आत्मकथ्य न रखकर एक दर्शन और जीवन-साधना में रूपांतरित करती है। यही कारण है कि यह कृति हिन्दी आत्मकथा साहित्य के विकास में विचार, संवेदना और शिल्प—तीनों स्तरों पर अत्यंत महत्त्वपूर्ण योगदान देती है।

स्वतंत्रता-पूर्व हिंदी आत्मकथा साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान क्रांतिकारी आत्मकथाओं का भी है। हिन्दी आत्मकथा साहित्य में शहीद राम प्रसाद 'बिस्मिल' द्वारा कारागार में लिखित आत्मकथा 'एक क्रांतिकारी चेतना की अभिव्यक्ति' एक अद्वितीय कृति के रूप में दर्ज है, जो न केवल उनके व्यक्तिगत जीवन का साक्ष्य प्रस्तुत करती है, बल्कि उस युग की क्रांतिकारी चेतना, राजनीतिक संघर्ष और वैचारिक प्रतिबद्धता का भी जीवन्त दस्तावेज़ है। यह आत्मकथा उन्होंने 1927 में गोरखपुर जेल में अपनी फाँसी से कुछ ही समय पहले लिखी थी। इसका उद्देश्य आत्मप्रशंसा नहीं, अपितु अपने विचारों और अनुभवों को आगामी पीढ़ियों के लिए प्रेरणास्रोत के रूप में प्रस्तुत करना था।

सुभाष चंद्र बोस द्वारा रचित 'एक अधूरी आत्मकथा' और 'एक भारतीय तीर्थयात्री' हिन्दी आत्मकथा साहित्य में विचारशीलता, राजनीतिक चेतना और राष्ट्रीय आत्मबोध को प्रतिष्ठित करने वाली रचनाएँ हैं। 'एक अधूरी आत्मकथा' में उन्होंने अपने बाल्यकाल, छात्र जीवन, पारिवारिक संस्कारों और प्रशासनिक सेवा से त्याग तक की यात्रा को आत्मविश्लेषणात्मक ढंग से प्रस्तुत किया है। वहीं 'एक भारतीय तीर्थयात्री' उनकी यूरोपीय यात्राओं, राजनीतिक संवादों और आत्मचिंतन की गवाही देती है। इन आत्मकथाओं की भाषा सजीव, सुस्पष्ट और विचारप्रधान है, जो आत्मकथा को केवल व्यक्तिगत दस्तावेज़ न मानकर राजनीतिक दर्शन और ऐतिहासिक दृष्टि से जोड़ती है। सुभाष बाबू की आत्मकथाएँ हिन्दी आत्मकथा परंपरा को यथार्थबोध, राष्ट्रप्रेम और वैचारिक प्रतिबद्धता का नया परिप्रेक्ष्य प्रदान करती हैं, जो उन्हें हिन्दी साहित्य में विशिष्ट स्थान देती हैं।

2.1.ii स्वतंत्रता-पूर्व हिंदी आत्मकथा साहित्य में महत्वपूर्ण प्रस्थान — 'हंस' पत्रिका का आत्मकथा-विशेषांक (1932) —

हिन्दी आत्मकथा साहित्य के इतिहास में 'हंस' पत्रिका का आत्मकथा-विशेषांक (अप्रैल 1932) एक मील का पत्थर सिद्ध हुआ। इस संदर्भ में डॉ हरिशंकर प्रजापति का कहना है कि "कालांतर में 'हंस' ने पत्रिका का रूप ले लिया। उन्होंने 'मेरा जीवन सार' दस अंक में 1932 में प्रकाशित किया।"*8 प्रेमचंद के सम्पादन में प्रकाशित यह विशेषांक स्वतंत्रता-पूर्व हिन्दी साहित्य में आत्मकथात्मक लेखन की पहली संगठित प्रस्तुति था, जिसने आत्मकथा को एक साहित्यिक विधा के रूप में गंभीरता और स्वीकृति दिलाई।

इस अंक में विविध लेखकों की आत्मकथाएँ, आत्म-संस्मरण और जीवन-वृत्त प्रकाशित हुए, जिनमें न केवल व्यक्तिगत अनुभव थे, बल्कि सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक संदर्भों की गूंज भी सुनाई देती है। आत्मकथा को 'मैं' से 'हम' तक विस्तारित करने का जो प्रयास इस अंक में हुआ, उसने आत्मकथा को आत्मप्रचार के सीमित दायरे से निकालकर आत्मबोध और सामाजिक विमर्श का माध्यम बना दिया। यह विशेषांक हिन्दी लेखकों को अपनी आत्मकथा लिखने के लिए प्रेरित करने वाला एक प्रस्थान-बिंदु सिद्ध हुआ और इसके बाद आत्मकथा लेखन में निरंतर वृद्धि देखी गई। इस प्रकार 'हंस' का आत्मकथा-विशेषांक हिन्दी आत्मकथा साहित्य के विकास में एक निर्णायक मोड़ प्रस्तुत करता है।

2.1.iii स्वातंत्र्योत्तर काल और हिंदी आत्मकथा साहित्य का विस्तार —

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भारतीय समाज, राजनीति और साहित्य में व्यापक परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं। राष्ट्र की औपनिवेशिक चेतना से मुक्त होने के बाद बुद्धिजीवियों, साहित्यकारों और विचारशील वर्ग का ध्यान अब केवल विदेशी सत्ता के शोषण और दमनकारी नीतियों पर केंद्रित नहीं रहा, बल्कि उन्होंने अपने समाज की आंतरिक समस्याओं,

मूल्यगत विघटन, सामाजिक विषमताओं और मानसिक जटिलताओं की ओर गंभीरतापूर्वक देखा।

इस वैचारिक बदलाव का सीधा प्रभाव साहित्य पर पड़ा—विशेषतः हिन्दी गद्य साहित्य पर। अब लेखकों की रुचि बाह्य राजनीतिक आंदोलनों से हटकर आंतरिक संघर्षों, व्यक्तित्व निर्माण, आत्मसंघर्ष, मनोविश्लेषण और आत्मबोध की ओर बढ़ी। परिणामस्वरूप, साहित्यिक लेखन की प्रवृत्ति यथार्थवादी और अंतर्मुखी होती चली गई। यह समय आत्मनिगमन और आत्ममूल्यांकन का काल रहा, जिसमें व्यक्ति अपने अनुभवों, विचारों, द्वंद्वों और विफलताओं को बिना लाग-लपेट के व्यक्त करने के लिए प्रेरित हुआ।

इसी साहित्यिक प्रवृत्ति ने आत्मकथा जैसी विधा को एक नई गति प्रदान की। आत्मकथा, जो अब तक एक सीमित प्रयोगात्मक विधा मानी जाती थी, स्वातंत्र्योत्तर काल में वैचारिक, मनोवैज्ञानिक और सामाजिक अभिव्यक्ति का एक सशक्त माध्यम बनकर उभरी। "इस युग के आत्मकथा साहित्य विकास ने नए पथ का अनुसरण किया।"*9 यह महज़ आत्मप्रशंसा या घटनात्मक वर्णन न रहकर, एक आत्मसंवाद और सर्जनात्मक जिजीविषा का रूप लेती है, जिसमें लेखक न केवल अपनी कथा कहता है, बल्कि अपने समय, समाज और परिवेश की भी गहन विवेचना करता है।

स्वातंत्र्योत्तर काल में हिंदी आत्मकथा साहित्य के विकास को हम दशकों में बाँटकर देख सकते हैं। इन दशकों में हिंदी आत्मकथा ने अपनी कहिन और रचाव में पर्याप्त बदलाव किए। हिन्दी आत्मकथा साहित्य में 1950 से 1960 के दशक को स्थायित्व, वैचारिक परिपक्वता के प्रारंभिक चरण के रूप में देखा जाता है। इस काल की आत्मकथाएँ केवल व्यक्ति के निजी अनुभवों तक सीमित नहीं रहीं, बल्कि उन्होंने सामाजिक यथार्थ, सांस्कृतिक संक्रमण और आत्मसंघर्ष की जटिलताओं को भी समेटने का प्रयास किया। स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरांत भारतीय समाज एक नये आत्मबोध, मूल्यचिंतन और मानसिक परिवर्तन से गुजर रहा था, जिसका प्रभाव साहित्य और विशेषतः आत्मकथा विधा पर स्पष्ट रूप से परिलक्षित

हुआ। इस काल में शांतिप्रिय द्विवेदी की 'परिव्राजक की प्रजा' (1952) जैसे ग्रंथ व्यक्ति और समाज के अंतर्संबंधों का संवेदनशील दस्तावेज़ बनते हैं। देवेन्द्र सत्यार्थी की आत्मकथा, जो दो भागों में प्रकाशित हुई, यात्राओं, जनजीवन और लोक-संस्कृति के साथ उनके वैयक्तिक अनुभवों का सजीव समुच्चय प्रस्तुत करती है। इन रचनाओं में आत्मकथा वैचारिक विमर्श का माध्यम बनकर उभरती है, जो हिन्दी साहित्य में आत्म-अवलोकन की परंपरा को सशक्त आधार देती है। प्रभाकर माचवे, वियोगी हरि कृत 'मेरा जीवन-प्रवाह', जैसे साहित्यकारों ने आत्मकथात्मक लेखन को केवल आत्मवृत्त नहीं, बल्कि बौद्धिक विकास और सामाजिक दृष्टिकोण के संवाहक के रूप में प्रस्तुत किया।

1960 से 1970 के दशक में हिन्दी आत्मकथा साहित्य ने आंतरिक विश्लेषण, मानसिक द्वंद्व और बौद्धिक संघर्ष की दिशा में उल्लेखनीय प्रगति की। इस काल की आत्मकथाओं में वैयक्तिक जीवन-संघर्ष के साथ-साथ सामाजिक असमानता, सांस्कृतिक संक्रमण और मूल्यगत भ्रम की गहरी छाया दिखाई देती है। यह दौर आत्मकथाओं को आत्मप्रशंसा से हटाकर आत्मविश्लेषण और आत्मालोचना की ओर मोड़ता है। प्रसिद्ध साहित्यकारों द्वारा लिखी गई आत्मकथाओं में इस समय वैचारिक स्पष्टता, भाषिक प्रांजलता और जीवन-संदर्भों की पारदर्शी प्रस्तुति मिलती है। नंददुलारे वाजपेयी, रामविलास शर्मा, विद्यानिवास मिश्र जैसे लेखकों के आत्मपरक निबंधों और संस्मरणात्मक लेखों में आत्मकथा के तत्त्व उपस्थित होते हैं। इस काल में आत्मकथा केवल जीवन की घटनाओं का विवरण नहीं, बल्कि एक गहन वैचारिक संवाद बनकर उभरती है—जो हिन्दी साहित्य को आत्मसंवाद और आत्मबोध की दृष्टि से समृद्ध करती है।

1970 से 1980 के दशक में हिंदी आत्मकथा लेखन ने न केवल आत्मानुभव की ईमानदार अभिव्यक्ति को विस्तार दिया, बल्कि सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक संदर्भों को भी सजीव रूप में प्रस्तुत किया। इस काल की आत्मकथाएँ वैयक्तिक जीवन संघर्षों के साथ-साथ सामूहिक अनुभवों की पड़ताल करती हैं।

हरिवंश राय बच्चन की आत्मकथा का चार-खंडीय क्रम— क्या भूलूँ क्या याद करूँ (1969), नीड़ का निर्माण फिर (1970), बसेरे से दूर (1977), और दशद्वार से सोपान तक (1985)—1970 से 1990 के मध्य हिन्दी आत्मकथा साहित्य को एक नई ऊँचाई प्रदान करता है। यह काल स्वतंत्र भारत के सामाजिक पुनर्गठन, राजनीतिक अस्थिरता और सांस्कृतिक पुनर्मूल्यांकन का युग था। बच्चन की आत्मकथाएँ इस संक्रमणकालीन समाज में एक संवेदनशील व्यक्ति की आत्म-यात्रा को प्रतिबिंबित करती हैं—जिसमें निजी अनुभवों के साथ-साथ राष्ट्र, भाषा, साहित्य और राजनीति के प्रश्न भी शामिल हैं। "बच्चन जी ने अपनी आत्मकथा के द्वारा अपने अतीत के जीवन की जो विविध स्मृतियां, कार्य-दिशाओं और उपलब्धियों-अनुपलब्धियों यहाँ का लेखा-जोखा ईमानदारी के साथ प्रस्तुत किया है, वह इसी की युग-विशेष की ही नहीं अपितु भावी युगों के लिए भी स्मरणीय रहेगी।"*10 उन्होंने आत्मकथा को केवल आत्मवृत्त नहीं, बल्कि समय और समाज की आलोचनात्मक समीक्षा का उपकरण बनाया। इन आत्मकथाओं में काव्यात्मक भाषा, वैचारिक स्पष्टता और आत्मस्वीकृति की ईमानदार परंपरा मिलती है। बच्चन की लेखनी हिन्दी आत्मकथा को आत्मानुभव से आगे बढ़ाकर बौद्धिक विमर्श की दिशा में ले जाती है, जिससे यह काल आत्मकथा विधा के परिपक्व विकास का सशक्त साक्ष्य बनता है।

देवराज उपाध्याय की 'यौवन के द्वार पर' (1970) एक शिक्षक-साहित्यकार की आत्मबोधात्मक यात्रा है, जो सामाजिक मूल्यों और आत्मसंघर्ष को संवेदनशील दृष्टि से चित्रित करती है। राम अवतार अरुण की 'अरुणायन' (1974) में विचारशील लेखक का मानसिक संसार उजागर होता है। वहीं कृष्ण चंद्र की 'आधे सफ़र की पूरी कहानी' (1979) में साहित्यिक, राजनैतिक और प्रेम संबंधों का जटिल तानाबाना आत्मकथात्मक शैली में बुना गया है। बलराज साहनी की 'मेरी फ़िल्मी आत्मकथा' हिन्दी सिनेमा की भीतरी दुनिया और व्यक्तिगत मानवीय द्वंद्वों का यथार्थ चित्र प्रस्तुत करती है। यह दशक हिन्दी आत्मकथा को

विधा के रूप में जनसरोकार, रचनात्मक अस्मिता और वैचारिक ईमानदारी की नई ऊँचाइयों तक पहुँचाता है।

1980 से 1990 का दशक हिन्दी आत्मकथा साहित्य में वैयक्तिक अनुभवों के साथ-साथ सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक विमर्श के गहराते स्वरूप का युग रहा। इस काल की आत्मकथाएँ केवल आत्मवृत्तांत नहीं, बल्कि विचारधारात्मक प्रतिबद्धताओं और जनसरोकारों का लेखा-जोखा प्रस्तुत करती हैं। पुरुषोत्तम दास टंडन की 'राख से लपटें' (1984) स्वतंत्रता संग्राम और राजनीतिक जीवन के अनुभवों का दस्तावेज़ है, जिसमें आदर्श और संघर्ष की चेतना दिखाई देती है। हंसराज रहबर की 'मेरे सात जनम' (1986) एक विस्तृत आत्मकथा है, जिसमें लेखक ने अपने रचनात्मक, सामाजिक और पारिवारिक जीवन को तीन खंडों में विस्तार से चित्रित किया है। यशपाल जैन की 'मेरी जीवन धारा' (1987) में साहित्यिक और आध्यात्मिक चेतना की समन्वित झलक है। वहीं फणीश्वरनाथ रेणु की 'आत्मपरिचय' (1988) में ग्रामीण यथार्थ, राजनीतिक सक्रियता और लेखक के आत्मसंघर्ष का ईमानदार चित्रण मिलता है। इस काल की आत्मकथाएँ आत्मकेंद्रित न होकर सामाजिक सरोकारों से गहरे जुड़ी हैं, जो हिन्दी आत्मकथा को विचारशील और जनमुखी बनाती हैं।

इस सबक़ साथ, यद्यपि आत्मकथा में सामाजिक यथार्थ, अस्मिता और संघर्ष के बीज 1950–80 के दशकों में ही पड़ चुके थे, परंतु 1990 के दशक में यह प्रवृत्ति सुनियोजित विमर्श के रूप में उभरती है—विशेषतः दलित, स्त्री और आदिवासी विमर्श की आत्मकथाओं के माध्यम से। हिन्दी आत्मकथा साहित्य में 'विमर्श' की विधिवत शुरुआत 1990 के दशक से मानी जाती है जब यह विधा केवल आत्मवृत्त नहीं रहकर सामाजिक अस्मिता, हाशिए के जीवन और विरोध की मुखर अभिव्यक्ति बन गई। इस दौर में दलित, स्त्री, आदिवासी और किन्नर समुदायों की आत्मकथाएँ साहित्यिक जगत में एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत करती हैं, जो बहुसंख्यक-वर्चस्ववादी विमर्शों को चुनौती देती हैं। 1990 के दशक से आरंभ होकर

21वीं शताब्दी के दो दशकों तक हिन्दी आत्मकथा साहित्य में अस्मिता, संघर्ष और बहुस्तरीय यथार्थ का प्रभावी विस्तार हुआ है। इस कालखंड में आत्मकथा ने दलित, स्त्री, आदिवासी, किन्नर और यौनिक अल्पसंख्यक समुदायों की आवाज़ बनकर साहित्य में विमर्श की दृढ़ स्थापना की। ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'जूठन' (1997), श्योराज सिंह बेचैन की 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर', तुलसीराम की 'मुर्दहिया' और 'मणिकर्णिका' जैसी आत्मकथाएँ दलित अनुभवों की गहनता को स्वर देती हैं। वहीं प्रभा खेतान की 'अन्या से अनन्या', मन्नू भंडारी की 'एक कहानी यह भी' जैसी स्त्री आत्मकथाओं ने लैंगिक चेतना को धार दी। किन्नर लेखिका लक्ष्मी नारायण त्रिपाठी की 'मैं हिजड़ा, मैं लक्ष्मी' ने लिंग पहचान के विमर्श को आत्मकथा के माध्यम से नया आयाम दिया। यह कालखंड आत्मकथा को एक वैचारिक औजार बनाकर हिन्दी साहित्य में सामाजिक न्याय, आत्मबोध और वैचारिक प्रतिरोध की सशक्त विधा के रूप में स्थापित करता है। यह परिवर्तन मात्र साहित्यिक नहीं, बल्कि वैचारिक और सामाजिक हस्तक्षेप भी था, जिसमें व्यक्ति का अनुभव समुदाय की सामूहिक पीड़ा और चेतना का प्रतिनिधि बनकर उभरा। इस प्रकार 1990 का दशक हिन्दी आत्मकथा में विमर्शात्मक दृष्टिकोण की विधिवत स्थापना और सैद्धांतिक गहराई का निर्णायक काल साबित होता है।

वस्तुतः हिन्दी आत्मकथा साहित्य का विकास एक सतत यात्रा की तरह हुआ है जिसमें व्यक्ति के अनुभवों से आरंभ होकर समाज की व्यापक चेतना तक का विस्तार देखा जा सकता है। स्वतंत्रता-पूर्व काल में आत्मकथा लेखन मुख्यतः सामाजिक-राजनीतिक संघर्ष, स्वतंत्रता आंदोलन और वैयक्तिक आत्मबोध पर केंद्रित था। स्वातंत्र्योत्तर काल में आत्मकथा ने अंतःकरण की ओर रुख किया और वैयक्तिकता, मनोवैज्ञानिक अंतर्द्वंद्व और आत्मसंघर्ष को स्थान मिला। वहीं 1990 के दशक से आत्मकथा विधा में दलित, स्त्री, आदिवासी और किन्नर विमर्श के प्रभाव से यह एक सशक्त वैचारिक विधा में रूपांतरित हो गई। आज हिन्दी आत्मकथा साहित्य केवल व्यक्ति की कहानी नहीं, बल्कि समाज, सत्ता

और अस्मिता का आलोचनात्मक आख्यान बन गया है, जो साहित्यिक दायरे से बाहर निकलकर सामाजिक परिवर्तन का सशक्त माध्यम भी बन चुका है।

भाषा और शैली की बात करें तो— हिन्दी आत्मकथा साहित्य की शैली में समय के साथ उल्लेखनीय परिवर्तन और परिष्कार देखने को मिलता है। किस्सगोई, नाट्य-तत्व, ललित निबंध, संस्मरण, रेखाचित्र, पत्र और कविता — इन सब विधाओं के बीच आत्मकथा एक अंतः सलिला विधा की तरह चलती है।"*11 प्रारंभिक आत्मकथाओं, जैसे बनारसीदास की 'अर्द्धकथानक' (1641), में पद्यात्मक शैली प्रमुख थी, जिसमें आत्मस्वीकृति और धार्मिक दृष्टिकोण की प्रधानता थी। इसके बाद भारतेन्दु युग में आत्मकथात्मक लेखन में औपचारिक गद्य की शुरुआत हुई, जिसकी भाषा भावुक, अलंकृत और आंशिक रूप से आत्मप्रशंसात्मक थी।

वस्तुतः स्वतंत्रता-पूर्व काल में आत्मकथाएँ अधिकतर प्रेरणात्मक और राष्ट्रवादी भावभूमि से जुड़ी रहीं, जिनमें आत्मकथाकार की भूमिका एक कर्मशील नागरिक की थी। वहीं स्वातंत्र्योत्तर काल में भाषा अधिक आत्मविश्लेषणात्मक, संवादी और मनोवैज्ञानिक हो गई। 1990 के दशक के बाद, जब आत्मकथा में विमर्शात्मक स्वर प्रमुख हुए, तो शैली में भी खुलापन, अस्मिता की मुखरता, और संवादात्मकता का समावेश हुआ। दलित, स्त्री, किन्नर और आदिवासी आत्मकथाओं ने साहित्यिक अलंकरण से मुक्त होकर कठोर, सीधी, और अनुभवजन्य भाषा का प्रयोग किया, जो उनके यथार्थ को प्रामाणिकता प्रदान करती है। इस प्रकार, हिन्दी आत्मकथा शैली में पारंपरिक आत्मवृत्त से आधुनिक वैचारिक विश्लेषण तक की यात्रा करती है—जो इसे एक सशक्त साहित्यिक विधा बनाती है।

संदर्भ :

1. आत्मकथा की संस्कृति : पंकज चतुर्वेदी , पृष्ठ संख्या vii
2. कविवर बनारसीदास- जीवनी और कृतित्व : डॉ. रवीन्द्र कुमार जैन, पृष्ठ संख्या 65
3. हिंदी कि आत्मकथात्मक साहित्य : डॉ चम्पा श्रीवास्तव, पृष्ठ संख्या 84
4. https://tinyurl.com/3u2z68nr
5. हिंदी कि आत्मकथात्मक साहित्य : डॉ चम्पा श्रीवास्तव, पृष्ठ संख्या 104
6. आत्मकथा की संस्कृति : पंकज चतुर्वेदी , पृष्ठ संख्या 14
7. आत्मकथा की संस्कृति : पंकज चतुर्वेदी , पृष्ठ संख्या 17
8. हिंदी स्त्री आत्मकथाओं का एक मूल्यांकन : डॉ हरिशंकर प्रजापति, पृष्ठ संख्या 14
9. हिंदी कि आत्मकथात्मक साहित्य : डॉ चम्पा श्रीवास्तव, पृष्ठ संख्या 206
10. वही, पृष्ठ संख्या 206
11. आत्मकथा की संस्कृति : पंकज चतुर्वेदी , पृष्ठ संख्या 140

अध्याय : 2.2

हिंदी की प्रमुख आत्मकथाएँ

साहित्य मात्र शब्दों का प्रदर्शन नहीं, अपितु हृदय की गहनतम अनुभूतियों की सशक्त अभिव्यक्ति है। यह लेखक के भीतर प्रस्फुटित उस अंतर्ज्योति का प्रसार है, जो संवेदनशील मन के मौन भावों को कलात्मक भाषा के माध्यम से जनसमक्ष लाने का कार्य करता है। साहित्यकार अपने व्यक्तिगत अनुभवों और मानसिक संवेदनाओं को सामाजिक–सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में रूपायित कर रचनात्मक अवतरण प्रदान करता है। साहित्य की समस्त विधाओं में आत्मकथा को सर्वाधिक निकटता मानव जीवन से प्राप्त होती है, क्योंकि इसमें लेखक अपने जीवन के विविध पक्षों का प्रामाणिक, अनुक्रमिक और अनुभूतिपरक चित्र प्रस्तुत करता है। "आत्मकथा व्यक्ति का वह अन्तःसाक्ष्य है जो उसकी सम्पूर्ण जीवन यात्रा का प्रामाणिक दस्तावेज प्रस्तुत करता है। आत्मकथाकार अपने विगत जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाओं को सच्चाई और ईमानदारी के साथ तटस्थ होकर अभिव्यक्त करता है।"*1 आत्मकथा में कल्पना और आत्मीयता का समन्वय होते हुए भी वह जीवन-सत्य की उद्घोषणा करती है।

हिंदी साहित्य के आधुनिक गद्य विकास में आत्मकथा और जीवनी-लेखन का प्रारंभिक सूत्रपात विशेष महत्व रखता है। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से हिंदी की प्रथम आत्मकथात्मक कृति बनारसीदास द्वारा रचित 'अर्धकथानक' मानी जाती है, जो अपने समय की एक अनोखी और मौलिक रचना है। बनारसीदास ने सन् 1641 में, अपनी पचपन वर्ष की आयु में, इस आत्मकथा को ब्रजभाषा में पद्यात्मक शैली—दोहा एवं चौपाई छंदों—में लेखबद्ध किया। जैन दर्शन के अनुसार, मनुष्य की पूर्ण आयु 110 वर्ष मानी जाती है, अतः उन्होंने अपने जीवन के पूर्वार्द्ध के वृत्तांत को 'अर्धकथानक' की संज्ञा दी। किंतु वस्तुतः यह

कृति उनके संपूर्ण जीवन की अंतिम कथा बन गई, क्योंकि इसके कुछ वर्षों उपरांत ही उनका निधन हो गया।

मध्यकालीन हिंदी साहित्य में गद्य की तुलना में पद्य का प्रभुत्व था, अतः 'अर्धकथानक' का रचना–शिल्प छंदबद्ध है। परवर्ती समय में इसके मूल पाठ के साथ गद्य अनुवाद संलग्न कर इसे पुनः प्रकाशित किया गया, जिससे यह आधुनिक पाठकों के लिए भी ग्राह्य बन सका। हिंदी आत्मकथात्मक परंपरा का प्रारंभिक बिंदु इसी रचना को माना गया है। आत्मकथा लेखन में जिस तटस्थता, वस्तुनिष्ठता और आत्मालोचन की अपेक्षा की जाती है, वह गुण बनारसीदास में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है।

उन्होंने अपने जीवन के गुण-दोषों का ईमानदारी से उद्घाटन करते हुए आत्मपक्ष की निर्मम विवेचना की है। "अर्द्धकथानक मुगलकाल की हिन्दी साहित्य में एक मात्र ऐसी पद्यात्मक आत्मकथा है, जिसमें जैन कवि बनारसीदास ने अपने जीवन के पचपन वर्षों के इतिहास को अभिव्यक्त किया है। हिन्दी साहित्य की प्रथम कृति होते हुए भी यह आत्मकथा के गुणों से परिपूर्ण है। इन्होंने अर्द्धकथानक में निश्छल ढंग से अपने अतीत को वर्णित किया है। अपने गुण एवं दोषों को जिस सच्चाई के साथ अभिव्यक्त किया है, वह अन्य किसी युग की आत्मकथा में मिलना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। आपबीती घटना को अपनी लेखनी के द्वारा सजीव रूप प्रदान किया है, यही कारण है कि प्राचीन होते हुए भी उसे आत्मकथात्मक साहित्य का अनमोल रत्न कह सकते हैं।"*2 इस प्रकार 'अर्धकथानक' हिंदी आत्मकथा साहित्य की ऐतिहासिक नींव का शिलान्यास करती है, जो आगे चलकर इस विधा के विविध रूपों के विकास का आधार बनी।

आधुनिक हिंदी गद्य साहित्य के निर्माण और विकास में आत्मकथा तथा जीवनी विधाओं का विशेष योगदान रहा है। हिंदी में आत्मकथा लेखन की परंपरा अपेक्षाकृत नवीन है और इसकी विधिवत शुरुआत आधुनिक काल में ही देखी जाती है। आत्मकथा लेखन एक गहन आत्मनिरीक्षणात्मक प्रक्रिया है, जिसमें लेखक न केवल अपने जीवन की प्रमुख

घटनाओं और अनुभवों का विश्लेषण करता है, बल्कि समकालीन सामाजिक, सांस्कृतिक और वैचारिक परिदृश्य का भी सूक्ष्मता से मूल्यांकन करता है।

हिंदी साहित्य में आत्मकथाओं की संख्या भले ही सीमित रही हो, किंतु जो रचनाएँ उपलब्ध हैं, वे इस विधा की वैचारिक परिपक्वता और आत्मबोध की गहराई को दर्शाती हैं। इस क्रम में राहुल सांकृत्यायन की 'मेरी जीवन-यात्रा' (1946), पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' की 'अपनी खबर' (1960), और आचार्य चतुरसेन शास्त्री की 'मेरी आत्मकहानी' (1963) को प्रारंभिक सृजनात्मक प्रयासों के रूप में रेखांकित किया जा सकता है, जिन्होंने आत्मकथा को एक गंभीर साहित्यिक विधा के रूप में स्थापित करने का कार्य किया। आत्मकथात्मक साहित्य में हरिवंश राय बच्चन की चार खंडों में प्रकाशित आत्मकथा—'क्या भूलूं क्या याद करूं', 'नीड़ का निर्माण फिर', 'बसेरे से दूर'और 'दशद्वार से सोपान तक' (1969–1985) —इस विधा की शिखर रचनाओं में सम्मिलित की जाती हैं। डॉ. देवराज उपाध्याय की 'यौवना के द्वार पर'(1970), वृंदावनलाल वर्मा की 'अपनी कहानी' (1970), बलराज साहनी की 'मेरी फिल्मी आत्मकथा', रामविलास शर्मा की 'घर की बात' (1983), अमृतलाल नागर की 'टुकड़े-टुकड़े दास्तान' (1986) तथा रामदरश मिश्र की 'सहचर है समय' (1991) जैसी कृतियाँ आत्मकथा लेखन को समृद्ध करने वाली विशिष्ट रचनाएँ हैं, जो न केवल आत्मानुभव की अभिव्यक्ति हैं, बल्कि अपने समय की ऐतिहासिक-सांस्कृतिक दस्तावेज़ भी हैं।

आत्मकथा लेखन की सीमा को विस्तारित करने हेतु कुछ नवाचारात्मक प्रयास भी देखने को मिलते हैं। इनमें 'गर्दिश के दिन' (1980) एक उल्लेखनीय प्रयोगात्मक संकलन है, जिसका संपादन कमलेश्वर द्वारा किया गया। इस संकलन में हिंदी सहित अन्य भारतीय भाषाओं के बारह रचनाकारों के 'आत्मकथ्य' समाहित हैं। यद्यपि ये रचनाएँ पूर्ण आत्मकथाएँ नहीं हैं, तथापि इनकी विशेषता यह है कि इनमें लेखकों ने अपने संघर्षमय जीवन की मानसिक जटिलताओं, रचनात्मक उलझनों तथा सामाजिक दबावों को अत्यंत आत्मीयता

और पारदर्शिता के साथ उजागर किया है। इस संकलन में विभिन्न रचनाकारों की भिन्न-भिन्न वैचारिक दृष्टियाँ, जीवनानुभव और संघर्षशील चेतना स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती हैं। इनमें से कुछ आत्मकथ्यों में जीवन की तुलना में साहित्यिक साधना और रचना–संघर्ष को प्राथमिकता दी गई है, जिससे आत्मकथा की परंपरागत सीमाओं को चुनौती मिलती है और विधा का व्यापक सरोकार सामने आता है। इस प्रकार आधुनिक हिंदी साहित्य में आत्मकथा लेखन न केवल व्यक्तिगत जीवन की पुनर्रचना है, बल्कि वह समकालीन साहित्यिक विमर्शों का एक सशक्त माध्यम भी बनकर उभरता है।

पिछले कुछ वर्षों में आत्मकथा लेखन की परंपरा में एक उल्लेखनीय बात यह हुई है की अब महिला लेखिकाएँ भी मुक्त मन से अपनी आत्मकथाएँ लिखने लगीं हैं। कालक्रम से देखा जाए तो 'दस्तक ज़िंदगी की (1990) और मोड़ ज़िंदगी का (1996) इन दो खंडों में प्रकाशित प्रतिभा अग्रवाल की आत्मकथा सबसे पहले आती है। इसी क्रम में क्रमश: जो कहा नहीं गया (1996) कुसुम अंसल, लगता नहीं है दिल मेरा (1997) कृष्णा अग्निहोत्री, बूंद बावड़ी (1999) पद्मा सचदेव, कस्तूरी कुंडल बसै (2002) मैत्रेयी पुष्पा, हादसे (2005) रमणिका गुप्ता, एक कहानी यह भी (2007) मन्नू भण्डारी, अन्या से अनन्या (2007) प्रभा खेतान, गुड़िया भीतर गुड़िया (2008) मैत्रेयी पुष्पा, पिंजरे की मैना (2008) चंदरकिरण सौनेरिक्सा, और और औरत (2010) कृष्णा अग्निहोत्री की आत्मकथाएँ प्रकाशित हुईं। इसी दौर में दलित लेखकों का ध्यान भी आत्मकथा लेखन की ओर गया। अपने अपने पिंजरे (दो भाग)- मोहनदास नैमिशराय, जूठन - ओमप्रकाश वाल्मीकि, मेरा बचपन मेरे कंधों पर - श्योराज सिंह बेचैन, मेरी पत्नी और भेड़िया – डॉ. धर्मवीर, मुर्दहिया- डॉ. तुलसीराम, शिकंजे का दर्द - सुशीला टाकभौरे की आत्मकथाओं ने हिंदी जगत का ध्यान आकृष्ट किया है।

हिंदी की कुछ प्रमुख आत्मकथाएँ इस प्रकार हैं—

2.2.i. अर्धकथा (1641)— बनारसीदास जैन

भारतीय इतिहास के एक प्रतिष्ठित व्यक्ति बनारसीदास जैन की जीवन कहानी लचीलेपन, समर्पण और उद्यमशीलता की एक प्रेरक कहानी है। 16वीं शताब्दी में जन्मे बनारसीदास जैन एक सफल व्यापारी, परोपकारी और मुगल सम्राट अकबर के शासनकाल के दौरान कला और संस्कृति के सबसे प्रमुख संरक्षकों में से एक थे। उनकी आत्मकथा उस युग के सामाजिक-सांस्कृतिक और आर्थिक पहलुओं में एक मूल्यवान अंतर्दृष्टि प्रदान करती है, जो पाठकों को एक उल्लेखनीय व्यक्ति के जीवन की एक झलक प्रदान करती है जिसने भारतीय समाज पर एक अमिट छाप छोड़ी।

बनारसीदास जैन का जन्म भारत के उत्तरी भाग में स्थित आगरा शहर में एक समृद्ध व्यापारी परिवार में हुआ था। उनका परिवार व्यापार में गहराई से जुड़ा हुआ था और उन्होंने खुद को इस क्षेत्र के प्रमुख व्यापारियों के रूप में स्थापित किया था। छोटी उम्र से ही, बनारसीदास ने अद्भुत बुद्धि और व्यापारिक मामलों में गहरी रुचि दिखाई। उन्होंने गणित, अर्थशास्त्र और वाणिज्य के सिद्धांतों सहित विभिन्न विषयों में अच्छी शिक्षा प्राप्त की, जिसने उनकी भविष्य की उपलब्धियों की नींव रखी।

जैसे-जैसे वह परिपक्व हुए, बनारसीदास ने अपने परिवार की व्यापारिक गतिविधियों में सक्रिय रूप से भाग लिया, अंततः उन्हें पारिवारिक व्यवसाय विरासत में मिला। उनके चतुर नेतृत्व में, पारिवारिक व्यवसाय फला-फूला, भारतीय उपमहाद्वीप के विभिन्न क्षेत्रों तक अपनी पहुंच बढ़ाई और विदेशी भूमि के साथ व्यापारिक संबंध स्थापित किए। उनके व्यापारिक कौशल, ईमानदारी और नैतिक प्रथाओं ने उन्हें अपने समकालीनों के बीच एक उत्कृष्ट प्रतिष्ठा दिलाई और उन्हें व्यापारिक समुदाय में एक सम्मानित व्यक्ति बना दिया।

व्यापार और सांस्कृतिक क्षेत्र में बनारसीदास जैन के कद और प्रतिष्ठा ने मुगल दरबार का ध्यान आकर्षित किया। उन्हें अक्सर सम्राट अकबर के साथ चर्चा में शामिल होने के लिए आमंत्रित किया जाता था, जो उनकी बुद्धिमत्ता और कुशाग्रता की बहुत प्रशंसा करते थे। मुगल दरबार के साथ उनकी बातचीत ने उन्हें उन नीतियों को प्रभावित करने के अवसर प्रदान किए जिनसे व्यापारियों और व्यापारियों को लाभ हुआ, जिससे वाणिज्य और व्यापार विकास के लिए अनुकूल वातावरण सुनिश्चित हुआ।

बनारसीदास जैन की विरासत उनके जीवनकाल से भी आगे तक फैली हुई है। व्यापार, वाणिज्य और सांस्कृतिक संरक्षण में उनके योगदान ने भारतीय समाज पर एक अमिट छाप छोड़ी है। जिन संस्थानों का उन्होंने समर्थन किया, वे फलते-फूलते रहे और आने वाली पीढ़ियों को लाभ हुआ। इसके अलावा, उनकी आत्मकथा एक मूल्यवान ऐतिहासिक दस्तावेज़ के रूप में कार्य करती है, जो 16वीं शताब्दी के भारतीय उपमहाद्वीप की सामाजिक-आर्थिक स्थितियों और सांस्कृतिक परिवेश में अंतर्दृष्टि प्रदान करती है।

बनारसीदास जैन की जीवन यात्रा दृढ़ संकल्प, व्यावसायिक कौशल और करुणा की शक्ति का प्रमाण है। एक चतुर व्यापारी, एक उदार परोपकारी और कला के उत्साही संरक्षक के रूप में, उन्होंने अपने समय की जटिलताओं को ज्ञान और अनुग्रह के साथ हल किया। उनकी आत्मकथा न केवल उनके व्यक्तिगत अनुभवों पर प्रकाश डालती है बल्कि उस ऐतिहासिक संदर्भ के बारे में हमारी समझ को भी समृद्ध करती है जिसमें वे रहते थे। बनारसीदास जैन महत्वाकांक्षी उद्यमियों और परोपकारियों के लिए एक प्रेरणा बने हुए हैं, जो हमें समाज को वापस देने और हमारी सांस्कृतिक विरासत को संरक्षित करने के महत्व की याद दिलाते हैं।

2.2.ii मेरी आत्मकहानी (1941) — बाबू श्यामसुंदर दास

इतिहास के इतिहास में, ऐसे व्यक्ति हैं जिनकी जीवन कहानियाँ समय से परे हैं और आने वाली पीढ़ियों को प्रेरित करती हैं। ऐसे ही एक असाधारण व्यक्तित्व हैं बाबू श्याम सुंदर दास, जिनकी जीवन यात्रा लचीलेपन, दृढ़ संकल्प और उच्च उद्देश्य के प्रति समर्पण का उदाहरण देती है। साधारण शुरुआत में जन्मे बाबू श्याम सुंदर दास को कई चुनौतियों और बाधाओं का सामना करना पड़ा, लेकिन उनकी अडिग भावना और अपने सिद्धांतों के प्रति अटूट प्रतिबद्धता ने उन्हें विपरीत परिस्थितियों से ऊपर उठने और समाज पर एक अमिट छाप छोड़ने की अनुमति दी। यह आत्मकथा बाबू श्याम सुंदर दास के जीवन पर प्रकाश डालती है, उनके अनुभवों का सार और उनके द्वारा छोड़ी गई विरासत को दर्शाती है।

बाबू श्यामसुंदर दास लिखते हैं कि "यह आत्मकहानी 13 महीनों तक निरंतर सरस्वती पत्रिका में प्रकाशित होकर अब पुस्तकाकार रूप में प्रकाशित हो रही है। इसमें कोई परिवर्तन नहीं किया गया है। जिस समय जैसी भावना मेरे मन में थी और जिन उद्देश्यों से प्रेरित होकर जो काम मैंने किया है तथा जिस प्रकार मेरे कार्यों में विघ्न-बाधाएँ उपस्थित हुई हैं उनका मैंने यथातथ्य वर्णन किया है, पर यह सब काम स्मरण-शक्ति तथा काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा की फाइलों को देखकर किया गया है। फिर भी यह संभव है कि अनजाने में, विस्मृति से या भ्रांति के कारण किसी घटना के वर्णन में कोई विपर्यय हो गया हो। इसके लिये मुझे दुःख है। पर मैंने अपनी ओर से ऐसा करने का उद्योग नहीं किया है।"*3

बाबू श्याम सुंदर दास का जन्म भारत के एक ग्रामीण कोने में एक छोटे से गाँव में हुआ था। उनके परिवार को, क्षेत्र के कई अन्य लोगों की तरह, आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, और शिक्षा अधिकांश के लिए एक दूर का सपना थी। हालाँकि, युवा श्याम सुंदर ने अशिक्षा और गरीबी की बेड़ियों से मुक्त होने की ठान ली थी। दृढ़ संकल्प और कुछ शुभचिंतकों के समर्थन से, उन्होंने अपनी शिक्षा जारी रखी, और निकटतम स्कूल तक

पहुँचने के लिए प्रतिदिन कई मील पैदल चलते थे। अपने प्रारंभिक वर्षों के दौरान, श्याम सुंदर दास ने अपने समुदाय में गंभीर सामाजिक असमानताओं और हाशिए पर रहने वालों की दुर्दशा देखी। इन टिप्पणियों ने उनके विश्व दृष्टिकोण को गहराई से प्रभावित किया, सहानुभूति के बीज बोए और समाज में सकारात्मक बदलाव लाने की इच्छा व्यक्त की।

बाबू श्याम सुंदर दास की विरासत उनकी राजनीतिक उपलब्धियों से भी आगे तक फैली हुई है। उनकी जीवन कहानी दृढ़ संकल्प, दृढ़ता और करुणा की शक्ति के लिए एक प्रेरक वसीयतनामा के रूप में कार्य करती है। उन्होंने प्रदर्शित किया कि साधारण पृष्ठभूमि के व्यक्ति प्रभावशाली पदों तक पहुंच सकते हैं और महत्वपूर्ण सामाजिक परिवर्तन ला सकते हैं।

अंत में, बाबू श्याम सुंदर दास की आत्मकथा न्याय और समानता की खोज से प्रेरित जीवन की एक मनोरम कहानी है। एक छोटे से गांव से सत्ता के राजनीतिक गलियारों तक की उनकी यात्रा प्रतिकूलताओं से उबरने की मानवीय भावना की क्षमता का प्रमाण है। बाबू जी की सार्वजनिक सेवा के प्रति समर्पण, कम भाग्यशाली लोगों के प्रति सहानुभूति और एक बेहतर समाज बनाने के अथक प्रयासों ने अनगिनत लोगों के जीवन पर स्थायी प्रभाव छोड़ा है।

2.2.iii. मेरी जीवन यात्रा — राहुल सांकृत्यायन

कई प्रेरणादायक आत्मकथाओं में से, एक बहुआयामी व्यक्तित्व वाले राहुल सांकृत्यायन की आत्मकथा है, जो एक प्रसिद्ध विद्वान, लेखक, यात्री और भारतीय बौद्धिक इतिहास में एक अग्रणी व्यक्ति थे। 9 अप्रैल, 1893 को भारत के उत्तर प्रदेश के आज़मगढ़ में केदारनाथ पांडे के रूप में जन्मे, उन्होंने बाद में राहुल सांकृत्यायन नाम अपनाया। साधारण शुरुआत से एक विद्वान विद्वान और अथक खोजकर्ता बनने तक की उनकी यात्रा दृढ़ संकल्प,

बौद्धिक जिज्ञासा और सीखने के प्रति गहन प्रेम की कहानी है। राहुल सांकृत्यायन का प्रारंभिक जीवन कठिनाइयों और गरीबी से भरा था। उनके पिता, गोवर्धन पांडे, एक गरीब ब्राह्मण किसान थे, और उनकी माँ, गौरा देवी, एक धर्मनिष्ठ और दयालु महिला थीं। वित्तीय बाधाओं के बावजूद, राहुल ने पढ़ने और सीखने में प्रारंभिक रुचि दिखाई, और उन्होंने अपने गाँव में उपलब्ध सीमित साहित्यिक संसाधनों का जमकर उपभोग किया। वह एक स्थानीय स्कूल में बुनियादी शिक्षा प्राप्त करने में कामयाब रहे, जहां उन्होंने विशेष रूप से भाषाओं और साहित्य में असाधारण शैक्षणिक क्षमताएँ दिखाईं।

ज्ञान के प्रति राहुल के जुनून ने उन्हें शिक्षा और ज्ञान की तलाश के लिए भारतीय उपमहाद्वीप में बड़े पैमाने पर यात्रा करने के लिए प्रेरित किया। "कलकत्ता के लिए रवाना होने से पहिले परमहंसजी के दर्शनों ने मन में कुछ भाव पैदा किये थे, जो अब तक सुप्त थे, लेकिन अब वे जागृत होने लगे। मैं फिर परमहंस बाबा की कुटी पर जाने लगा। वह तो मुझे क्या किसी को उपदेश दिया नहीं करते थे, महादेव पंडित जैसे विद्वान् भी जाते तो शायद उपनिषद् का कोई वाक्य उनके मुँह से निकल आया तो निकल आया, नहीं तो जो ही बात जवान पर आई, बच्चों की तरह दुहराते गये। हाँ, हरिकरणदास ने ज्ञान फूंकना शुरू किया। वह संस्कृत नहीं जानते थे, हिन्दी भी तेरह-बाईस ही, किन्तु बरावर लगे रहने से विचार सागर, विचारचन्द्रोदय, अष्टावक्रगीता-हिन्दी टीका जैसे ग्रंथों को पढ़ते और बहुत कुछ समझ लेते थे। मैं भी उनके पास बैठकर उन ग्रन्थों को पढ़ता, और उनसे वार्तालाप करता। धीरे-धीरे मेरी 'आँखों का पट्टर' खुलने लगा, 'एकश्लोकेन वक्ष्यामि, यदुक्तं ग्रन्थकोटिभिः। ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मव नापरः।' मुझे कण्ठस्थ हो गया।"*4

उन्होंने विभिन्न संस्थानों में और प्रख्यात विद्वानों के अधीन अध्ययन किया और संस्कृत, पाली, प्राकृत, तिब्बती और फारसी जैसी भाषाओं में महारत हासिल की। बौद्ध धर्म और प्राचीन भारतीय साहित्य में उनकी गहरी रुचि ने अंततः उन्हें इस विषय पर एक प्रमुख

विशेषज्ञ बनने के लिए प्रेरित किया। सांकृत्यायन की बौद्धिक क्षमता ने उन्हें विद्वानों के बीच सम्मान दिलाया और शिक्षा और लेखन में अवसरों के द्वार खोले।

राहुल सांकृत्यायन की अतृप्त घुमक्कड़ी की लालसा ने उन्हें जीवन भर व्यापक यात्राएँ करने के लिए प्रेरित किया। वह पूरे भारत में घूमते रहे और तिब्बत, श्रीलंका, नेपाल और विभिन्न दक्षिण पूर्व एशियाई देशों सहित पड़ोसी देशों में गए। इन यात्राओं ने उन्हें विविध संस्कृतियों, दर्शन और जीवन के तरीकों से अवगत कराया, जिससे दुनिया के बारे में उनकी समझ समृद्ध हुई। उनकी यात्राएँ केवल मनोरंजन के लिए नहीं बल्कि शैक्षणिक गतिविधियों और अन्वेषण के लिए भी होती थीं। उन्होंने प्राचीन पांडुलिपियों और शिलालेखों की तलाश की, सांस्कृतिक विरासत और ऐतिहासिक स्थलों का परिश्रमपूर्वक दस्तावेजीकरण किया। राहुल की यात्राओं ने उनके लेखन को प्रभावित किया और उनके यात्रा वृतांत ने कई पाठकों के लिए दुनिया के लिए एक खिड़की के रूप में काम किया। राहुल सांकृत्यायन का जीवन विद्वानों, लेखकों और यात्रियों की पीढ़ियों के लिए प्रेरणा है। ज्ञान के प्रति उनकी अटूट प्रतिबद्धता ने, उनकी साहसिक भावना के साथ मिलकर, साहित्य, संस्कृति और ऐतिहासिक अनुसंधान में बहुत योगदान दिया। उनकी आत्मकथा शिक्षा की परिवर्तनकारी शक्ति और अदम्य मानवीय भावना की गवाही के रूप में कार्य करती है।

2.2.iv मेरा जीवन प्रवाह (1956)— वियोगी हरि

'मेरा जीवन प्रवाह' वियोगी हरि की आत्मकथा मात्र जीवन-स्मृति नहीं, बल्कि एक विचारशील आत्मान्वेषण है, जिसमें लेखक ने अपने सामाजिक, बौद्धिक व आध्यात्मिक विकास की प्रक्रिया को आत्मस्वीकृतिपूर्वक अभिव्यक्त किया है। वियोगी हरि न केवल आधुनिक ब्रजभाषा के सशक्त कवि थे, बल्कि एक सिद्धहस्त निबंधकार, संत प्रवृत्ति के गांधीवादी समाजसेवी भी थे। उनका जीवन साहित्य, सेवा और साधना का संगम था।

पुस्तक में वे अपने बचपन, शिक्षा, पारिवारिक संस्कारों और तीर्थाटन जैसे अनुभवों के माध्यम से यह दर्शाते हैं कि उनका चिंतन और लेखन किस गहन सांस्कृतिक धरातल पर विकसित हुआ। वे कहते हैं कि "हमारे घर के पिछवाड़े काछियों का मोहल्ला था। ये लोग या तो साग-भाजी उपजाते और बेचते थे, या डेढ़-दो आने रोज की मेहनत-मजूरो कर लेते थे। औरतों को एक आना रोज मिलता था। सब मोटा खाते और चीथड़े पहनते थे। वरतनों के नाम काली हंडिया, काठ की कलछी और मिट्टी का तवा। फिर भी अपने रंग में मस्त रहते थे। रात के पिछले पहर गीत के साथ इनकी झोंपड़ियों में जाँतों का सुर बड़ा सुहावना लगता था। अथाइयों पर आधी-आधी रात तक ये ग्ररीव पड़ोसी सारंगी और डफली के सुर-ताल में बड़े प्रेम से गाते थे।"*5 वियोगी हरि का यह कथांश भारतीय ग्रामीण जीवन की सरलता, गरीबी और सांस्कृतिक समृद्धि को संवेदनशील दृष्टि से चित्रित करता है। काछियों के मोहल्ले का वर्णन केवल आर्थिक अभावों की कथा नहीं है, बल्कि उसमें श्रमजीवी वर्ग की आत्मतृप्ति, सौंदर्यबोध और सांस्कृतिक चेतना भी उजागर होती है। काठ की कलछी, मिट्टी का तवा और चीथड़े पहनने वाले लोग भी जीवन के संगीत से जुड़े हैं। उनके गीत, जाँतों का सुर, और रात की अथाइयों में सारंगी-डफली की ताल, सामूहिक जीवन की आनंदमयी छाया को प्रकट करते हैं।

यह अंश यथार्थ के साथ करुणा और मानवीय गरिमा का जीवंत चित्रण है।वियोगी हरि आगे कहते हैं कि "नवरात्र में, या जव गाँव में माता का प्रकोप फैलता तव, सारी रात ये लोग महामाई के 'हो माँ' भजन गाते थे। वचपन में उनका यह भजन वड़ा प्रिय लगता था :

दिन की उवन, करन की बेरा,

सुरहिन बन को जाय,

हो माँ,

इक वन लाँध, दुजे वन पहुँचो, तीजे सिंघ दहाड़ो हो माँ।

भगत लोग नवरात्र में धधकते अंगारों का खप्पर लेकर जवारों के जुलूस में निकलते थे । उनके गालों में लोहे की लम्बी-लम्बी साँगें छिदी होती थीं।"*6 यह आत्मकथांश ग्रामीण धार्मिक आस्था, लोकविश्वास और सांस्कृतिक परंपराओं का सजीव चित्र है। महामाई के भजन और भक्तों का अग्नि-साधन, नवरात्र की अंधश्रद्धा और सामूहिक भक्ति-भाव दर्शाते हैं। बचपन में ये दृश्य आकर्षक लगते थे, जो अब लोकजीवन की गहरी जड़ों को उजागर करते हैं।बाल्यकाल में पिता की मृत्यु के बाद ननिहाल में हुआ उनका लालन-पालन, उन्हें विनम्रता, संवेदना और परंपरा के निकट ले गया। वे बताते हैं कि विविधता, परंपरा और आत्मचिंतन ने उनके व्यक्तित्व को गढ़ा।

आत्मकथा में वे समाज की विविधता को सहजता से स्वीकारते हैं और यह मानते हैं कि साहित्य एक सामाजिक हस्तक्षेप का माध्यम हो सकता है। उनका लेखन केवल भावनात्मक विसर्जन नहीं, बल्कि एक जिम्मेदार नागरिक की प्रतिबद्धता भी है जो शिक्षा, पर्यावरण और सहानुभूति जैसे विषयों पर जागरूकता फैलाना चाहता है। वास्तव में, 'मेरा जीवन प्रवाह' न केवल उनके निजी अनुभवों की यात्रा है, बल्कि यह एक विचारशील मन की वैचारिक, सांस्कृतिक और मानवीय विस्तार की कथा है, जो पाठकों को प्रेरित करती है कि वे भी अपने जीवन में अर्थ की खोज करें।

2.2.v कल्याण मार्ग का पथिक (1924) — स्वामी श्रद्धानंद

'कल्याण मार्ग का पथिक' स्वामी श्रद्धानंद की आत्मकथा है, जो उनके जीवन की तपस्वी साधना, वैचारिक प्रतिबद्धता और सामाजिक उत्तरदायित्व की गहन अनुभूतियों को उजागर करती है। मुंशी राम के रूप में जन्मे श्रद्धानंद न केवल आर्य समाज के प्रमुख स्तंभ थे, बल्कि उन्होंने भारतीय समाज में व्याप्त सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध निर्णायक भूमिका निभाई।

बाल्यकाल से ही ज्ञान के प्रति उनकी ललक, वैदिक विचारधारा की ओर आकर्षण और समाज सुधार की तीव्र चेतना उनके जीवन की आधारशिला बनती है। स्वामी श्रद्धानंद जी कहते हैं कि "पाठशाला से बाहर मैं तुलसीकृत रामायण के अतिरिक्त देशभाषा पद्य मे महाभारत का अनुवाद भी पढ़ा करता और छुट्टी के दिन युद्ध के पर्व प्राय समाप्त कर देता। रामचरितमानस से बुद्ध भक्त द्वारा अधिक प्रेम उत्पन्न हुआ। मेरे पिता अब तक शिव पूजा ही करते थे परन्तु बादा में उनका सत्संग एक ऐसे राम भक्त से हुआ जिसने उनकी काया ही पलट दी। मैं बीमार हुआ लोगों ने वैद्य बुद्ध भक्त की प्रशंसा की भक्त जी बुलाये गए। मैं रोग से मुक्त हुआ और भक्त जी हमारे परिवार के प्रमाणिक वैद्य बन गये।"*7 स्वामी श्रद्धानंद का यह कथन उनके प्रारंभिक धार्मिक और सांस्कृतिक संस्कारों को दर्शाता है।

बाल्यकाल से ही वे तुलसीकृत रामायण और महाभारत के देशभाषा अनुवाद से प्रभावित थे, जो तत्कालीन शिक्षा के धार्मिक आयाम को दिखाता है। रामचरितमानस से उन्हें विशेष आत्मिक जुड़ाव हुआ। उनके पिता के शिवभक्त से रामभक्त बनने की घटना पारिवारिक धार्मिक रूपांतरण का प्रमाण है। वैद्य बुद्ध भक्त के प्रभाव ने न केवल रोगमुक्ति दी, बल्कि उनके परिवार को धार्मिक रूपांतरण की दिशा में भी प्रभावित किया। यह प्रसंग श्रद्धानंद के वैचारिक विकास की जड़ें खोलता है।

उनके पिता की असमय मृत्यु के बाद आए संघर्षों ने उनके भीतर आत्मबल और सामाजिक उद्देश्य के लिए समर्पण का भाव पैदा किया। महर्षि दयानंद सरस्वती की शिक्षाओं ने उन्हें गहराई से प्रभावित किया और उन्होंने आर्य समाज के उद्देश्यों को आत्मसात कर सामाजिक अन्याय, अंधविश्वास और जातिवाद के खिलाफ व्यापक आंदोलन चलाए।

आत्मकथा में वे छुआछूत, बाल विवाह और धार्मिक रुढ़ियों के विरुद्ध अपने संघर्षों का उल्लेख करते हैं, साथ ही यह भी रेखांकित करते हैं कि स्वतंत्रता संग्राम में सक्रिय भूमिका निभाना भी उनके सामाजिक कर्तव्य का ही विस्तार था। उन्होंने स्वदेशी आंदोलनों का समर्थन करते हुए शिक्षा, समानता और राष्ट्रभक्ति को जीवन का ध्येय बनाया।

यह आत्मकथा न केवल एक संत-क्रांतिकारी के जीवन का दस्तावेज़ है, बल्कि यह भारतीय समाज में सुधार और पुनर्जागरण की प्रेरक गाथा भी है। स्वामी श्रद्धानंद का जीवनवृत्त पाठकों को सत्य, सेवा और संघर्ष के मार्ग पर चलने की प्रेरणा देता है।

2.2.vi सिंहावलोकन (1951-55) — यशपाल

साहित्य वह दर्पण है जो मानवीय अनुभवों के विविध रंगों को प्रतिबिंबित करता है और प्रतिष्ठित हिंदी लेखक यशपाल निस्संदेह अपने समय के सबसे गहन साहित्यिक दर्पणों में से एक रहे हैं। 3 दिसंबर, 1903 को पंजाब में जन्मे यशपाल के जीवन और कार्यों ने हिंदी साहित्य के क्षेत्र पर एक अमिट छाप छोड़ी है। उनकी आत्मकथा के माध्यम से, हम एक दिलचस्प यात्रा पर निकलते हैं जो इस साहित्यिक उस्ताद के जीवन, उनके संघर्षों, विजयों और उनके द्वारा छोड़ी गई विरासत का पता लगाती है।

20वीं सदी की शुरुआत भारत में महान सामाजिक और राजनीतिक उथल-पुथल का समय था। यशपाल, अपने कई समकालीनों की तरह, स्वतंत्रता और सामाजिक सुधारों के आह्वान से गहराई से प्रेरित थे। वह स्वतंत्रता संग्राम में शामिल हो गए और असहयोग आंदोलन सहित विभिन्न आंदोलनों में सक्रिय रूप से शामिल हो गए। सक्रियता के इस दौर ने यशपाल के मानस पर एक अमिट छाप छोड़ी, जिसने आने वाले वर्षों में उनकी साहित्यिक रचनाओं को महत्वपूर्ण रूप से प्रभावित किया। वे अपनी आत्मकथा में कहते हैं, "कांग्रेस के सविनय कानून भंग आंदोलन में गिरफ्तार होकर जब वे अदालत में पेश किये गये तो उनके हाथ अभी इतने छोटे थे कि बन्द हथकड़ियों में से निकल आते थे। आज़ाद हथकड़ियों से हाथ निकाल-निकाल कर पुलिसवालों को चिढ़ाने में मजा लेते थे। परिणाम में उनके दोनों हाथों को मिलाकर इथ- कड़ी जड़ दी गयी। अदालत में मैजिस्ट्रेट ने उनकी अवज्ञा की— 'अभी हाथ भर का तो है नहीं चला है आन्दोलन करने ! भाग जा।' आज़ाद ने मैजिस्ट्रेट को फटकार दिया। कानूनन आज़ाद को उस आयु में जेल की सज़ा नहीं दी जा सकती थी।

इसलिये ब्रिटिश न्याय की रक्षा के लिये तैनात मैजिस्टट ने उन्हें जेल में ले जाकर बारह बेत लगाकर छोड़ देने की सजा दे दी। भुक्त-भोगी जानते हैं कि यह सज़ा छः मास की जेल की अपेक्षा कहीं कड़ी थी। मैजिस्ट्रेट का विचार था कि इतने दण्ड से छोकड़े को सुबुद्धि आ जायगी।"*8 यशपाल द्वारा वर्णित यह प्रसंग स्वतंत्रता संग्राम के क्रांतिकारी चरित्र और औपनिवेशिक न्याय-व्यवस्था की अमानवीयता को उजागर करता है। अल्पवयस्क आज़ाद की निर्भीकता, साहस और मजिस्ट्रेट की अवमानना सत्ता के विरुद्ध विद्रोही चेतना को दर्शाती है। अंग्रेज अधिकारी की प्रतिक्रिया—बेत लगाकर छोड़ देना—कानून के नाम पर अन्याय और क्रांतिकारियों को मानसिक व शारीरिक रूप से तोड़ने की ब्रिटिश रणनीति को रेखांकित करती है। यह प्रसंग यशपाल की आत्मकथा में औपनिवेशिक दमन और बाल्यवय क्रांतिकारिता के विलक्षण चित्र के रूप में प्रस्तुत हुआ है।

यशपाल की साहित्यिक गतिविधियों को इलाहाबाद विश्वविद्यालय में उनके कार्यकाल के दौरान गति मिली। वे भारतीय और पश्चिमी लेखकों के कार्यों से गहराई से प्रभावित थे और उनके गहन अध्ययन ने उनकी रचनात्मकता के क्षितिज का विस्तार किया। इस दौरान, उन्होंने विभिन्न साहित्यिक पत्रिकाओं में लेख और निबंधों का योगदान देना भी शुरू कर दिया और अपने मार्मिक और ज्ञानवर्धक लेखन के लिए प्रशंसा अर्जित की।

यशपाल का जीवन और कार्य समाज की चेतना को आकार देने में साहित्य की शक्ति का प्रमाण रहे हैं। उनकी आत्मकथा, उनके संघर्षों, साहित्यिक गतिविधियों और सामाजिक जागृति का एक अंतरंग विवरण, महत्वाकांक्षी लेखकों और बुद्धिजीवियों के लिए एक मार्गदर्शक के रूप में कार्य करती है। यशपाल की विरासत पाठकों के बीच आज भी गूंजती है और हमें समय और सामाजिक बाधाओं को पार करते हुए दिल और दिमाग को प्रभावित करने के लिए लिखित शब्द की अपार क्षमता की याद दिलाती है। हिंदी साहित्य में उनका योगदान अमूल्य है, जो आने वाली पीढ़ियों को सत्य और न्याय की खोज में भाषा की सुंदरता और शक्ति को अपनाने के लिए प्रेरित करता है।

2.2.vii मुड़-मुड़के देखता हूँ (2001) — राजेन्द्र यादव

राजेंद्र यादव की आत्मकथा दस अध्यायों मे लिखी गई है। अध्याय को अध्याय नाम नही बल्कि सुंदर शीर्षकों से सजाया गया है। पहले अध्याय मुड़ मुड़ के देखता हूँ में ही राजेन्द्र यादव जी ने कहा कि इसे उनकी आत्मकथा नही बल्कि आत्मकथांश समझा जाये! शायद सही ही कहा। क्योंकि आगे चल के कई जिज्ञासाएँ अधूरी ही रह जाती हैं, राजेन्द्र जी को जानने से संबंधित। फिर दूसरा अध्याय भूमिका। तीसरा अध्याय हक़ीर कहो फक़ीर कहो में अपनी साठवीं वर्षगाँठ पर मित्रों के बीच राजेंद्र जी द्वारा आगरे में दिया गया वक्तव्य है। चौथा अध्याय है अंत से शुरुआत जो दुर्घटनाओं में भी बचा रहता है अर्थात संकल्प, जिसमें जिक्र किया है उन्होने दिल्ली से कानपुर गिरिराजकिशोर जी के सम्मान में आयोजित कार्यक्रम मे जाते हुए हुई राजधानी ट्रेन दुर्घटना से सही सलामत आ जाने का। पाँचवा अध्याय ऐयार (इम्पोस्टर) से सावधान में अपने हमशक्लो की चर्चा के साथ अपने विभिन्न चेहरों (मुखौटों) के प्रति आगाह किया है। छठे अध्याय अपनी नज़र से में किसी प्रिय को संबोधित करते पत्र मे अपने विषय में टुकड़ों डुकड़ों में लिखा है जहाँ कुछ कुछ देर के लिये कुछ लेखक मित्र मन्नू से विवाह उनसे मनोमालिन्यता और पिता की मृत्यु का भी जिक्र है।

सातवाँ अध्याय पुनः मुड़ मुड़ के देखता हूँ, जहाँ हमें कुछ क्रम सा नज़र आता है। यहाँ राजेंद्र जी के बचपन का घर, उनका अपने चाचा जी के घर पढ़ने को जाना, वहाँ बच्चों के झगड़े में किसी बच्चे के हाकी मार देने से राजेंद्र जी के पैर में चोट आना, घर पर बात छुपा ले जाने के कारण चोट का बढ़ जाना और घुटने से टखने तक की हड्डी का गल जाना और आपरेशन द्वार निकाल दिये जाने से पैर में कुछ समस्या आ जाना तथा बैसाखी के सहारे चलना का ज़िक्र है। यहीं उन्होने अपनी रचनात्मकता की शुरुआत को भी समझा। दिनभर

बिस्तर पड़े होने से उनकी कल्पना शक्ति बढ़ी और कथाकारी करने लगी। यहाँ उन्होंने अपनी विभिन्न किताबों के विषय में लिखा।

आठवें अध्याय मुड़ मुड़ के देखता हूँ भाग 2 'ये तुम्हारा स्वर मुझे खींचे लिये जाता' में चर्चा की है अपने मित्रों की जिसमें विस्तार महिला मित्रों को ही मिला है। अनेकानेक स्त्रियो से संबंध मे वे दीदी, मीता और मन्नू का विशेष योगदान मानते हैं अपने जीवन में। मगर तीनो ही उनकी जिंदगी में नही रहे। अध्याय के अंत में कलकत्ते का एक रात घूमने का वर्णन है। नवें अध्याय हम ना मरै मरिहैं संसारा में अपनी मृत्यु की परिकल्पना का दृश्य है।

राजेंद्र यादव अपनी आत्मकथा की भूमिका में कहते हैं कि, "यह मेरी आत्मकथा नहीं है? इन 'अन्तर्दर्शनों' को मैं ज़्यादा-से-ज़्यादा 'आत्मकथांश' का नाम दे सकता हूँ।*9 राजेन्द्र यादव आत्मकथा की पारंपरिक धारणा को चुनौती देते हुए उसे 'आत्मकथांश' की संज्ञा देते हैं। वे आत्मकथा को केवल अतीत का पुनरावलोकन नहीं, बल्कि उसकी आलोचना और वैधता की खोज मानते हैं। अतीत को जस्टीफाई करने की प्रवृत्ति उन्हें आपत्तिजनक लगती है। वे स्मृतियों को आत्मगौरव का साधन नहीं, बल्कि व्यक्ति की गति और विचारधारा के निर्माण का उपकरण मानते हैं। उनके लिए अतीत कोई भावुक आश्रय नहीं, बल्कि प्रासंगिकता का चयन है। यह दृष्टिकोण आत्मकथा को एक वैचारिक और रचनात्मक उपकरण में बदल देता है।

2.2.viii अपनी खबर (1960) — पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'

'अपनी खबर' पांडेय बेचन शर्मा उग्र द्वारा लिखित हिन्दी की एक विशिष्ट आत्मकथा है। लेखक अपनी आत्मकथा के पंद्रह आध्यायों में अपने जीवन के इक्कीस वर्षो की कथा कहते है। इस आत्मकथा के माध्यम से लेखक ने अपने तथा ओरों के सही रूप को पहचानने की कोशिश की है। लेखक मनुष्य और मनुष्य के भीतर छिपे पशु को भी पहचानना चाहता है।

बेचन का व्यक्तित्व हिन्दी साहित्य में नग्न यथार्थ चित्रण एवं विशिष्ट शैली के कारण विवाद का विषय रहा। इनके साहित्य को घासलेटी कहकर कुछ लोगों ने आन्दोलन भी चलाया था। उग्र ने अपने स्वभाववश इस विरोध को महत्व नहीं दिया।

उग्र के जीवन में दुःख जन्म से ही आरम्भ होता है। इनके एक दर्जन भाई बहनों में से कुछ तो जन्मते ही मर जाते या कुछ की जन्म के बाद मृत्यु हो जाती। अपने जन्म के समय परिवार में आनंद नहीं था एवं जन्मते ही बेच दिये जाने की कथा को वे इस प्रकार कहते हैं— 'मैं कहीं दिवंगत अंग्रेजों की राहन लगूँ। अतः तय यह पाया कि पहले तो मेरी जन्म-कुण्डली न बनायी जाय, साथ ही जन्मते ही मुझे बेच दिया जाय।' सो जन्मते ही मुझे यारों ने बेच डाला और किस किमत पर? महज टके पर एक। उसका भी गुड़ मँगा कर मेरी माँ ने खा लिया था। अपने पल्ले उस टके में से एक छदाम नहीं पड़ा था, जो मेरे जीवन का सम्पूर्ण दाम था। अलबत्ता 'जन्मजात बिका' का बिल्ला-जैसा नाम तौक की तरह गले मढा गया।'

उग्र को बचपन में पिता की मृत्यु और गरीबी के कारण अनेक संकटों का सामना करना पड़ा। बड़े भाई के अत्याचार से तंग मझले भाई के साथ रामलीला मंडली में शामिल हो गये। इस मंडली के बुरे कामों को निकट से देखा। बचपन में ही आदर्शों को इसे एवं मंडली में व्यभिचार को भड़ते भी देखा था। ऐसे व्यभिचारी परिवेश में रहकर वे भी कम उम्र में ही इश्क करने लगे थे। बारह वर्ष की उम्र में सत्रह वर्ष की सुन्दर लड़की से प्यार करने लगे थे। वे अपनी आत्मकथा में लिखते है— मेरा ख्याल है, इश्क क्या है इसका पता मुझे मण्डली में बारह साल की वय में लग गया था। बारह साल की उम्र में मैं सत्रह साल की एक अभिरामा श्यामा पर आशिक हो गया था कि सीने में जैसे कोई दिल को मला करे है का अनुभव मुझे तभी हो गया था। ब्राह्मणों के घर में पैदा होने पर भी उग्र अपने को शूद्र घोषित करते है। अपने को शूद्र कहना एवं ब्राह्मण होने का विरोध इस बात को स्पष्ट करता है कि उन्होंने ब्राह्मणों के कुल में बूरे काम होते देखे थे। हिन्दी साहित्य में लेखक ने जीवन की शुरूआत 'उग्र' उपनाम से की। अंग्रेज हुकूमत के सामने अपने विरोध को

उग्र नाम से सूचित किया। उग्र की रचनाओं में विद्रोह की चिनगारिया थी परन्तु व्यवहारिक स्तर पर कायर थे एवं इस कमजोरी का स्वीकार भी करते थे।

पांडे बेचन शर्मा 'उग्र' ने 20वीं सदी की शुरुआत में हिंदी साहित्य के परिदृश्य को आकार देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उनकी रचनाओं ने न केवल मनोरंजन किया बल्कि पाठकों को प्रेरित और विचारशील भी बनाया। "अपनी खबर" में आत्मकथात्मक कथा पाठकों को उनकी साहित्यिक उत्कृष्ट कृतियों के पीछे की विचार प्रक्रिया को समझने की अनुमति देती है और उनकी रचनात्मक अभिव्यक्तियों को संदर्भ प्रदान करती है। पूरे "अपनी खबर" में पांडे बेचन शर्मा हिंदी साहित्य जगत और व्यापक समाज पर अपने लेखन के प्रभाव को दर्शाते हैं। एक लेखक, कवि और सामाजिक टिप्पणीकार के रूप में उनकी विरासत मजबूती से स्थापित है और उनके कार्यों का आज भी जश्न मनाया जाता है। कई लेखक और विद्वान उनकी बुद्धि, शैली और कहानी कहने के निडर दृष्टिकोण से प्रभावित हुए हैं।

उग्र जी कहते हैं, "चुनार से सटी विन्ध्याचल की सुखद घाटियों में पारिजात के, पलाश के, बहेड़े के, महुवे के वन-के-वन। जब शरद ऋतु में सारी घाटो पारिजात-पुष्पों की सुखद सुगन्ध से भर जाती है, लगता है, यही तो नन्दन-वन है। चुनार इतना रमणीक कि पहले सारे भारत से जो श्रद्धालु तपस्या करने के लिए काशी या प्रयाग पधारते थे, वे तत्वतः तपते थे चुनार या मिर्जापुर-विन्ध्याचल की उपत्यकाओं ही में। कहते हैं किशोर राम ने ताड़का और सुबाहु को चुनार के निकट हो कहीं मारा था। क्रान्तिकारी ब्रह्मष वैत्तानिक विश्वामित्र का सिद्धाश्रम चुनार के निकट ही है। मेरा खयाल है अयोध्या के आस-पास चुनार-जैसा कोई महामनोरम स्थान नहीं था राम के ज़माने में भी। तभी ऋषि विश्वामित्र राजा दशरथ से आग्रह करके राम और लक्ष्मण को चुनार दिखलाने को ले गए थे। राम चुनार न गये होते तो शायद ही राम होते, क्योंकि विश्वामित्र ने चुनार हो के आस-पास उन्हें वे विद्याएँ दी थीं-शस्त्रास्त्रों के प्रयोग की शिक्षा, जो सारे जीवन रघुनन्दन के काम आती रहीं। क्या है राम की अयोध्या में? पुरी कहलाती है बड़ी। अयोध्या में मंदिर हैं, मूतियाँ हैं। यानी 'पत्थर हैं अयोध्या में।"*10

उग्र द्वारा वर्णित यह आत्मकथांश चुनार और विन्ध्याचल की सांस्कृतिक, धार्मिक और प्राकृतिक महत्ता को दर्शाता है। वे इसे केवल भौगोलिक स्थान नहीं, बल्कि एक आध्यात्मिक और ऐतिहासिक ऊर्जा-क्षेत्र के रूप में चित्रित करते हैं। चुनार की तुलना नन्दनवन से करते हुए वे इसकी नैसर्गिक सुंदरता और पौराणिक गौरव को जोड़ते हैं। रामकथा और विश्वामित्र के प्रसंगों के माध्यम से यह स्थापित किया गया है कि राम की महानता का बीजारोपण इसी भूमि पर हुआ। यह अंश आत्मकथा में उग्र के स्थानीय गौरवबोध और सांस्कृतिक स्मृति को उजागर करता है।

पांडे बेचन शर्मा 'उग्र' की आत्मकथा 'अपनी खबर', हिंदी साहित्य के दिग्गजों में से एक के जीवन और दिमाग की अंतर्दृष्टि का खजाना है। यह कथा एक संघर्षरत युवा लड़के से एक प्रसिद्ध लेखक तक उनकी यात्रा का कुशलतापूर्वक वर्णन करती है जिसने हिंदी साहित्य पर एक अमिट छाप छोड़ी। यह संस्मरण न केवल उनके द्वारा झेली गई कठिनाइयों को दर्शाता है, बल्कि उनके समय के सामाजिक-राजनीतिक मुद्दों को भी प्रतिबिंबित करता है।

2.2.ix "क्या भूलूँ क्या याद करूँ" (1969), "नीड़ का निर्माण फिर" (1970), "बसेरे से दूर" (1977) और "दशद्वार से सोपान तक" (1985) — डॉ. हरिवंशराय बच्चन

हिंदी आत्मकथा साहित्य में डॉ. हरिवंशराय बच्चन का योगदान महज़ व्यक्तिगत संस्मरण तक सीमित नहीं है, बल्कि यह साहित्य और समाज के अंतःसंबंधों की एक सशक्त व्याख्या बनकर उभरता है। बच्चन की आत्मकथा—जो चार खंडों "क्या भूलूँ क्या याद करूँ", "नीड़ का निर्माण फिर", "बसेरे से दूर" और "दशद्वार से सोपान तक" में विस्तृत है—हिन्दी आत्मकथा साहित्य की वह कड़ी है, जिसमें व्यक्ति का अंतर्मन, सामाजिक संदर्भ और रचनात्मक चेतना, त्रिवेणी की तरह प्रवाहित होते हैं।

बच्चन की आत्मकथा विशुद्ध आत्मप्रदर्शन मात्र नहीं है, यह आत्मविश्लेषण और आत्मसंलाप का दस्तावेज़ है। उन्होंने अपने जीवन को नायकत्व के चश्मे से नहीं देखा, बल्कि उसकी असमंजसताओं, विरोधाभासों और विफलताओं को भी उसी स्पष्टता के साथ सामने रखा है, जैसे उपलब्धियों और यश को। इस ईमानदारी में ही उनकी आत्मकथा की सर्वाधिक शक्ति निहित है।

बच्चन की आत्मकथा में समय, समाज और सृजन—तीनों के प्रति सजग दृष्टि दिखाई देती है। वे अपने अनुभवों को समकालीन साहित्यिक चेतना से जोड़कर प्रस्तुत करते हैं। उदाहरण के लिए, वे जब अपने प्रारंभिक जीवन में गूंजती "मधुशाला" की सर्जना का जिक्र करते हैं, तब वह केवल कविता नहीं, वरन् आत्मबोध की सांस्कृतिक परिणति के रूप में सामने आती है। बच्चन की आत्मकथा की भाषा में एक विशिष्ट भावबोध विद्यमान है—वह गद्य के भीतर छिपा हुआ काव्य है। वर्णनात्मक स्थलों पर भी उनकी भाषा में एक प्रवाह है जो पाठक को बाँध लेता है। आत्मकथा के अनेक स्थलों पर वे प्रतीकों और बिंबों का सृजन करते हैं—जैसे "नीड़", "दशद्वार", "सोपान"—जो उनके जीवन के भौतिक परिवर्तनों के साथ-साथ आंतरिक संक्रमणों के भी प्रतीक बन जाते हैं। शैलीगत रूप से बच्चन ने आत्मकथा को औपचारिक आत्मालोचना का रूप न देकर, संवादात्मक और आत्मीय बनाया है। वे पाठकों से बात करते हैं, उनसे सहमति चाहते हैं, कभी-कभी असहमति की संभावना को भी आमंत्रित करते हैं।

बच्चन की आत्मकथा उस युगीन संक्रमण का साक्ष्य है, जब भारतीय समाज परंपरा से आधुनिकता की ओर बढ़ रहा था। उनकी आत्मकथा में शिक्षित मध्यमवर्ग की आकांक्षाएँ, संस्कार-संघर्ष, और अंग्रेज़ी शिक्षा के प्रभाव जैसे अनेक विषयों की प्रतिध्वनि मिलती है। वे अपनी व्यक्तिगत त्रासदी (श्यामा की मृत्यु) को एक गहरे आत्मदर्शन में रूपांतरित करते हैं, और वही प्रसंग हिंदी आत्मकथा साहित्य में विरल उदाहरण बन जाता है, जहाँ निजी पीड़ा सार्वजनीन करुणा में बदल जाती है।

बच्चन का आत्मकथात्मक लेखन स्त्री-पुरुष संबंधों की एक संवेदनशील समझ भी प्रस्तुत करता है। श्यामा, आइरिस और तेजी—इन तीन स्त्रियों की उपस्थिति उनके जीवन में न केवल भावनात्मक दृष्टि से महत्व रखती है, बल्कि उनके सृजनात्मक आत्म का भी निर्माण करती है। बच्चन की आत्मकथा की संरचना कालानुक्रमिक है, किंतु वह केवल घटनाओं का अनुक्रम नहीं है, बल्कि उनके मानसिक विकास का एक चरणबद्ध खाका है। "क्या भूलूँ क्या याद करूँ" में वे एक भावुक, अनिश्चित युवा हैं; "नीड़ का निर्माण फिर" में वे पुनःस्थापित होते कवि हैं; "बसेरे से दूर" में वे एक शोधार्थी और विवेकी विचारक हैं; और "दशद्वार से सोपान तक" में एक प्रौढ़, आत्मबोध से पूर्ण और संतुलित साहित्यिक व्यक्तित्व।

यह काल-प्रवाह केवल बाह्य घटनाओं तक सीमित नहीं है, अपितु उनका भी आत्मीय चित्रण करता है जो व्यक्ति के अंतस में घटता है।

डॉ. हरिवंशराय बच्चन की आत्मकथा को केवल जीवनी या संस्मरण समझना उसकी सीमा में बंधाना होगा। यह एक सांस्कृतिक पाठ है—एक ऐसे व्यक्ति का जो बीसवीं सदी के भारत में जन्मा, शिक्षित हुआ, प्रेम किया, जिया, भटका और अंततः अपने अनुभवों को आत्मबोध की गहराई तक पहुंचाकर अभिव्यक्त किया। यह आत्मकथा एक ऐसे 'आत्म' की तलाश है जो समय, समाज, संस्कृति और संवेदना के मध्य सृजनशील बना रहा। यह न केवल बच्चन की आत्मकथा है, बल्कि हिंदी साहित्य के आत्मबोध का वह क्षण है जहाँ गद्य और काव्य, यथार्थ और संवेदना, अनुभव और सृजन—एक सूत्र में जुड़ जाते हैं।

2.2.x ग़ालिब छुटी शराब (2001) — रवींद्र कालिया

रवीन्द्र कालिया की आत्मकथात्मक कृति 'ग़ालिब छुटी शराब' हिन्दी साहित्य की उन दुर्लभ कृतियों में है जो लेखक की आत्मस्वीकृति, साहस, विडंबना और हास्य-व्यंग्य से गूंथी गई ईमानदार रचना है। यह आत्मकथा आत्म-महिमामंडन नहीं, बल्कि आत्म-विश्लेषण और आत्म-व्यंग्य का जीवंत उदाहरण है। लेखक अपने जीवन की कमजोरियों, नैतिक विचलनों

और सामाजिक विडंबनाओं को जिस स्पष्टता से प्रस्तुत करते हैं, वह हिन्दी आत्मकथा परंपरा में अपूर्व है।

शराब इस कृति में एक मात्र विषय नहीं, बल्कि एक प्रतीक बनकर उभरती है—मोह, पतन, व्यसन, आत्मचेतना और अंततः परिवर्तन का। लेखक बताते हैं कि शराब कभी ऊर्जा देती थी, कभी प्राथमिकता बन जाती थी, और अंततः वही उन्हें जीवन और मृत्यु के द्वार पर ले आई। डॉक्टर की चेतावनी—"जिंदगी या मौत में से किसी एक का चुनाव"—उनके जीवन में मोड़ बनती है, और वे जीवन को चुनते हैं। इस आत्मस्वीकार में कोई आत्मदया नहीं, कोई क्षमा याचना नहीं—बल्कि एक निर्भीक स्वीकार है।

कालिया अपने नैतिक पतन की घटनाओं को भी बिना संकोच सामने रखते हैं—माँ की दवा के पैसे चुराना, चिता पर सिगरेट की याद आना—इन प्रसंगों में वह दुर्लभ ईमानदारी दिखती है जो आत्मकथा को साहित्य से ऊपर जीवन का दस्तावेज़ बना देती है। रवींद्र जी कहते हैं कि "मैं एक लम्बे अरसे से बीमार नहीं पड़ा था। यह कहना भी गलत न होगा कि मैं बीमार पड़ना भूल चुका था। याद नहीं पड़ रहा था कि कभी सर दर्द की दवा भी ली हो। मेरे तमाम रोगों का निदान दारू थी, दवा नहीं। कभी खाट नहीं पकड़ी थी, वक्त ज़रूरत दोस्तों की तीमारदारी अवश्य की थी। मगर इधर जाने कैसे दिन आ गये थे, जो मुझे देखता मेरे स्वास्थ्य पर टिप्पणी अवश्य कर देता। दोस्त-अहबाब यह भी बता रहे थे कि मेरे हाथ कांपने लगे हैं। होम्योपैथी की किताब पड़ कर मैं जैलसीमियम खाने लगा। अपने डाक्टर मित्रों के हस्तक्षेप से मैं आजिज आ रहा था। डा. नरेन्द्र खोपरजी और अभिलाषा चतुर्वेदी जब भी मिलते क्लीनिक पर आने को कहते। मैं हँसकर उनकी बात टाल जाता।" यह आत्मकथांश रवींद्र कालिया की आत्मकथा के मनोवैज्ञानिक यथार्थवाद का उत्कृष्ट उदाहरण है। यहाँ बीमारी के बहाने लेखक अपने जीवन की अनिश्चितताओं, नशे की आदत, सामाजिक असहजता और आत्मप्रवंचना को बहुत ही स्वाभाविक, बेलौस और व्यंग्यात्मक शैली में प्रस्तुत करता है। यह खंड बताता है कि 'ग़ालिब छुटी शराब' एक आत्मकथा नहीं, एक

आत्म-टिप्पणी है— समाज, शरीर और सच के द्वंद्व पर।वे लोग मेरा अस्ट्रासाउण्ड करना चाहते थे और इस बात से बहुत चिंतित हो जाते थे कि मैं भोजन में रुचि नहीं लेता। मैं महीनों डाक्टर मित्रों के मश्वरों को नजरअंदाज करता रहा। उन लोगों ने नया नया 'डाप्लर' अस्ट्रासाउण्ड खरीदा था-मेरी भ्रष्ट बुद्धि में यह विचार आता कि ये लोग अपने पचीस तीस लाख के 'डाप्लर' का रोब ग़ालिब करना चाहते हैं। बाहर के तमाम डाक्टर मेरे हमप्याला और हमनिवाला थे। मगर कितने बुरे दिन आ गये थे कि जो भी डाक्टर मिलता, अपने क्लिीनिक में आमंत्रित करता। जो पैथालोजिस्ट था, वह लैब उनके शब्दों में: 'मैं पोरस रहा, दुनिया मुझे सिकंदर लगती रही। ' यह पंक्ति उनके अंतर्मन की गहराई को उजागर करती है।

कृति का एक और महत्त्वपूर्ण पक्ष साहित्यिक समाज की अंतर्कलह, ईर्ष्या, गुटबाज़ी और दोगलेपन का विश्लेषण है। बड़े साहित्यकारों की व्यक्तिगत कमजोरियाँ और वैचारिक संकीर्णता भी इसमें उघाड़ दी गई है, जो साहित्य-जगत को एक नया यथार्थपरक दृष्टिकोण देती है। 'ग़ालिब छुटी शराब' सिर्फ एक आत्मकथा नहीं, बल्कि आधुनिक हिंदी समाज और साहित्य की परतों को उघाड़ती, उन्हें आईना दिखाती हुई कालजयी रचना है, जो पाठकों को लंबे समय तक भीतर तक झकझोरती है। इसकी सहज, प्रवाहमयी भाषा और विनम्रता से लिपटी कठोर सच्चाइयाँ इसे आत्मकथा-साहित्य में विशिष्ट बनाती हैं।

वस्तुतः हिन्दी साहित्य में आत्मकथात्मक साहित्य कई कारणों से महत्वपूर्ण महत्व रखता है। यह लेखकों के लिए अपने व्यक्तिगत अनुभवों, भावनाओं और प्रतिबिंबों को व्यक्त करने के लिए एक शक्तिशाली माध्यम के रूप में कार्य करता है, जिससे पाठकों को गहरे और अंतरंग स्तर पर जुड़ने की अनुमति मिलती है। आत्मकथात्मक रचनाएँ लेखक के जीवन, विचारों और भावनाओं पर एक अद्वितीय और प्रामाणिक परिप्रेक्ष्य प्रदान करती हैं। यह व्यक्तित्व उन्हें काल्पनिक कार्यों से अलग करता है और पाठकों को लेखक के व्यक्तित्व और विश्वदृष्टि के बारे में जानकारी देता है।

हिंदी आत्मकथात्मक ने साहित्य में हिंदी भाषी आबादी की सांस्कृतिक पहचान को आकार देने और संरक्षित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। ये रचनाएँ अक्सर भाषा, परंपरा और विरासत से संबंधित विषयों का पता लगाती हैं, जिससे पाठकों में अपनेपन की भावना पैदा होती है। जैसे-जैसे आत्मकथात्मक साहित्य समय के साथ विकसित हुआ है, यह हिंदी भाषा के विकास और संवर्धन में योगदान देता रहा है। आत्मकथाएँ, नए शब्दों, अभिव्यक्तियों और भाषाई शैलियों का परिचय देता है जो समकालीन उपयोग को दर्शाते हैं। वस्तुतः हिंदी साहित्य में कई आत्मकथात्मक कृतियों को उनकी साहित्यिक योग्यता के लिए आलोचनात्मक प्रशंसा और मान्यता मिली है। उन्होंने प्रतिष्ठित पुरस्कार जीते हैं और साहित्यिक कैनन का एक अभिन्न अंग बन गए हैं। कुल मिलाकर, हिंदी में आत्मकथात्मक साहित्य आत्म-अभिव्यक्ति के एक शक्तिशाली साधन के रूप में कार्य करता है, सांस्कृतिक विरासत को संरक्षित करते हुए पाठकों को लेखक की जीवन यात्रा से जोड़ता है और हिंदी साहित्य की समृद्धि में योगदान देता है।

संदर्भ :

1. हिंदी का आत्मकथात्मक साहित्य, डॉ. चम्पा श्रीवास्तव, वही, पृष्ठ 65
2. वही, पृष्ठ 68
3. मेरी आत्मकहानी : बाबू श्यामसुंदर दास, निवेदन पृष्ठ 2
4. मेरी जीवन यात्रा, राहुल सांकृत्यायन , पृष्ठ 79
5. वही, पृष्ठ 15
6. वही, पृष्ठ 16
7. कल्याण मार्ग का पथिक, स्वामी श्रद्धानंद, पृष्ठ 28
8. सिंहावलोकन, यशपाल, पृष्ठ 62
9. मुड़ मुड़ के देखता हूँ, राजेंद्र यादव, भूमिका से
10. अपनी ख़बर, पांडेय बेचन शर्मा उग्र, पृष्ठ 42
11. https://tinyurl.com/3z48jjv2

2.3

हिंदी की प्रमुख स्त्री-आत्मकथाएँ

आत्मकथा एक ऐसी साहित्यिक विधा है, जिसमें लेखक अपने जीवन की उपलब्धियों और कमजोरियों को संतुलित और सुव्यवस्थित ढंग से अभिव्यक्त करता है। यह विधा व्यक्ति के संपूर्ण व्यक्तित्व को निष्पक्ष रूप से उद्घाटित करने में सक्षम होती है। आत्मकथाकार की दृष्टि का केंद्र स्वयं लेखक का 'आत्म' होता है। इस माध्यम से वह न केवल अपने जीवन-मूल्यों, विश्वासों और अनुभवों को प्रस्तुत करता है, बल्कि उस युग के सामाजिक संदर्भों को भी अभिव्यक्ति देता है, क्योंकि 'आत्म' का निर्माण समाज और अन्य व्यक्तियों से निरंतर संवाद के माध्यम से ही होता है।

स्त्री-आत्मकथा, स्त्री के दृष्टिकोण, स्वर, निर्णय और उसके यथार्थ जीवन को समझने का सबसे प्रभावी माध्यम है। यह केवल एक स्त्री की कथा नहीं होती, बल्कि समग्र समाज की स्थिति का दर्पण भी होती है। स्त्री आत्मकथाओं की कमी को रेखांकित करते हुए मैनेजर पांडे का यह कथन अत्यंत अर्थपूर्ण है—"स्त्रियों की आत्मकथा तो इसलिए नहीं है कि उन्हें हमारे सामाजिक ढांचे में सत्य बोलने की स्वतंत्रता नहीं है।" यह कथन न केवल ऐतिहासिक सच्चाई को सामने लाता है, बल्कि आज की सामाजिक वास्तविकता पर भी प्रश्नचिह्न खड़ा करता है। स्त्रियों की अपनी आवाज है, परंतु समाज अब भी उसे पूरी तरह सुनने और समझने के लिए तैयार नहीं है।

जब कोई स्त्री अपने जीवन की कथा स्वयं कहती है, तो वह केवल अनुभवों की साझेदारी नहीं होती, बल्कि वह एक सामाजिक दस्तावेज़ भी बन जाती है। आत्मकथा के माध्यम से वह न केवल अपनी बात कहती है, बल्कि अपने अस्तित्व को भी रेखांकित करती है। उसके भीतर के विचार, स्मृतियाँ, चोटें और साहस—सब कुछ उसमें खुलकर सामने आता है।

लेकिन यह राह आसान नहीं है। स्त्री के लिए आत्मकथा लिखना एक प्रकार का आत्म-संघर्ष होता है, क्योंकि समाज ने सदियों से उसकी पहचान को दूसरों की भूमिकाओं में सीमित कर दिया है—जैसे किसी की पत्नी, माँ, बहू या बेटी। अपने 'मैं' तक पहुँचना, उसे पहचानना और फिर उसे अभिव्यक्त करना एक चुनौती है। स्त्री विमर्श ने इस चुनौती को पहचानकर स्त्रियों को उनके 'स्व' की चेतना दी है। इसने उन्हें यह साहस दिया कि वे अपनी चुप्पी को शब्दों में ढाल सकें और अपनी आवाज़ को खुद सुन सकें, न कि किसी और के माध्यम से। आत्मकथा, इस प्रक्रिया में, उनका एक सशक्त औजार बनती है।

हिंदी की प्रमुख स्त्री आत्मकथाओं का परिचय—

2.3.i सरला , एक विधवा की आत्म जीवनी (1915) — दुखिनी बाला

'सरला : एक विधवा की आत्मजीवनी' दुखिनी बाला घोषाल द्वारा लिखित हिंदी की आरंभिक आत्मकथात्मक कृतियों में से एक है, जो एक शिक्षित बंगाली विधवा स्त्री के आत्मबोध, संघर्ष और सामाजिक विडंबनाओं को अभिव्यक्त करती है। दुखिनी बाला (1867–1925) का संबंध एक प्रबुद्ध बंगाली परिवार से था, और उन्होंने अपने जीवन के कटु अनुभवों को हिंदी में लिखकर स्त्री आत्मकथा की परंपरा को प्रारंभिक स्वर प्रदान किया।

इस कृति में उन्होंने विधवा जीवन की पीड़ा, शिक्षा के माध्यम से आत्मनिर्भरता की कोशिश, समाज की कठोरता और स्त्री की अस्मिता की तलाश को गहरी आत्मस्वीकृति के साथ प्रस्तुत किया है। आत्मकथा में न तो आत्मदया है, न प्रतिशोध, बल्कि एक गहन मानवीय दृष्टिकोण है जो पाठक को भीतर से झकझोरता है। निष्कर्षतः 'सरला' हिंदी में स्त्री आत्मकथा लेखन की ऐतिहासिक शुरुआत मानी जाती है, जो नारी जीवन की पीड़ा और प्रतिरोध का एक मौन लेकिन गूंजता हुआ स्वर है।

2.3.ii मेरी जीवन यात्रा (1956) — जानकी देवी बजाज

'मेरी जीवन यात्रा' जानकी देवी बजाज की आत्मकथा है, जो भारतीय स्वतंत्रता संग्राम और स्त्री चेतना की अनोखी गवाही है। इनका जन्म 1893 में एक पारंपरिक मारवाड़ी

परिवार में हुआ, पर विवाहोपरांत बजाज परिवार से जुड़कर वे गांधीवादी आंदोलनों में सक्रिय रहीं। इस आत्मकथा में उन्होंने अपने सामाजिक कार्यों, स्वदेशी आंदोलन, छुआछूत विरोध और स्त्री अधिकारों की पक्षधरता को सरल किंतु सशक्त शैली में प्रस्तुत किया है। यह कृति नारी आत्मबोध की शुरुआती मिसालों में है, जहाँ एक शिक्षित भारतीय स्त्री अपने अनुभवों के माध्यम से सामाजिक बदलाव का सपना रचती है।

2.3.iii चंद सतरें और (1975)— अनीता राकेश

'चंद संतरे और संतरे'अनीता राकेश की आत्मकथात्मक रचना है, जो मध्यवर्गीय शिक्षित स्त्री की मानसिक द्वंद्व, अस्मिता और सामाजिक असंतोष को स्वर देती है। अनीता राकेश (जन्म 1940) हिंदी की प्रसिद्ध लेखिका थीं, जिन्होंने स्त्री मनोविज्ञान और यथार्थ को अभिव्यक्त करने में विशेष दक्षता दिखाई। इस आत्मकथा में उन्होंने गृहस्थ जीवन, स्त्री-पुरुष संबंधों की जटिलता, और साहित्यिक जीवन की अंतर्दृष्टियों को आत्मविश्लेषणात्मक शैली में प्रस्तुत किया है। "स्कूल पास करने के बाद अव समस्या मेरी आगे की पढ़ाई की थी। भाई लड़का था, उसे किरोड़ीमल कॉलेज में जगह मिल गयी। लेकिन लड़की होने के नाते माँ को मेरे लिए पंजाब यूनिसिटी से ज्यादा सेफ़ और कोई यूनिसिटी नहीं लगी (भला हो पंजाब यूनिर्वासटी का जिसने मेरा उद्धार तो किया !)। माँ ने साथ जाकर पास की एक प्राइवेट अकादमी में मेरा शरीफ़ों की तरह एडमिशन भी करा दिया। इसके साथ-साथ शामें गुजारने के लिए उन्होंने मुझे कत्थक नृत्य सीखने के लिए एक डांस स्कूल में भी भर्ती करा दिया (गुरु जी को वह अच्छी तरह टोह आयी थीं।)। माँ का कहना था कि लड़कियों को हर समय बिजी रहना चाहिए नहीं तो उनका दिमाग़ दूसरी तरफ़ भटकता है।"*1 यह आत्मकथा हिंदी में स्त्री लेखन की एक जागरूक, ईमानदार और वैचारिक दस्तावेज़ के रूप में मूल्यवान है।

2.3.iv. दस्तक जिंदगी की (1990) — प्रतिभा अग्रवाल

'दस्तक ज़िंदगी की' प्रतिभा अग्रवाल की आत्मकथात्मक कृति है, जो उनके सांस्कृतिक, बौद्धिक और स्त्री अनुभवों का भावनात्मक व विश्लेषणात्मक दस्तावेज़ है।

प्रतिभा अग्रवाल (जन्म 1938) हिंदी की वरिष्ठ लेखिका, रंगकर्मी और समाज-संवादी चिंतक रही हैं। इस आत्मकथा में उन्होंने स्त्री होने की जटिलताओं, परिवार, समाज और साहित्यिक परिवेश के बीच अपनी पहचान की तलाश को गहराई से उकेरा है। "प्रतिभा अग्रवाल ने अपनी आत्मकथा को दो खंडों में लिखा। आत्मकथा का प्रथम खंड 'दस्तक जिंदगी की' साल 1990 में प्रकाशित हुआ। उसके करीब छह साल बाद आत्मकथा का दूसरा खंड 'मोड़ जिंदगी का' साल 1996 में प्रकाशित हुआ। प्रथम खंड में लेखिका ने अपने बचपन से विवाह तक के जीवन तक के संघर्षों को लिखा। क्योंकि उनका बचपन बहुत ही कष्टदायी था। दूसरे खंड में लेखिका ने शादी के बाद पति के साथ कोलकता आने का वर्णन किया है।"*2 भाषा सहज, विचारधारा प्रखर और दृष्टि संवेदनशील है। यह कृति केवल व्यक्तिगत कथा नहीं, बल्कि भारतीय स्त्री के अस्तित्वबोध की पड़ताल करती है। वस्तुतः यह आत्मकथा समकालीन हिंदी स्त्री आत्मलेखन की सशक्त प्रतिनिधि रचना है।

2.3.v. मोड़ जिंदगी का (1996) — प्रतिभा अग्रवाल

'मोड़ ज़िंदगी का' प्रतिभा अग्रवाल की दूसरी आत्मकथात्मक कृति है, जो उनके जीवन के उन निर्णायक क्षणों का चित्रण करती है जहाँ निजी और सामाजिक अनुभव आपस में टकराते हैं। प्रतिभा अग्रवाल (जन्म 1938) हिंदी साहित्य, रंगमंच और सांस्कृतिक संवाद की अग्रणी हस्ती रही हैं। इस कृति में उन्होंने स्त्री की वैचारिक स्वतंत्रता, संबंधों की विडंबनाएँ और रचनात्मक संघर्षों को सूक्ष्मता से व्यक्त किया है। आत्मकथा में आत्मस्वीकृति, मूल्यबोध और समाज के साथ अंतर्द्वंद्व की रेखाएँ स्पष्ट हैं। निष्कर्षतः, यह रचना हिंदी आत्मकथा-परंपरा में विचारशील स्त्री के आत्मबोध की ईमानदार और प्रभावशाली प्रस्तुति है।

2.3.vi. जो कहा नहीं गया (1996) — कुसुम अंसल

'जो कहा नहीं गया' कुसुम अंसल की आत्मकथात्मक कृति है, जिसमें उन्होंने एक स्त्री लेखिका के रूप में अपने जीवन के वे अनुभव साझा किए हैं जो अक्सर सामाजिक मर्यादाओं और पारिवारिक बंधनों के कारण दबे रह जाते हैं। कुसुम अंसल (जन्म 1940) हिंदी साहित्य की चर्चित कथाकार, उपन्यासकार व शिक्षाविद् रही हैं। उन्होंने अपने लेखन में नारी संवेदना, सामाजिक जड़ताओं और सांस्कृतिक विडंबनाओं को गहरी दृष्टि से उद्घाटित किया है। इस आत्मकथा में उन्होंने साहित्यिक यात्रा, स्त्री अस्मिता, पारिवारिक असंतोष और सामाजिक पहचान जैसे विषयों को आत्मविश्लेषणात्मक शैली में चित्रित किया है। उनकी भाषा भावपूर्ण, संवेदनशील और विचारशील है। रचना का शीर्षक ही संकेत करता है कि यह उन अनुभूतियों की प्रस्तुति है जिन्हें अक्सर स्त्रियाँ कह नहीं पातीं।

नासिरा शर्मा लिखती हैं कि "मेरे लिए इतना कहना काफी है कि मेरे परिवेश से अलग परिवेश में जीने वाली औरत सोने के जेवर गढ़वाने की जगह शब्दों के मोती जड़ने में व्यस्त है। उस मोती के सच्चे-झूठे होने और साहित्य के मानक पर कंसने को काम आने वाला समय करेगा।"*3 निष्कर्षतः, यह आत्मकथा हिंदी स्त्री आत्मलेखन की परंपरा में एक सशक्त और मौलिक हस्तक्षेप है, जो सामाजिक चुप्पियों को शब्द देती है।

2.3.vii. लगता नहीं दिल मेरा (1997) — कृष्णा अग्निहोत्री

'लगता नहीं दिल मेरा' कृष्णा अग्निहोत्री की आत्मकथात्मक रचना है, जो एक संवेदनशील लेखिका के जीवन-संघर्ष, आत्मसंघर्ष और सामाजिक अनुभवों का सजीव दस्तावेज़ प्रस्तुत करती है। कृष्णा अग्निहोत्री (जन्म 1936) हिंदी की प्रतिष्ठित कथाकार, नारी चेतना की प्रवक्ता और सामाजिक सरोकारों की मुखर लेखिका रही हैं। इस आत्मकथा में उन्होंने पारिवारिक उलझनों, स्त्री की अस्मिता-चेतना और रचनात्मक आत्मसंघर्ष को आत्मीयता से उकेरा है। वे न केवल अपने निजी जीवन की परतों को खोलती हैं, बल्कि एक

व्यापक सामाजिक-सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य भी सामने लाती हैं। “माँ मुझे प्यार नहीं करती थीं पर मैं अम्मा को हृदय से प्यार? करती थी। शायद माँ तो बच्चों की एक है, बच्चे कई होते है। मैं लडकी क्यों बनी, यह मुझे नहीं पता। यह लडकी कान्य कुब्ज तिवारी के यहाँ क्यों पैदा हुई? उससे पूछा नहीं गया।”*4 जीवनपर्यंत माँ के स्नेह व प्रेम के लिए मैं तरसती आई।"शीर्षक में निहित विडंबना उनके जीवन की भावनात्मक पीड़ा और असंतोष का प्रतीक है। आत्मकथा की भाषा आत्मीय, शैली आत्मकेंद्रित और दृष्टि विश्लेषणात्मक है। निष्कर्षतः यह कृति हिंदी आत्मकथा साहित्य में एक स्त्री की अंतर्दृष्टि और आत्मबोध का महत्वपूर्ण दस्तावेज़ है, जो पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री की मानसिक छटपटाहट को सशक्त रूप से अभिव्यक्त करती है।

2.3.viii. सुनहू तात यह अकथ कहानी (1998) — शिवानी

‘सुनहू तात यह अकथ कहानी’ (1998) हिंदी की सुप्रसिद्ध लेखिका शिवानी (1916–2003) की आत्मकथात्मक कृति है, जो संस्मरण, आत्मकथा और साहित्यिक इतिहास का एक अनोखा संगम प्रस्तुत करती है। शिवानी का वास्तविक नाम गौरा पंत था, और वे अपने उपन्यासों, नारी-चरित्रों तथा भावपूर्ण गद्य के लिए जानी जाती हैं।

इस कृति में उन्होंने अपने बचपन, कुमाऊंनी जीवनशैली, पारिवारिक पृष्ठभूमि, शिक्षा, यात्रा, और साहित्यिक विकास को आत्मीयता से चित्रित किया है। “मेरे पिता के शिष्य जसदण के आलाखाचर ने अन्त तक मेरी माँ को पेंशन दी, ओरछा महाराज बीरसिंह जू देव को मेरे पिता ने कभी गायत्री मन्त्र दिया था। पिता की मृत्यु हुई तो उन्होंने बड़े सम्मान से हमें बुला भेजा, मेरे भाई को अपना सेक्रेटरी बनाया, मेरा कन्यादान किया, हमें वे ही सुविधाएँ दीं, जो हमारे पिता को प्राप्त थीं। शायद यही कारण है कि अभी भी बुन्देलखंड मुझे अपना मायका ही लगता है। यह जन्मजात रईसी, तब सर्वत्र एक-सी थी।”*5 लेखिका का बाल्यकाल शांतिनिकेतन और काशी जैसे सांस्कृतिक केंद्रों में बीता, जिसका प्रभाव उनके

व्यक्तित्व और लेखन पर स्पष्ट है। शीर्षक तुलसीदास के एक छंद से लिया गया है, जो इस आत्मकथा के अनुभवों की अनकही, विशिष्ट और निजी प्रकृति को रेखांकित करता है। निष्कर्षतः 'सुनहू तात यह अकथ कहानी' हिंदी आत्मकथा-साहित्य में एक सौम्य, सांस्कृतिक और आत्मान्वेषी स्त्री स्वर है, जो शिवानी के जीवन और युग की गरिमामय झलक प्रदान करता है।

2.3.ix. बूंद बावड़ी (1999) — पद्मा सचदेवा

'बूंद बावड़ी' पद्मा सचदेवा की आत्मकथात्मक कृति है, जो उनके जीवन, संघर्ष और सृजन की यात्रा को भावपूर्ण अभिव्यक्ति प्रदान करती है। पद्मा सचदेवा (जन्म 1940 – निधन 2021) डोगरी और हिंदी की प्रतिष्ठित लेखिका थीं, जिन्हें साहित्य अकादमी पुरस्कार सहित अनेक सम्मानों से सम्मानित किया गया। वे आकाशवाणी में उद्घोषिका रहीं और उनके लेखन में पहाड़ी संस्कृति, स्त्री अनुभव और भाषा की गहन संवेदना झलकती है। 'बूंद बावड़ी' में उन्होंने नारी जीवन के सूक्ष्म मनोभावों, साहित्यिक जगत की चुनौतियों और सामाजिक असमानताओं को आत्मस्वीकृति की गहराई के साथ व्यक्त किया है। यह आत्मकथा डोगरी लोकसंस्कृति की जड़ों से जुड़ी एक रचनाशील चेतना की कहानी है। शीर्षक 'बूंद बावड़ी' स्त्री की भीतर की प्यास और जीवन के अर्थ की खोज का प्रतीक बनता है। निष्कर्षतः, यह कृति हिंदी आत्मकथात्मक साहित्य में एक लोकसंवेदित, स्त्री-केन्द्रित और सांस्कृतिक दस्तावेज़ के रूप में अत्यंत महत्वपूर्ण है।

2.3.x. कुछ कहीं कुछ अनकही (2000) — शीला झुनझुनवाला

'कुछ कहीं कुछ अनकही' शीला झुनझुनवाला की आत्मकथात्मक कृति है, जो एक स्त्री लेखिका के आत्मबोध, सामाजिक अनुभव और पारिवारिक विडंबनाओं की अंतर्यात्रा को स्वर देती है। शीला झुनझुनवाला (जन्म 1940) हिंदी साहित्य में आत्मकथात्मक लेखन के क्षेत्र में एक संवेदनशील, विचारशील और मौन तोड़ने वाली आवाज़ के रूप में पहचानी जाती हैं। इस आत्मकथा में उन्होंने एक संभ्रांत समाज की स्त्री होते हुए भी अपने भीतर के असंतोष,

सांस्कृतिक संकट और संबंधों की ऊहापोह को आत्मस्वीकृति के साहस के साथ प्रस्तुत किया है। रचना की भाषा सरल लेकिन भाव-गंभीर है, जो आत्मकथ्य को यथार्थ के धरातल पर टिकाए रखती है। शीर्षक ही इस बात की ओर संकेत करता है कि जो नहीं कहा गया, वही सबसे अधिक मार्मिक और महत्वपूर्ण है। निष्कर्षतः, यह आत्मकथा स्त्री की अव्यक्त वेदनाओं और अंतर्द्वंद्वों का प्रतिनिधि पाठ बनकर हिंदी आत्मकथा साहित्य को समृद्ध करती है।

2.3.xi. कस्तूरी कुंडल बसे (2002)— मैत्रेयी पुष्पा

'कस्तूरी कुंडल बसे' मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथात्मक कृति है, जो नारी अस्मिता, ग्रामीण जीवन और साहित्यिक संघर्षों की गहन पड़ताल प्रस्तुत करती है। मैत्रेयी पुष्पा (जन्म 1944) समकालीन हिंदी साहित्य की प्रमुख कथाकार हैं, जिन्होंने विशेषतः स्त्री विमर्श को ग्रामीण यथार्थ और विद्रोही स्वर के साथ प्रस्तुत किया। इस आत्मकथा में उन्होंने अपने बचपन, विवाह, संघर्षशील लेखिका बनने की प्रक्रिया और सामाजिक रूढ़ियों से टकराव को बेबाकी से व्यक्त किया है। 'कस्तूरी' यहाँ स्त्री की उस आत्मचेतना का प्रतीक है, जिसे समाज बाहर खोजता है जबकि वह भीतर विद्यमान होती है। मैत्रेयी पुष्पा एक जगह लिखती हैं कि "तू मुझे गलत समझ रही है। मेरा मतलब यह नहीं कि विवाह बुरी चीज है। यह औरत के लिए ऐसे बन्धन पैदा करता है, जो जीवन-भर कसे रहते हैं। पति के रहने पर भी और न रहने पर भी। पति की पसन्द-नापसन्द दोनों औरत पर ही भारी पड़ती हैं। तूने किसी विधुर को विधवा की तरह रहते देखा है ? किसी छोड़ी हुई औरत की तरह उसके पुरुष का अपमान होता है ? और ये बातें अशिक्षित लोगों में तो अत्याचार की हद तक जा पहुँचती हैं।"6 उनकी भाषा आंचलिक, बेलौस और जीवंत है, जो आत्मकथा को विशिष्ट पहचान देती है। यह रचना सिर्फ व्यक्तिगत नहीं, एक पूरे वर्ग की सामूहिक पीड़ा और प्रतिरोध की कथा बन जाती है। वस्तुतः 'कस्तूरी कुंडल बसे' हिंदी आत्मकथा साहित्य में स्त्री-केन्द्रित यथार्थ और आत्मबोध की विलक्षण प्रस्तुति है।

2.3.xii. शब्दकाया (2005) — सुनीता जैन

'शब्दकाया' डॉ. सुनीता जैन की आत्मकथात्मक कृति है, जो एक लेखिका, अनुवादक, शिक्षिका और स्त्री के बहुआयामी जीवन को रचनात्मक गरिमा के साथ प्रस्तुत करती है। सुनीता जैन (1940–2017) हिंदी और अंग्रेज़ी साहित्य की प्रतिष्ठित साहित्यकार थीं, जिन्होंने उपन्यास, कविता, अनुवाद और आलोचना के क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान दिया। 'शब्दकाया' में उन्होंने भाषा, लेखन और स्त्री-जीवन के बीच अपने अनुभवों, द्वंद्वों और विचारों को विश्लेषणात्मक संवेदनशीलता से उकेरा है। आत्मकथा में उनके शैक्षिक जीवन, पारिवारिक दायित्वों और साहित्यिक चेतना की झलक मिलती है। उनका लेखन गहन, संयत और आत्ममंथन से परिपूर्ण है, जो उन्हें आत्मकथा विधा में भी विशिष्ट बनाता है। शीर्षक 'शब्दकाया' स्वयं एक प्रतीक है—शब्दों से बनी वह सत्ता जो लेखिका के अस्तित्व और विचारों को आकार देती है। निष्कर्षतः, यह आत्मकथा हिंदी की बौद्धिक स्त्री चेतना का एक सशक्त और गरिमामय दस्तावेज़ है।

2.3.xiii. हादसे (2005) — रमणिका गुप्ता

'हादसे' (2005) रमणिका गुप्ता की आत्मकथात्मक कृति है, जो एक स्त्री के संघर्ष, विद्रोह और सामाजिक-सांस्कृतिक टकरावों की मार्मिक दास्तान प्रस्तुत करती है। रमणिका गुप्ता (1930–2019) प्रसिद्ध साहित्यकार, समाजसेविका, ट्रेड यूनियन नेता और आदिवासी अधिकारों की मुखर प्रवक्ता थीं। 'हादसे' में उन्होंने न केवल अपने व्यक्तिगत जीवन के दारुण अनुभवों—बाल विवाह, दांपत्य हिंसा, यौन शोषण—को निर्भीकता से उजागर किया है, बल्कि पितृसत्ता, जातिवाद और वर्ग भेद जैसी सामाजिक संरचनाओं की तीव्र आलोचना भी की है। आत्मकथा की भाषा विद्रोही, तटस्थ और विचारोत्तेजक है, जो पाठक को भीतर तक झकझोरती है। वे एक जगह लिखती हैं कि "हमारा परिवार सामन्ती परिवार था पर आधुनिकता में अपने समय के अनुसार सबसे आगे था, जैसा कि हर सामन्ती परिवार दिखावा

करता है, होड़ लगाता है। घर में परदा-प्रथा लागू थी, हालाँकि मेरे पिता और मेरी माँ ने लीक से हटकर घर के लोगों में परदा करवाना समाप्त करवा दिया था। मेरी माँ (साहबों की मेमों की तरह) मेरे पिता के साथ दौरे पर जाया करती थीं, फिर भी परिवार में लड़कियों का सिर ढकना लाज़िमी था। ताँगे में भी चारों तरफ परदा लगा दिया जाता था।"***7** यह रचना आत्मस्वीकृति के साथ-साथ स्त्रीवादी दृष्टिकोण का भी गंभीर दस्तावेज़ है। निष्कर्षतः, 'हादसे' नारी आत्मकथात्मक लेखन की परंपरा में एक साहसी हस्तक्षेप है, जो स्त्री जीवन की अंधेरी गुफाओं में प्रकाश डालती है और उसे सामाजिक प्रतिरोध में बदलती है।

2.3.xiii. अनपढ़ कहानी (2005)— सुशील राय

'अनपढ़ कहानी' (2005) सुशील राय की आत्मकथात्मक कृति है, जो एक दलित महिला के आत्मबोध, संघर्ष और सामाजिक यथार्थ की बेबाक प्रस्तुति करती है। सुशील राय (जन्म 1955) हिंदी की महत्त्वपूर्ण दलित महिला लेखिकाओं में से हैं, जिनका लेखन हाशिए की आवाज़ को साहित्यिक स्वर देता है। इस आत्मकथा में उन्होंने जातिगत भेदभाव, स्त्री उत्पीड़न और शिक्षा के अभाव में पनपते आत्मसंघर्ष को सजीव अनुभवों के माध्यम से रेखांकित किया है। 'अनपढ़' शब्द जहाँ शैक्षणिक वंचना का संकेत देता है, वहीं 'कहानी' उनकी जीवटता, संवेदना और आत्मविश्वास की कथा बन जाती है। कृति की भाषा सहज, अनुभवजन्य और प्रतिरोधी चेतना से ओतप्रोत है। यह आत्मकथा न केवल निजी पीड़ा का दस्तावेज़ है, बल्कि एक सामाजिक ढांचे की आलोचना भी प्रस्तुत करती है। निष्कर्षतः, 'अनपढ़ कहानी' दलित स्त्री आत्मकथाओं की परंपरा में एक सशक्त, सत्यनिष्ठ और परिवर्तनकामी हस्तक्षेप है।

2.3.xiv. अन्या से अन्यया (2007)— प्रभा खेतान

'अन्या से अन्यया' (2007) प्रभा खेतान की चर्चित आत्मकथात्मक कृति है, जो एक स्त्री के भीतर-बाहर के संघर्ष, प्रेम, अकेलेपन और आत्मबोध की मर्मस्पर्शी कथा है। प्रभा खेतान (1942–2008) हिंदी की प्रतिष्ठित लेखिका, समाजसेविका और व्यवसाय जगत में

स्थापित स्वतंत्र महिला थीं। इस आत्मकथा में उन्होंने अपने जीवन के उन पहलुओं को उजागर किया जिन्हें समाज अक्सर छिपाना चाहता है—एक विवाहित पुरुष से प्रेम, भावनात्मक निर्भरता, स्त्री होने की कीमत और पहचान की लड़ाई। 'अन्या' से 'अन्यया' बनने की यह यात्रा, स्त्री की आत्म-पीड़ा से आत्म-सत्ता तक की जटिल प्रक्रिया है। आत्मकथा की भाषा सहज, संवेदनशील और आत्मविश्लेषी है, जो पाठक को भीतर तक आंदोलित करती है। यह रचना नारी के मानसिक, सामाजिक और भावनात्मक यथार्थ को साहसपूर्वक प्रस्तुत करती है। निष्कर्षतः, 'अन्या से अन्यया' हिंदी आत्मकथा साहित्य में स्त्री स्वतंत्रता और आत्मबोध की एक विलक्षण व प्रखर अभिव्यक्ति है।

2.3.xv. एक कहानी यह भी (2007) — मन्नू भंडारी

'एक कहानी यह भी' (2007) मन्नू भंडारी की आत्मकथात्मक कृति है, जो हिंदी साहित्य की प्रख्यात लेखिका के जीवन के निजी और साहित्यिक पक्षों को गहन आत्मस्वीकृति और संवेदना के साथ उजागर करती है। मन्नू भंडारी (1931–2021) नई कहानी आंदोलन की प्रमुख हस्ती थीं, जिनका लेखन सामाजिक यथार्थ और स्त्री विमर्श से गहरे रूप में जुड़ा रहा। इस आत्मकथा में उन्होंने अपने लेखक-पति राजेंद्र यादव के साथ संबंधों की जटिलता, वैवाहिक जीवन के तनाव, स्त्री की आकांक्षाओं और पहचान की द्वंद्वात्मक यात्रा को बिना लाग-लपेट के प्रस्तुत किया है। शीर्षक 'एक कहानी यह भी' इस बात का संकेत है कि लेखिका का अपना जीवन भी किसी गूढ़ कथा से कम नहीं। उनकी भाषा सरल, पारदर्शी और आत्मनिरीक्षण से भरी हुई है। निष्कर्षतः, यह आत्मकथा हिंदी साहित्य में स्त्री चेतना, वैचारिक स्वतंत्रता और आत्मबोध की ईमानदार और ऐतिहासिक दस्तावेज़ी प्रस्तुति है।

2.3.xvi. पिंजरे की मैना (2008)— चंद्रकिरण सौनरेक्सा

'पिंजरे की मैना चंद्रकिरण' (2008) सौनरेक्सा की आत्मकथात्मक कृति है, जो एक स्त्री की मानसिक कैद, पारिवारिक विडंबना और आत्मखोज की संवेदनशील पड़ताल करती

है। सौनरेक्सा (पूरा नाम: सौनरेक्सा चंद्रकिरण) एक शिक्षित महिला थीं, जो समाज की पितृसत्तात्मक जकड़नों और मानसिक उत्पीड़न के अनुभवों से जूझती रहीं। इस आत्मकथा में उन्होंने 'मैना'—एक सुंदर, संवेदनशील, परन्तु पिंजरे में बंद पक्षी—के रूपक के ज़रिए अपने जीवन की त्रासदी और चेतना को उजागर किया है। रचना में विवाह संस्था, मानसिक स्वास्थ्य, स्त्री की मौन वेदना और पहचान के संकट को बेहद मार्मिकता से प्रस्तुत किया गया है। भाषा भावनात्मक, प्रतीकात्मक और आत्मनिरीक्षणात्मक है, जो पाठक को भीतर तक झकझोरती है। निष्कर्षतः, 'पिंजरे की मैना चंद्रकिरण' हिंदी आत्मकथा साहित्य में स्त्री मानसिकता, अस्मिता और मौन विद्रोह की एक अनोखी, सशक्त और मार्मिक प्रस्तुति है।

2.3.xvii. गुड़िया भीतर गुड़िया (2008) — मैत्रेयी पुष्पा

'गुड़िया भीतर गुड़िया' मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथात्मक कृति है, जो एक ग्रामीण स्त्री के भीतर छिपी परतों, विडंबनाओं और विद्रोह की मार्मिक कथा प्रस्तुत करती है। मैत्रेयी पुष्पा (जन्म 1944) हिंदी की प्रमुख लेखिका हैं, जिन्होंने विशेषतः ग्रामीण स्त्री जीवन, यौन शोषण, सामाजिक असमानता और स्त्री स्वायत्तता जैसे विषयों को साहसिकता से उठाया। इस आत्मकथा में उन्होंने अपने बचपन, पारिवारिक संघर्षों, विवाह, स्त्री-पुरुष संबंधों और लेखिका बनने की जटिल यात्रा को एक स्त्री के अंतर्विरोधों के भीतर झांकते हुए प्रस्तुत किया है। 'गुड़िया भीतर गुड़िया' शीर्षक स्वयं संकेत करता है कि हर स्त्री के भीतर अनेक सामाजिक रूपों से गूंथी गई, कई परतों में लिपटी असल 'मैं' छिपी होती है। निष्कर्षतः यह कृति हिंदी आत्मकथा साहित्य में स्त्री अस्मिता की गहरी पड़ताल और पितृसत्ता को चुनौती देती एक साहसी और आत्मदर्शी दस्तावेज़ के रूप में विशिष्ट स्थान रखती है।

2.3.xviii. दोहरा अभिशाप (2009)— कौशल्या बेसंती

'दोहरा अभिशाप' कौशल्या बेसंती की अत्यंत महत्वपूर्ण आत्मकथात्मक कृति है, जो एक आदिवासी और स्त्री होने के दोहरे उत्पीड़न को उजागर करती है। कौशल्या बेसंती

छत्तीसगढ़ की एक जनपक्षधर आदिवासी लेखिका हैं, जिन्होंने अपने जीवन में जाति, वर्ग और लिंग के आधार पर होने वाले भेदभाव को झेला और उसे बेबाकी से शब्दों में ढाला। इस आत्मकथा में उन्होंने अपने बचपन की गरीबी, शिक्षा के संघर्ष, घरेलू हिंसा, शोषण और सामाजिक बहिष्कार के अनुभवों को न केवल व्यथा के रूप में, बल्कि प्रतिरोध की चेतना के साथ प्रस्तुत किया है। 'दोहरा अभिशाप' आदिवासी स्त्री की उस दुर्दशा को दर्शाता है, जो न सिर्फ़ पितृसत्ता बल्कि ब्राह्मणवादी और पूंजीवादी संरचनाओं की शिकार है। निष्कर्षतः यह आत्मकथा दलित-आदिवासी स्त्री विमर्श की सशक्त प्रस्तुति है, जो हिंदी साहित्य में हाशिए की आवाज़ को केन्द्रीयता प्रदान करती है।

2.3.xix. हाशिए की इबारतें (2009) — चन्द्रकान्ता

'हाशिए की इबारतें' प्रसिद्ध हिंदी लेखिका चन्द्रकान्ता की आत्मकथात्मक कृति है, जो भारतीय उपनिवेशवाद, कश्मीर के सांस्कृतिक संकट, और एक स्त्री रचनाकार की अस्मिता को आत्मस्वीकृतिपूर्ण स्वर देती है। चन्द्रकान्ता (जन्म 1938) कश्मीर से संबंध रखने वाली हिंदी की विशिष्ट कथाकार हैं, जिन्होंने "कश्मीर कथा" के माध्यम से कश्मीरी समाज और विशेषतः विस्थापन की पीड़ा को साहित्य में स्थान दिया।

इस आत्मकथा में उन्होंने न केवल अपने व्यक्तिगत अनुभवों—शिक्षा, पारिवारिक जीवन, स्त्री संघर्ष—को स्थान दिया है, बल्कि एक लेखिका के रूप में साहित्यिक जगत की पितृसत्तात्मक संरचना और कश्मीरी पंडित समुदाय के विस्थापन को भी गहरी संवेदना और राजनीतिक चेतना के साथ प्रस्तुत किया है। 'हाशिए' यहाँ प्रतीक है उन अनुभवों का, जिन्हें मुख्यधारा अक्सर दरकिनार कर देती है। निष्कर्षतः 'हाशिए की इबारतें' हिंदी आत्मकथा साहित्य में स्त्री, विस्थापन और सांस्कृतिक पहचान के संघर्षों का संवेदनशील और गंभीर दस्तावेज़ है, जो हाशिए को केंद्र में लाने का सशक्त प्रयास करता है।

2.3.xx. 'लगता नहीं है दिल मेरा' (1997) और 'और और औरत' (2010)— कृष्णा अग्निहोत्री

'लगता नहीं है दिल मेरा' (1997) और 'और और औरत' (2010) कृष्णा अग्निहोत्री की दो आत्मकथात्मक कृतियाँ हैं, जो एक स्त्री के जीवन के विभिन्न चरणों, संघर्षों और आत्मबोध की यात्रा को क्रमिक और गहराईपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करती हैं। कृष्णा अग्निहोत्री (1936–2013) हिंदी की प्रख्यात कथाकार थीं, जिनका लेखन स्त्री अस्मिता, भावनात्मक विडंबना और सामाजिक विसंगतियों की मार्मिक पड़ताल करता है।

'लगता नहीं है दिल मेरा' एक युवा स्त्री की जीवन-यात्रा है, जिसमें पारिवारिक उपेक्षा, असफल दांपत्य संबंध, सामाजिक असंवेदनशीलता और आत्मसंघर्ष की कथा सामने आती है। इस कृति में लेखिका ने अपनी भावनात्मक पीड़ा को सादगी और ईमानदारी से अभिव्यक्त किया है। वहीं, 'और और औरत' में वही स्त्री लेखिका जीवन के उत्तरार्ध में समाज, संबंध और स्त्रीत्व को अधिक विचारशील और वैचारिक दृष्टि से देखती है। यह कृति स्त्री की बहुस्तरीय भूमिकाओं—मां, पत्नी, रचनाकार, प्रेमिका—के बीच उसकी मूल पहचान की खोज है।

दोनों आत्मकथाओं की भाषा आत्मीय, पारदर्शी और विश्लेषणात्मक है। इनमें स्त्री का मानसिक संसार, उसकी चुप्पियाँ, असहमति और प्रतिरोध सजीव रूप में उभरता है। 'और और औरत' शीर्षक स्वयं स्त्री के सामाजिक पुनरावृत्त पहचान संकट का प्रतीक बनता है, जबकि 'लगता नहीं है दिल मेरा' उसकी भावनात्मक दरारों और जीवन की रिक्तता की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति है। निष्कर्षतः कृष्णा अग्निहोत्री की ये दोनों आत्मकथाएँ मिलकर एक स्त्री की अंतर्यात्रा का ऐसा ईमानदार और वैचारिक दस्तावेज़ रचती हैं, जो न केवल आत्मकथा विधा को समृद्ध करती हैं, बल्कि हिंदी स्त्री विमर्श को एक गहन आत्मस्वीकृति और आत्मप्रतिरोध की ज़मीन भी प्रदान करती हैं।

2.3.xxi. शिकंजी का दर्द (2011) — सुशीला टाकभौरे

'शिकंजी का दर्द' सुशीला टाकभौरे की आत्मकथात्मक कृति है, जो दलित स्त्री जीवन के बहुस्तरीय संघर्ष, अपमान और आत्मबोध की मार्मिक व वैचारिक प्रस्तुति करती है। सुशीला टाकभौरे (जन्म 1956) हिंदी की प्रमुख दलित स्त्री लेखिका हैं, जिनका लेखन जाति, लिंग और वर्ग के त्रिकोणीय उत्पीड़न को प्रतिरोध की दृष्टि से उजागर करता है।

इस आत्मकथा में उन्होंने एक दलित स्त्री के रूप में अपने बचपन, सामाजिक बहिष्कार, शैक्षिक संघर्ष, साहित्यिक पहचान और पुरुष वर्चस्व से जूझते अनुभवों को बेबाकी से प्रस्तुत किया है। 'शिकंजी का दर्द' शीर्षक प्रतीकात्मक रूप से उस कड़वाहट और पीड़ा की ओर संकेत करता है जिसे दलित स्त्रियाँ पीती तो हैं, पर व्यक्त नहीं कर पातीं। निष्कर्षतः यह आत्मकथा दलित स्त्री विमर्श की प्रमुख कड़ी है, जो आत्मकथात्मक साहित्य में वंचित स्वर को केंद्रीय मंच प्रदान करती है और सामाजिक अन्याय पर एक सशक्त वैचारिक हस्तक्षेप प्रस्तुत करती है।

2.3.xxii. आरोह – अवरोह (2015) — डॉ. सुषम बेदी

'आरोह–अवरोह' (2015) डॉ. सुषम बेदी की आत्मकथात्मक कृति है, जो एक प्रवासी भारतीय स्त्री की पहचान, सांस्कृतिक द्वंद्व और रचनात्मक यात्रा की गहरी पड़ताल प्रस्तुत करती है। डॉ. सुषम बेदी (1945–2020) हिंदी की प्रतिष्ठित कथाकार, कवयित्री और कोलंबिया विश्वविद्यालय (अमेरिका) में प्रोफेसर थीं। उनका लेखन प्रवासी अनुभव, स्त्री विमर्श और सांस्कृतिक अस्मिता के विमर्श से समृद्ध है।

'आरोह–अवरोह' शीर्षक स्वयं जीवन की ऊँच-नीच, उपलब्धियों और विफलताओं के बीच झूलती लेखिका की मानसिक और बौद्धिक यात्रा का प्रतीक है। इस आत्मकथा में उन्होंने अमेरिका में प्रवासी जीवन के अकेलेपन, मातृत्व, संबंधों की जटिलता और लेखन की चुनौतीपूर्ण दुनिया को आत्मविश्लेषणात्मक शैली में प्रस्तुत किया है। भाषा में प्रवाह,

आत्मनिरीक्षण और गहराई है। निष्कर्षतः 'आरोह–अवरोह' हिंदी प्रवासी आत्मकथाओं की परंपरा में एक सशक्त स्त्री स्वर है, जो वैश्विक संदर्भ में भारतीय नारी की जिजीविषा और आत्मसंघर्ष को प्रभावशाली ढंग से उजागर करता है।

2.3.xxiii. आपहूदरी (2015) — रमणिका गुप्ता

'आपहूदरी' रमणिका गुप्ता की आत्मकथात्मक कृति है, जो एक स्त्री, लेखिका, राजनीतिक कार्यकर्ता और सामाजिक परिवर्तन की आकांक्षी नागरिक के रूप में उनके जीवन के गहन अनुभवों का दस्तावेज़ है। रमणिका गुप्ता (1930–2019) हिंदी की प्रख्यात साहित्यकार, ट्रेड यूनियन नेता और आदिवासी-दलित अधिकारों की मुखर आवाज़ थीं।

'आपहूदरी' में उन्होंने अपने राजनीतिक जीवन, स्त्री-स्वातंत्र्य, पारिवारिक विडंबनाओं और सामाजिक संघर्षों को ईमानदारी और निर्भीकता के साथ प्रस्तुत किया है। 'आपहूदरी' शब्द स्वयं 'अपनी हदों को लांघने' की मानसिक और सामाजिक प्रक्रिया का प्रतीक है। इस आत्मकथा में स्त्री केवल उत्पीड़ित नहीं, बल्कि लड़ने वाली, रास्ता बनाने वाली और सवाल खड़ी करने वाली चेतना बनकर उभरती है। निष्कर्षतः 'आपहूदरी' हिंदी आत्मकथा साहित्य में स्त्री के सामाजिक, राजनीतिक और वैचारिक हस्तक्षेप का एक प्रखर उदाहरण है, जो दलित-स्त्री-नारी विमर्श को समृद्ध करती है और आत्मकथा को प्रतिरोध का माध्यम बनाती है।

2.3.xxix. जमाने में हम (2015) — डॉ. निर्मला जैन

'जमाने में हम' (2015) डॉ. निर्मला जैन की आत्मकथात्मक कृति है, जो एक शिक्षिका, आलोचक और स्त्री के रूप में उनके बहुआयामी जीवन, वैचारिक संघर्ष और साहित्यिक योगदान की साक्षी है। डॉ. निर्मला जैन (जन्म 1933) हिंदी आलोचना की विशिष्ट विद्वान और दिल्ली विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग की पूर्व अध्यक्ष रही हैं। उनका जीवन अकादमिक, बौद्धिक और स्त्री चेतना से ओतप्रोत रहा है।

इस आत्मकथा में उन्होंने न केवल एक शिक्षिका और विचारक के रूप में अपनी भूमिका को रेखांकित किया है, बल्कि अपने समय के साहित्यिक परिवेश, पुरुष वर्चस्व, संस्थागत राजनीति और स्त्री की अस्मिता को भी आत्मविश्लेषण की दृष्टि से प्रस्तुत किया है। भाषा संयत, विचारशील और बौद्धिक ऊर्जा से भरी हुई है।निष्कर्षतः 'जमाने में हम' हिंदी आत्मकथा साहित्य में एक वैचारिक, प्रामाणिक और आत्मस्वीकृत स्त्री वक्तव्य है, जो साहित्यिक इतिहास और स्त्री विमर्श दोनों में महत्वपूर्ण हस्तक्षेप करता है।

2.3.xxv. राजपथ से लोकपथ (2016) — मृदुला सिन्हा

'राजपथ से लोकपथ' मृदुला सिन्हा की आत्मकथात्मक कृति है, जो एक स्त्री की जीवन यात्रा को सत्ता के शिखर से जनमानस की धरती तक ले जाकर उसकी बहुआयामी पहचान को उजागर करती है। मृदुला सिन्हा (1942–2020) एक प्रख्यात लेखिका, समाजसेवी, शिक्षिका, भारतीय जनता पार्टी की वरिष्ठ नेता तथा गोवा की राज्यपाल रही हैं। साहित्य, राजनीति और समाज—तीनों क्षेत्रों में उनका सक्रिय योगदान रहा।

इस आत्मकथा में उन्होंने एक मध्यमवर्गीय स्त्री से राष्ट्र की निर्णायक भूमिकाओं तक पहुँचने की यात्रा को सहज भाषा में प्रस्तुत किया है। साथ ही, ग्रामीण संस्कृति, स्त्री शिक्षा, लोक परंपरा और राष्ट्रीय सेवा के बीच संतुलन बनाए रखने के प्रयासों को आत्मीयता से रेखांकित किया है। शीर्षक प्रतीक है उस बदलाव का, जहाँ राजपथ की भव्यता से लोकपथ की सरलता में लेखिका उतरती हैं। निष्कर्षतः यह आत्मकथा हिंदी साहित्य में स्त्री नेतृत्व, लोकसंस्कृति और संवेदनशील प्रशासन का एक प्रेरक, प्रामाणिक और विचारशील दस्तावेज़ है।

वस्तुतः हिंदी साहित्य में आत्मकथा एक सशक्त विधा है, जो लेखक के व्यक्तिगत अनुभवों को सामाजिक यथार्थ के साथ जोड़ती है। जब यह आत्मकथा स्त्री द्वारा रची जाती है, तो वह केवल जीवन की व्यथा-कथा नहीं रह जाती, बल्कि वह स्त्री अस्मिता, सामाजिक

पितृसत्ता और सांस्कृतिक विवशताओं के विरुद्ध एक प्रतिरोध का स्वर बन जाती है। प्रस्तुत उप-अध्याय हिंदी की प्रमुख स्त्री आत्मकथाओं का विवेचनात्मक परिचय देता है, जिसमें विविध सामाजिक, जातीय, वर्गीय और वैचारिक पृष्ठभूमियों की लेखिकाओं के अनुभवों को समाहित किया गया है।

आत्मकथा लेखन स्त्रियों के लिए सदैव एक चुनौतीपूर्ण कार्य रहा है। समाज ने उन्हें परिभाषित भूमिकाओं—पत्नी, माँ, बहू—तक सीमित किया, और 'स्व' की चेतना को कुंठित किया। ऐसे में आत्मकथा उनके लिए आत्मबोध और आत्मप्रकाश का माध्यम बनी। दुखिनी बाला घोषाल की 'सरला: एक विधवा की आत्मजीवनी' इस परंपरा की प्रारंभिक कड़ी है, जो विधवा जीवन की पीड़ा और सामाजिक उपेक्षा को मुखर करती है। जानकी देवी बजाज की 'मेरी जीवन यात्रा' स्वतंत्रता संग्राम में स्त्री की भागीदारी और उसकी राजनीतिक चेतना को रेखांकित करती है।

मैत्रेयी पुष्पा, कृष्णा अग्निहोत्री, मन्नू भंडारी, रमणिका गुप्ता जैसी लेखिकाओं की आत्मकथाएँ आत्मसंघर्ष, अस्मिता-बोध और सामाजिक रूढ़ियों के प्रतिरोध की स्पष्ट उद्घोषणा हैं। इनकी रचनाओं में स्त्री की चुप्पी शब्दों में बदलती है, और वह स्वयं अपनी व्याख्या करती है। जैसे, प्रभा खेतान की 'अन्या से अन्यया' प्रेम, अकेलेपन और पहचान की गूढ़ यात्रा है, वहीं सुशील राय की 'अनपढ़ कहानी' जाति और लिंग के द्वैध उत्पीड़न को बेबाकी से प्रस्तुत करती है। रमणिका गुप्ता की 'हादसे' और 'आपहूदरी' स्त्री के साहसी सामाजिक-राजनीतिक हस्तक्षेप का उदाहरण बनती हैं।

इन आत्मकथाओं की भाषा, शैली और दृष्टिकोण भिन्न होते हुए भी एक साझा स्वर में बँधे हैं—स्त्री की चुप्पी को तोड़ने का स्वर। यह लेखन सिर्फ़ व्यक्तिगत नहीं, बल्कि व्यापक सामाजिक सन्दर्भों की पड़ताल करता है। इन रचनाओं में लेखिकाएँ अपने अनुभवों के माध्यम से उस समाज को टटोलती हैं, जो स्त्री को मौन और अदृश्य बनाए रखने का

प्रयास करता है। यहाँ आत्मकथा एक वैचारिक दस्तावेज़ बन जाती है, जो नारीवाद, दलित विमर्श और आदिवासी चेतना जैसे विमर्शों को सशक्त आधार देती है।

निस्संदेह, हिंदी की ये स्त्री आत्मकथाएँ साहित्य में एक नई संवेदनशीलता, वैचारिक गहराई और सामाजिक यथार्थ की दृष्टि लेकर आई हैं। ये आत्मकथाएँ न केवल इतिहास का पुनर्लेखन हैं, बल्कि एक वैकल्पिक स्त्री इतिहास की रचना भी करती हैं, जहाँ स्त्री स्वयं इतिहास-निर्माता के रूप में उपस्थित होती है।

संदर्भ :

1. चंद सतरें और, अनीता राकेश , पृष्ठ संख्या 29-30
2. https://tinyurl.com/njzmjp6r
3. जो नहीं कहा गया, कुसुम अंसल, (फ़्लैप से)
4. लगता नहीं है दिल मेरा, कृष्णा अग्निहोत्री, पृष्ठ संख्या 22
5. सुनहू तात यह अकथ कहानी, शिवानी, पृष्ठ संख्या 2
6. कस्तूरी कुंडल बसे, मैत्रेयी पुष्पा, पृष्ठ संख्या 64
7. हादसे, रमणिका गुप्ता, पृष्ठ संख्या 10

अध्याय : 3

हिंदी-आत्मकथाओं के परिप्रेक्ष्य में स्त्री-विमर्श की अवधारणा

3.1 —साहित्य में विमर्श की अवधारणा

3.2 — पाश्चात्य एवं भारतीय संदर्भ में स्त्री-विमर्श की अवधारणा

3.3 — हिंदी की स्त्री-आत्मकथाओं के विभिन्न परिप्रेक्ष्य

3.1

साहित्य में विमर्श की अवधारणा

साहित्य मानव जीवन की उदात्तता और उत्कृष्टता का संवाहक माध्यम है। इसकी प्राथमिकता क्षणिक घटनाओं के वर्णन में नहीं, बल्कि मनुष्य के दीर्घकालिक अनुभवों, संघर्षों एवं मूल्यों के सारगर्भित संकलन में निहित होती है। इस दृष्टि से, साहित्य मानवीय चेतना के सामूहिक सत्व का प्रतिनिधित्व करता है। तथापि, इस सत्व को आत्मसात करने की प्रक्रिया में समयानुकूल परिवर्तित होती सामाजिक, सांस्कृतिक और वैचारिक माँगें भी अंतर्भूत होती रहती हैं। ये माँगें केवल किसी एक वर्ग की नहीं, बल्कि व्यापक मानवता के कल्याण की आकांक्षा को स्वर देती हैं। इनमें समाज के विभिन्न वर्गों, विशेषतः वंचित एवं हाशिए पर स्थित समूहों की चिंताओं और आकांक्षाओं का भी आह्वान निहित होता है।

साहित्यिक विमर्श उन विविध 'आवाज़ों' का सैद्धांतिक और रचनात्मक प्रतिबिंब है, जो सामाजिक न्याय, प्रतिनिधित्व और समावेशिता की आकांक्षाओं से उद्भूत होती हैं। यद्यपि संवाद, असहमति और वैचारिक टकराव की प्रवृत्तियाँ प्राचीन साहित्य में भी विद्यमान रही हैं, तथापि 'विमर्श' को एक सुव्यवस्थित, आलोचनात्मक और अकादमिक पद्धति के रूप में समझने और गढ़ने की प्रक्रिया आधुनिक युग की विशेष उपज मानी जाती है। आधुनिकता के प्रभाव में जब ज्ञान-मीमांसा और समाज-समीक्षा के क्षेत्र में प्रश्नाकुलता बढ़ी, तब 'विमर्श' ने एक सुस्पष्ट सैद्धांतिक स्वरूप ग्रहण किया। व्यापक संदर्भ में, जहाँ भी बौद्धिक प्रणाली 'why' जैसे प्रश्नों की उत्पत्ति करती है, वहीं से विमर्श की अवधारणा प्रारंभ होती है। इस दृष्टि से, 'विमर्श' को मानवीय जिज्ञासा, आलोचनात्मक चेतना और न्याय की स्थापना हेतु प्रयत्नशील बौद्धिक सक्रियता का प्रतिफल माना जा सकता है।

विमर्श के विषय-विस्तार को निर्धारित करते हुए आलोचक अर्चना वर्मा कहती हैं कि, "सामान्य वार्तालाप, नेता का भाषण, अभिनेता का संवाद, चिट्ठी, व्रत-कथा, पॉप और पल्प

किस्मों के साहित्य से लेकर गम्भीर शुद्ध साहित्य तक ; इसके अलावा इतिहास, राजनीति, समाजशास्त्र, समाजकार्य, भाषा-शास्त्र, नृतत्व, संज्ञानात्मक मनोविज्ञान, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, मानवीय भूगोल, सम्प्रेषण विज्ञान अनुवाद शास्त्र आदि अकादमिक अनुशासन वगैरह सब कुछ विषयवस्तु के साथ सम्बद्ध किया जाकर विमर्श में उद्धरणीय हो सकता है।"*1

वस्तुतः विमर्श एक ऐसी बहुआयामी बौद्धिक संरचना है, जो न केवल विचारों की गहनता, आलोचनात्मक पड़ताल और विश्लेषणात्मक संवाद की प्रक्रिया को प्रकट करती है, अपितु यह वैचारिक अंतःक्रिया का एक सुदृढ़ मंच भी प्रदान करती है। यह केवल सतही विमर्श अथवा 'talketivity' तक सीमित नहीं है, बल्कि विषयगत अंतर्वस्तु पर आधारित विचारों के गहन आदान-प्रदान की सृजनात्मक पद्धति है। विमर्श की अवधारणा अत्यंत व्यापक है क्योंकि इसमें सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, भाषिक और सैद्धांतिक तत्वों का समावेश होता है।

3.1.i. विमर्श की परिभाषाएँ—

ऑक्सफ़र्ड एडवांस्ड लर्नर्स डिक्शनरी (2010) के अनुसार 'Discourse' का तात्पर्य है— *"A long and serious treatment or discussion of a subject in speech or writing: a discourse on issues of gender and sexuality"*2* —अर्थात् यह किसी विषय पर गंभीर और दीर्घकालिक वैचारिक अनुशीलन को इंगित करता है, चाहे वह भाषण के माध्यम से हो अथवा लेखन के द्वारा। अतः विमर्श को एक सैद्धांतिक उपकरण के रूप में समझा जा सकता है, जिसके माध्यम से सत्ता-संबंध, भाषाई निर्माण, सामाजिक संरचनाएँ एवं विचारधारात्मक प्रक्रिया का विश्लेषण संभव होता है।

पश्चिमी विमर्श-सिद्धांत के आधार पर मिशेल फूको विमर्श को 'ज्ञान और सत्ता की वह प्रणाली' मानते हैं जो किसी युग या समाज में सत्य को नियंत्रित करती है। फूको के अनुसार— "Discourse is not simply that which translates struggles or

systems of domination, but is the thing for which and by which there is struggle."*3 इसका निहितार्थ यह है कि विमर्श सत्ता की संरचनाओं को न केवल प्रकट करता है, बल्कि उनके विरुद्ध संघर्ष का उपकरण भी बनता है।

भारतीय भाषिक एवं सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में डॉ. नामवर सिंह विमर्श को 'ऐसी वैचारिक पद्धति" के रूप में देखते हैं जो "साहित्य को सामाजिक न्याय, अस्मिता और प्रतिरोध के आयामों से जोड़ती है।"*4 प्रसिद्ध आलोचक प्रो रोहिणी अग्रवाल विमर्श को एक 'जीवन्त बहस'*5 कहती हैं जो समाज में निहित असमानताओं, विरोधाभासों और सत्ता-शृंखलाओं को चुनौती देने का कार्य करती है। एक अन्य परिभाषा में कहा गया है— "यहाँ 'विमर्श' शब्द का अर्थ होता है, अभिव्यक्ति के उन तत्वों या पहलुओं की संरचना जो कुल जोड़ से भी परे जाकर कोई खास अर्थ देने की क्षमता रखते हों।"*6 इसका तात्पर्य है कि विमर्श एक ऐसी संरचनात्मक प्रक्रिया है, जो किसी विषय विशेष के केवल प्रत्यक्ष तथ्यों तक सीमित नहीं होती, बल्कि उसके इर्द-गिर्द उपस्थित वैचारिक, सांस्कृतिक और भाषाई संकेतों को समग्रता में समझने का माध्यम बनती है। आलोचक गंगा सहाय मीणा विमर्श को 'संवाद' और 'संघर्ष' के दोहरे आयामों में परिभाषित करते हुए कहते हैं कि— "विमर्श वह उपकरण है, जिससे समाज के हाशिए पर पड़े वर्गों की आवाज़ को साहित्य में न केवल स्थान मिलता है, बल्कि उसकी चेतना भी रूपायित होती है।"*7 वस्तुतः विमर्श केवल एक बौद्धिक प्रक्रिया नहीं है, बल्कि यह साहित्यिक पाठों, समाज और सत्ता के बीच संवाद का माध्यम है। यह बहुपरिप्रेक्ष्यवादी विश्लेषण का क्षेत्र है जो विविध अस्मिताओं, संरचनाओं और अंतर्विरोधों को एक मंच पर लाकर उनकी विवेचना करता।

3.1.ii. विमर्श का इतिहास :

'विमर्श' (Discourse) शब्द सामान्यतः संवाद, विचार-विनिमय, तर्क-वितर्क, और वैचारिक अनुशीलन के रूप में प्रयुक्त होता है, किंतु अकादमिक एवं साहित्यिक संदर्भ में यह एक गहन

वैचारिक उपकरण के रूप में उभरा है। विमर्श न केवल भाषा और सत्ता के अंतर्संबंधों की जांच करता है, बल्कि यह यह भी निर्धारित करता है कि किसी समाज में कौन-से विचार, अवधारणाएँ और मान्यताएँ प्रभुत्वशाली होंगी।

20वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में 'विमर्श' एक सैद्धांतिक प्रतिमान (paradigm) के रूप में उभरा, जिसका विकास उत्तर-आधुनिकता, उत्तर-संरचनावाद और उत्तर-औपनिवेशिक सिद्धांतों के साथ हुआ। साहित्य में विमर्श की उपस्थिति ने पाठ्य की बहुल व्याख्याओं और हाशिए के स्वर को मुख्यधारा में स्थान दिया।

विमर्श की आधुनिक अवधारणा मुख्यतः फ्रांसीसी विचारक मिशेल फूको (Michel Foucault) द्वारा प्रतिपादित की गई। फूको के अनुसार, विमर्श केवल भाषिक संरचना नहीं है, बल्कि यह 'ज्ञान और सत्ता' की वह प्रणाली है जिसके माध्यम से समाज में सत्य, नैतिकता, और व्यवहार की सीमाएँ निर्धारित होती हैं। उनका मानना था कि इतिहास में सत्ता केवल प्रत्यक्ष दमन के रूप में नहीं, बल्कि 'ज्ञान की संरचनाओं' के ज़रिए भी कार्य करती है।

फूको के विमर्श सिद्धांत ने साहित्यिक आलोचना में यह प्रश्न खड़ा किया कि— 'किसके दृष्टिकोण से ज्ञान का निर्माण हो रहा है और कौन-सी आवाज़ें दबी रह जाती हैं?' इस दृष्टिकोण ने औपनिवेशिक, स्त्रीवादी, दलित, और क्वीयर विमर्श को सैद्धांतिक आधार प्रदान किया।

1960 और 1970 के दशक में पश्चिम में देरिदा, लाकां, रोलां बार्थ जैसे विचारकों ने पाठ की अवधारणाओं को चुनौती दी और पाठ के अर्थ को संदिग्ध व बहुल मानकर विमर्श की ओर उन्मुख किया। इस दौर में 'पाठक केंद्रित' व्याख्याएँ सामने आईं और साहित्यिक पाठों को सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भों में पढ़ने की प्रवृत्ति बढ़ी। एडवर्ड सईद 'Orientalism' (1978) एक महत्वपूर्ण कृति रही जिसने 'औपनिवेशिक विमर्श' को स्पष्ट करते हुए बताया कि किस प्रकार पश्चिमी साहित्य और ज्ञान-प्रणालियाँ पूरब के 'other' को एक विशिष्ट रूप में गढ़ती हैं।

भारतीय साहित्य में विमर्श की अवधारणा अपेक्षाकृत आधुनिक है। 1980 के बाद के दशक में विभिन्न सामाजिक आंदोलनों— जैसे स्त्री-विमर्श, दलित चेतना, आदिवासी अस्मिता— ने साहित्यिक रचनाओं को केवल सौंदर्य के प्रतिमानों से परे ले जाकर सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भों में पढ़ने का आग्रह किया। इस काल में आत्मकथात्मक लेखन, प्रतिरोधी साहित्य और वैकल्पिक इतिहास की रचनाएँ विमर्श की शक्ति का परिचायक बनीं।

वस्तुतः विमर्श ने पारंपरिक साहित्यिक आलोचना के स्वरूप को प्रभावित करते हुए उसे अधिक 'राजनीतिक और संदर्भ-संवेदी' बनाया। आलोचना अब केवल काव्यगत गुण या भाव नहीं देखती, बल्कि वह यह जांचने लगी कि रचना में कौन-से सामाजिक वर्ग, लैंगिक पहचान, या जातीय समूह को स्थान मिला है और किसे उपेक्षित किया गया है।

इस परिवर्तन के कुछ प्रमुख बिंदु निम्नलिखित हैं:

- पाठ का राजनीतिक पुनर्पाठ, ताकि सामाजिक तानेबाने में राजनीतिक वर्चस्व को पहचानकर उसका प्रतिरोध किया जा सके
- हाशिए के स्वर की पुनर्स्थापना, ताकि एक समावेशी और समरस समाज की स्थापना की जा सके।
- साहित्य को सामाजिक-सांस्कृतिक दस्तावेज़ की तरह पढ़ना, ताकि संस्कृति कुछ 'सलेक्टिव' लोगों का आचरण मात्र न बन कर रह जाए। संस्कृति तो वस्तुतः किसी समाज के अंतिम व्यक्ति तक के जीवन-व्यवहार को समाहित करने वाली अवधारणा है।
- रचना और पाठक के बीच सत्ता-संबंधों की पहचान, ताकि भाषा और पाठ के माध्यम से शक्ति-तन्तुओं को उधेड़ा जा सके— जिससे— शक्ति का विकेंद्रीकरण हो सके।

3.1.iii. साहित्यिक विमर्श के प्रमुख रूप :

3.1.i.a. स्त्री-विमर्श (Feminist Discourse)—

स्त्री विमर्श एक अस्मितामूलक और वैचारिक आंदोलन है जो— साहित्य, समाज और संस्कृति में— स्त्री की स्थिति, अस्मिता और अधिकारों की पुनर्व्याख्या करता है। यह विमर्श पितृसत्तात्मक अवस्थिति की आलोचना करते हुए अपने अन प्रामाणिक अनुभवों, भावनाओं और स्त्री होने के कारण झेले गए संघर्षों को केन्द्र में लाता है— जिन्हें; परंपरागत साहित्यिक और सामाजिक दृष्टिकोणों ने निरापद मानते हुए उपेक्षित किया है। पश्चिम में सिमोन द बोउवार, वर्जीनिया वुल्फ जैसी चिंतकों के विचारों से प्रेरित यह विमर्श भारत में महादेवी वर्मा, मन्नू भंडारी, प्रभा खेतान, और मैत्रेयी पुष्पा जैसी लेखिकाओं के लेखन के माध्यम से— भारत में उपस्थित परिस्थितियों के अनुरूप विकसित हुआ है।

आलोचक अल्पना मिश्र भारत में स्त्री-विमर्श के आरंभ के बारे में लिखती हैं कि, "भारतीय इतिहास में उन्नीसवीं शताब्दी का आरम्भ अनेक सामाजिक, वैचारिक और राजनीतिक हलचलों से भरा है। इस समय सामाजिक जीवन के बीच गहरे जड़ जमाये बैठी कुरीतियाँ और अन्धविश्वास मुख्य समस्या की तरह जगह पा सके हैं तो वैचारिक क्षेत्र में भी दखल की कोशिशें तेज़ हुई हैं। समाज सुधार आन्दोलनों के बीच धर्म भी अपने समाज विज्ञानी व्यावहारिक रूप को प्रकट करने की तरफ प्रवृत्त होता दिख रहा था। धर्मान्धता की अपेक्षा धर्म की जीवन में उपयोगिता पर बहसें शुरू हुई थीं। तर्क के धारदार और पैनेपन ने विचार जगत् को भी जड़ नहीं रह जाने दिया। नवजागरण, जिसे कहा गया, वह समय पूरब से लेकर दक्षिण और पूर्वोत्तर तक स्वाधीनता, स्वावलम्बन और प्रगतिशीलता के नये अध्याय खोलने को तत्पर दिख रहा था। 19वीं सदी का मध्य वह समय है, जब भारत में महिला

जीवन की समस्याओं पर विचार और उसके सुधार की चेतना आन्दोलन के रूप में दिखायी पड़नी शुरू होती है।"*8

पश्चिम की विद्वान Estelle B. Freedman ने अपने शब्दों में परिभाषित किया है— "Feminism is a belief that although women and men are inherently of equal worth, most ties privilege men as a group. As a result, social movements are necessery to achive political equality between women and men, with the understanding that gender always inter-sects with other social heirarchies"*9 अर्थात् नारीवाद (फेमिनिज़्म) एक ऐसा विश्वास है कि यद्यपि स्त्री और पुरुष स्वभावतः समान मूल्य के अधिकारी हैं, फिर भी अधिकांश समाजों में पुरुषों को एक समूह के रूप में विशेषाधिकार प्राप्त होता है। इस कारणवश, स्त्री और पुरुषों के बीच राजनीतिक समानता प्राप्त करने के लिए सामाजिक आंदोलनों की आवश्यकता होती है, इस समझ के साथ कि लिंग (जेंडर) सदैव अन्य सामाजिक पदानुक्रमों (social hierarchies) के साथ अंतर्संबंधित रहता है। वास्तव में, स्त्री विमर्श ; उतना 'बहस' का मुद्दा नहीं, जितना 'जागृति' का है।

"भारतीय स्त्री की दुनिया लगातार बदलती भी रही और काफी कुछ वहीं की वहीं खड़ी भी रही। यह कहने में रत्ती भर अतिरंजना नहीं कि भारतीय स्त्री संसार की सबसे अधिक दलित स्त्री है और यह कहने में भी रत्ती भर झूठ नहीं कि भारतीय स्त्री सर्वाधिक मुक्त, मुखर और स्वतंत्र है।"*10 वस्तुतः नारीवाद का उद्देश्य प्रत्येक स्त्री को यह अवसर प्रदान करना है कि वह अपनी नैसर्गिक क्षमताओं के अनुसार स्वयं को सर्वोत्तम रूप में विकसित कर सके।

दलित विमर्श (Dalit Discourse)—

दलित विमर्श आधुनिक सामाजिक-साहित्यिक चिंतन की वह धारा है, जो भारतीय समाज में व्याप्त जातीय विषमता, सामाजिक बहिष्कार और सत्ता संरचनाओं द्वारा निर्मित अनुचित व्यवहार के विरुद्ध एक सशक्त वैचारिक प्रतिरोध प्रस्तुत करता है। यह विमर्श न

केवल सामाजिक न्याय की माँग करता है बल्कि शोषित समुदाय की अस्मिता, अधिकार और अनुभवों को मुख्यधारा में लाने का भी कार्य करता है। दलित विमर्श एक वैकल्पिक दृष्टिकोण है, जो बहुसंख्यक आबादी की अवहेलना करने वाले वर्चस्ववादी ढांचों को उद्घाटित करता है।

दलित विमर्श का आरंभ एक लंबी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में निहित है, जिसमें भारतीय समाज की जाति व्यवस्था के विरुद्ध आवाजें यदा-कदा उठती रहीं, किंतु इसे संगठित वैचारिक आंदोलन का रूप बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में मिला। महात्मा फुले, सावित्रीबाई फुले और पेरियार जैसे समाज-सुधारकों द्वारा आरंभ किया गया यह चेतना-प्रवाह डॉ. भीमराव अंबेडकर के विचारों से दर्शनात्मक स्थिरता प्राप्त करता है। अंबेडकर के लेखन और सामाजिक आंदोलनों ने दलित पहचान को वैचारिक तथा राजनीतिक स्वर प्रदान किया, जबकि 1970 के दशक में महाराष्ट्र में दलित पैंथर आंदोलन ने इसे साहित्यिक और सांस्कृतिक मोर्चों पर नई ऊर्जा दी।

वस्तुतः दलित विमर्श को संक्षेप में एक ऐसे वैचारिक प्रतिरोध के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जो वर्ण आधारित सामाजिक संरचनाओं, धार्मिक रूढ़ियों और ब्राह्मणवादी वर्चस्व के खिलाफ ऐतिहासिक अन्याय को उजागर करता है। "दुनिया के शोषितों एवं पीडितों का दुःख बहुत कुछ समान हुआ करता है। जहाँ सामाजिक तथा सांस्कृतिक स्वातंत्र्य नकारा जाता है वहाँ वैचारिक और क्रियाशील आंदोलन होते हैं। चाहे ज्यू हो, बुराकुमीत हो, नीग्रो हो या दलित हो।"*11 संपूर्ण विश्व में शोषण और पीड़ा के अनुभव प्रायः एक जैसे होते हैं। जब किसी समाज या समूह को सामाजिक और सांस्कृतिक स्वतंत्रता से वंचित किया जाता है, तो वहाँ प्रतिरोध के स्वर उभरते हैं और वैचारिक एवं सक्रिय आंदोलन जन्म लेते हैं। यह बात किसी एक समुदाय तक सीमित नहीं है—चाहे वह यहूदी (Jews) हों, जापान के बुराकुमीन समुदाय के लोग हों, अफ्रीकी मूल के नीग्रो हों या

भारत के दलित—सभी ने अपने अधिकारों के लिए संघर्ष किया है, क्योंकि उनके शोषण का मूलस्वर समान रहा है।

"दलित चेतना भारतीय जाति व्यवस्था की कोख से या कह लें कि अस्पृश्यता की दारुण व्यथा से पैदा हुई है और यह सदियों से सताए हुए लोगों की अभिव्यक्ति है।"*12 यह विमर्श सत्ता के केंद्रीकरण के विरुद्ध हाशिए के स्वर की उपस्थिति को मान्यता देता है। दलित विमर्श एक समावेशी दृष्टिकोण है, जिसमें जाति के संदर्भ में अनुभव आधारित अभिव्यक्ति को वैधता प्रदान की जाती है और मानवीय गरिमा की पुनर्स्थापना के लिए भाषा, धर्म, इतिहास और संस्कृति का पुनर्पाठ किया जाता है।

हिंदी साहित्य में दलित विमर्श का प्रवेश मुख्यतः 1980 के दशक के उत्तरार्ध में हुआ, जब दलित लेखकों ने अपनी अस्मिता और अनुभवों को स्वर देते हुए आत्मकथात्मक तथा सामाजिक यथार्थपरक लेखन को अपनाया। ओमप्रकाश वाल्मीकि की आत्मकथा 'जूठन', कंवल भारती, सूरजपाल चौहान, जयप्रकाश कर्दम जैसे रचनाकारों ने हिंदी साहित्य में दलित जीवन के अनुभवों को प्रमुखता से स्थापित किया। हिंदी दलित साहित्य ने भाषा के भीतर छिपी जातीय प्रवृत्तियों को उजागर करते हुए एक नई साहित्यिक संवेदना का निर्माण किया, जिसमें करुणा के स्थान पर प्रतिरोध, और व्याख्या के स्थान पर साक्षात्कार की प्रवृत्ति दिखाई देती है।

दलित विमर्श की सबसे बड़ी उपलब्धि यह रही कि इसने जाति आधारित सामाजिक यथार्थ को साहित्य और विमर्श की केंद्रीय चिंता में स्थापित किया। इस विमर्श के माध्यम से न केवल दलित समुदाय की आवाज़ें साहित्य में आईं, बल्कि सत्ता-विमर्श की परंपरागत सीमाएँ भी चुनौती के घेरे में आईं। इससे विमर्श की लोकतांत्रिक प्रकृति को बल मिला और ज्ञान-रचना की प्रक्रिया में बहुजन दृष्टिकोण को सम्मानजनक स्थान प्राप्त हुआ। इसके अतिरिक्त, "दलित साहित्य वह लेखन है, जो वर्ण व्यवस्था के विरोध में और उसके विपरीत मूल्यों के लिए संघर्षरत मनुष्य से प्रतिबद्ध है। वर्ण व्यवस्था अर्थात् द्वेष, शत्रुता, मत्सर,

तिरस्कार की युद्ध भावना। इसके विपरीत मूल्य अर्थात् प्रेम, बन्धुत्व, समता, भ्रातृभावपूर्ण शान्ति और समृद्धि। दलित शब्द से अनेक प्रकार का बोध होता है, जैसे दुःख-बोध, अपमान-बोध, दैन्य-दासत्व-बोध, जाति-वर्ग-बोध, विश्व-बन्धुत्व-बोध और क्रान्ति-बोध। दलित साहित्य में भाषिक, प्रान्तीय, राष्ट्रीय दुरभिमान नहीं है। दलित साहित्य तो मनुष्य को सर्वोपरि मानता है। अतः मनुष्य की महानता के लिए जो कुछ भी अच्छा हो रहा है, वह सब दलित साहित्य का है। मनुष्य कभी दलित नहीं होता। मनुष्य अर्थात् सजीव, सुन्दर, साकार''*13 वास्तव में, दलित साहित्य वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध मानवीय मूल्यों—समता, प्रेम, बंधुत्व—का साहित्यिक प्रतिरोध है, जो दलित चेतना से उपजे दुख, अपमान और क्रांति-बोध को व्यक्त करता है। यह मनुष्य की गरिमा को सर्वोपरि मानते हुए समग्र मानवता की पक्षधरता करता है।

3.1.i.b. आदिवासी विमर्श—

आदिवासी विमर्श समकालीन साहित्यिक और सामाजिक विमर्श की एक ऐसी वैकल्पिक धारा है, जो भारतीय समाज के उस वर्ग की ऐतिहासिक पीड़ा, सांस्कृतिक दमन और राजनीतिक उपेक्षा को उजागर करता है, जिसे 'जनजाति' या 'आदिवासी' कहा जाता है। यह विमर्श वर्चस्वशील सामाजिक संरचनाओं के विरुद्ध आदिवासी जीवन-दृष्टि, परंपरा, प्रकृति-चेतना और सामुदायिक मूल्यबोध को पुनःस्थापित करने की प्रक्रिया है। आदिवासी विमर्श केवल पहचान की खोज नहीं, बल्कि सांस्कृतिक पुनर्पाठ और अस्तित्व की जंग है।

आदिवासी विमर्श की वैचारिक जड़ें उस दीर्घकालीन दमन और विस्थापन में निहित हैं, जो औपनिवेशिक शासन, विकास की एकपक्षीय नीतियों और राज्यसत्ता की उपेक्षा के कारण आदिवासी समुदायों ने झेला। यद्यपि आदिवासी संघर्ष की परंपरा प्राचीन है — बिरसा मुंडा, टंत्या भील, रानी दुर्गावती जैसे नेताओं के प्रतिरोध से लेकर चिपको आंदोलन और नक्सलवादी आंदोलनों तक — किंतु इसे साहित्यिक और बौद्धिक विमर्श का रूप

मुख्यतः बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में प्राप्त हुआ। आदिवासी लेखकों की कलम से निकली जीवनगाथाएँ जब मुख्यधारा साहित्य में स्थान पाने लगीं, तब आदिवासी विमर्श का औपचारिक आरंभ माना गया। वस्तुतः आदिवासी विमर्श को ऐसा वैचारिक हस्तक्षेप कहा जा सकता है, जो औपनिवेशिक, राष्ट्रवादी और मुख्यधारा विकासवादी आख्यानों को प्रश्नांकित करते हुए, आदिवासी समुदाय की परंपरागत ज्ञान-व्यवस्था, भूमि-संबंध, सांस्कृतिक स्वायत्तता और भाषाई विविधता को प्रतिष्ठित करता है।

आलोचक गंगा सहाय मीणा ने आदिवासी साहित्य की विशिष्टता*14 के कुछ आधार-बिंदु तय किए हैं—

- स्त्री और दलित साहित्य से भिन्न 'आदिवासी साहित्य' की एक प्रमुख प्रवृत्ति इसमें अन्य पीड़ित अस्मिताओं के प्रति सहयोगी भाव है।
- यह समूह और सहयोग का साहित्य हैं
- आदिवासी साहित्य की मूल विशेषता इसका पार्थक्य है। इसलिए इसके मूल्यांकन के लिए एक नए सौंदर्यशास्त्र की आवश्यकता होगी
- आदिवासी साहित्य में उपस्थित प्रकृति— परंपरागत प्रकृति-चित्रण से भिन्न है, यह आदिवासी जीवन और संस्कृति का मूल आधार है।
- आदिवासी साहित्य; एक अर्थ में— किसी व्यक्ति या समुदाय के ख़िलाफ़ नहीं हैं इसलिए यह साहित्य के वृहद उद्देश्य को साधता हुआ अपने कर्तव्य पथ पर आगे बढ़ रहा है।

वस्तुतः गंगा सहाय मीणा के अनुसार आदिवासी साहित्य की विशेषता यह है कि यह स्त्री और दलित साहित्य से अलग होते हुए भी अन्य वंचित समुदायों के प्रति सहभाव बनाए रखता है। यह साहित्य सामूहिक चेतना और साझी सांस्कृतिक अभिव्यक्ति का प्रतिनिधित्व करता है। इसकी मूल विशेषता इसका पार्थक्य (distinctiveness) है, जो इसे पारंपरिक साहित्यिक ढाँचों से अलग खड़ा करता है। जिसके मूल्यांकन हेतु पारंपरिक सौंदर्यशास्त्र

अपर्याप्त सिद्ध होता है और एक नए सौंदर्यबोध की आवश्यकता महसूस होती है। इसमें प्रकृति केवल एक सजावटी तत्व नहीं, बल्कि जीवन और संस्कृति का अभिन्न अंग है। यह साहित्य टकराव नहीं, समावेश की ओर उन्मुख होता है और समग्र साहित्यिक उद्देश्यों की पूर्ति करता है।

यह विमर्श प्रकृति के साथ सामंजस्यपूर्ण सहअस्तित्व की अवधारणा को केंद्र में रखकर आधुनिकता के विनाशकारी प्रतिमानों को चुनौती देता है। इसमें आदिवासी अनुभव, मौखिक परंपराएँ, मिथक, लोकगीत और स्मृति को ऐतिहासिक स्रोत के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। हिंदी साहित्य में आदिवासी विमर्श का स्वर आरंभ में हाशिए पर था, किंतु समय के साथ इसकी सशक्त उपस्थिति दर्ज होने लगी। महुआ मांझी, भगवान दास मोरवाल, शिवनाथ मिश्र 'शिवेश', रामदयाल मुंडा, अनिल अनलाहा, ज्योत्स्ना मिलन जैसे लेखकों ने आदिवासी जीवन के यथार्थ, विस्थापन, पर्यावरणीय संकट और सांस्कृतिक क्षरण को कथा, कविता और निबंधों के माध्यम से उकेरा। साथ ही, हिंदी साहित्य की पारंपरिक संरचनाओं में आदिवासी दृष्टिकोण का प्रवेश हुआ, जिसने साहित्यिक संवेदना को नई दिशा मिली।

आदिवासी विमर्श ने साहित्य में हाशिए के समाज की केंद्रीयता स्थापित की और यह सिद्ध किया कि भारत की सामाजिक-सांस्कृतिक संरचना केवल शहरी या सवर्ण दृष्टिकोण से नहीं समझी जा सकती। इस विमर्श ने आदिवासी भाषा, भूगोल और जीवनशैली को सम्मानजनक साहित्यिक स्वर दिया। इसके माध्यम से 'विकास' की अवधारणा को मानव-केंद्रित के बजाय समुदाय-केंद्रित पुनर्परिभाषा मिली। इसके अतिरिक्त, यह विमर्श पर्यावरणीय न्याय, जल-जंगल-ज़मीन की राजनीति और सांस्कृतिक विविधता के संरक्षण को लेकर भी नई वैचारिक चेतना प्रस्तुत करता है, जो समकालीन विमर्शों में अद्वितीय है।

3.1.i.c. किन्नर विमर्श —

किन्नर विमर्श हिंदी साहित्य में एक समकालीन और सशक्त विमर्श के रूप में उभर रहा है, जो लिंग की द्वैतवादी धारणा को चुनौती देते हुए किन्नर समुदाय की अस्मिता,

अनुभव और संघर्षों को साहित्यिक अभिव्यक्ति प्रदान करता है। यह विमर्श केवल लैंगिक पहचान तक सीमित न रहकर सामाजिक बहिष्कार, सांस्कृतिक उपेक्षा, और मानवाधिकार जैसे प्रश्नों को भी केन्द्र में लाता है। किन्नर विमर्श ने साहित्य को नई भाषिक संवेदना और दृष्टिकोण प्रदान किया है, जो अब तक वर्जित या उपेक्षित विषयों को वैधता प्रदान करता है।

हिंदी में किन्नर विषय को लेकर पहला उपन्यास नीरजा माधव का 'जयदीप' माना जाता है। प्रो. दिलीप मेहरा संपादित 'हिन्दी साहित्य में किन्नर जीवन' किन्नर साहित्य को समझने में महवपूर्ण ग्रंथ है। हिंदी साहित्य में अचिन्त्य दास, त्रिपुरारि कुमार शर्मा और लक्ष्मी नारायण त्रिपाठी जैसी लेखकीय उपस्थिति ने किन्नर समुदाय के अंतर्विरोधों, सामाजिक संघर्ष और आत्मस्वीकृति की प्रक्रिया को कथा, आत्मकथा और कविता में अभिव्यक्त किया है। लक्ष्मी नारायण त्रिपाठी की आत्मकथा 'मैं हिजड़ा मैं लक्ष्मी' इस विमर्श की प्रतिनिधि रचना है, जो समाज के पूर्वग्रहों को चुनौती देती है। किन्नर विमर्श की प्रमुख उपलब्धि यह है कि इसने हाशिए के समाज को न केवल वाणी दी, बल्कि साहित्य को अधिक समावेशी, लोकतांत्रिक और मानवीय बनाया। यह विमर्श भविष्य में साहित्यिक चेतना की नई सीमाओं का विस्तार करने की क्षमता रखता है।

3.1.i.d. क्वीयर विमर्श (Queer Discourse) —

क्वीयर विमर्श समलैंगिकता, उभयलैंगिकता, लिंग परिवर्तन और यौनिकता की जटिलताओं को साहित्यिक विमर्श का विषय बनाता है। यह न केवल यौनिक अभिव्यक्तियों की स्वीकृति की मांग करता है, बल्कि सामाजिक-पारिवारिक संरचनाओं, धार्मिक नैतिकताओं और न्यायिक संवेदनाओं पर पुनर्विचार करता है। हिंदी में अब समलैंगिक प्रेम को स्वीकारने वाली कविताएँ, आत्मकथाएँ और कथानक उभर रहे हैं, जो समाज के 'स्वाभाविक' कहे जाने वाले यौन मानकों को प्रश्नांकित करते हैं। यह विमर्श यौनिक पहचान को एक जैविक नियति के बजाय सामाजिक-सांस्कृतिक रचना के रूप में देखता है।

3.1.i.e. विकलांग विमर्श (Disability Discourse):

विकलांग विमर्श शरीर के प्रति समाज के दृष्टिकोण, अपूर्णता की परिभाषा, और सक्षमवाद (Ableism) की आलोचना करता है। यह विमर्श उन व्यक्तियों की अनुभवगत दुनिया को केंद्र में लाता है, जो शारीरिक या मानसिक रूप से 'सामान्य' मानकों से भिन्न हैं। हिंदी साहित्य में यह विमर्श अभी आरंभिक अवस्था में है, किंतु इसमें सशक्त संभावनाएँ हैं, क्योंकि यह साहित्य को करुणा से हटाकर अधिकार की दृष्टि से देखने की प्रेरणा देता है। यह न केवल विकलांगता के प्रति सहानुभूति के विरुद्ध खड़ा होता है, बल्कि समाज की समावेशी पुनर्रचना की मांग करता है।

3.1.i.f. पर्यावरण विमर्श (Eco-Criticism)—

पर्यावरण विमर्श हिंदी साहित्य में प्रकृति को केवल पृष्ठभूमि या सौंदर्य का उपकरण मानने के बजाय उसे जीवंत सत्ता के रूप में स्थापित करता है। यह विमर्श विकासवादी सोच, औद्योगीकरण और मानव-केंद्रित उपभोगवाद की आलोचना करता है और पर्यावरणीय संकट की साहित्यिक संवेदना प्रस्तुत करता है। हिंदी कविता, विशेष रूप से नव्य कविता में प्रकृति के शोषण और जैव विविधता के विनाश पर केंद्रित अनेक रचनाएँ सामने आई हैं। यह विमर्श साहित्य में एक नव-आधुनिक उत्तरदायित्वबोध को जन्म देता है, जो प्रकृति और मनुष्य के सहअस्तित्व की अवधारणा को पुनःस्थापित करता है।

3.1.i.g. डिजिटल विमर्श (Digital Discourse)—

डिजिटल विमर्श समकालीन हिंदी साहित्य में तकनीक, आभासी यथार्थ, सोशल मीडिया संस्कृति और डिजिटल उपभोक्तावाद के प्रभावों का गंभीर मूल्यांकन करता है। यह मनुष्य की आत्मीयता, संप्रेषण और यथार्थबोध के बदलते रूपों को सामने लाता है। फेसबुक, इंस्टाग्राम, वॉट्सऐप जैसी माध्यमों ने लेखन और अभिव्यक्ति के स्वरूप को जिस प्रकार बदला है, वह साहित्यिक विमर्श का विषय बन चुका है। डिजिटल विमर्श तकनीक के

लोकतांत्रिक पक्ष को स्वीकारते हुए, उसके उपनिवेशी और अस्मिता-ग्रासी स्वभाव की भी पड़ताल करता है।

डिजिटल विमर्श हिंदी साहित्य में एक नवीन और समकालीन दिशा है, जिसमें तकनीक, सोशल मीडिया, वर्चुअल संबंधों और डिजिटल संस्कृति के प्रभावों की साहित्यिक पड़ताल की जाती है। इस विमर्श को दिशा देने वाले प्रमुख लेखकों में जितेंद्र श्रीवास्तव का नाम विशेष उल्लेखनीय है, जिन्होंने "डिजिटल समय में साहित्य" जैसे लेखों में साहित्य पर तकनीक के प्रभाव को गंभीरता से विश्लेषित किया है। अजय नावरिया यद्यपि दलित विमर्श के महत्वपूर्ण लेखक हैं, लेकिन उन्होंने डिजिटल युग में दलित अस्मिता और सामाजिक मीडिया की भूमिका को भी विवेचना का विषय बनाया है। वहीं, रमाशंकर सिंह और देवेंद्र चौबे जैसे लेखकों ने 'डिजिटल मीडिया और साहित्य' तथा 'नया मीडिया और हिंदी' जैसे शोधपरक लेखों के माध्यम से इस विमर्श को अकादमिक धरातल पर स्थापित किया है। पुष्यमित्र जैसे लेखक डिजिटल पत्रकारिता और सोशल नेटवर्किंग के माध्यम से समाज में हो रहे बदलावों को साहित्य से जोड़ते हैं। इन लेखकों के अतिरिक्त अनेक युवा ब्लॉगर और सोशल मीडिया रचनाकार भी डिजिटल विमर्श को सक्रिय और गतिशील बना रहे हैं।

3.1.i.h. प्रवासी विमर्श (Diaspora Discourse)—

प्रवासी विमर्श हिंदी साहित्य में उन व्यक्तियों के अनुभवों, दुविधाओं और द्वैत से जुड़े प्रश्नों को केंद्र में रखता है, जो अपने मूल देश से दूर किसी अन्य भूगोल में सांस्कृतिक, भाषिक और भावनात्मक संघर्षों से जूझते हैं। यह विमर्श विस्थापन, पहचान संकट, सांस्कृतिक स्मृति, भाषा-संरक्षण, और दोहरी नागरिकता की दुविधाओं को उभारता है। प्रवासी लेखकों द्वारा लिखित हिंदी कहानियाँ और आत्मकथाएँ— जैसे कि गिरिराज किशोर, तेजिंदर और वंदना राग की रचनाएँ— इस विमर्श को सशक्त आधार देती हैं। यह विमर्श ग्लोबल हिंदी साहित्य का अहम हिस्सा बनता जा रहा है। प्रवासी विमर्श के प्रमुख लेखकों में

भारती मुखर्जी, उषा प्रियंवदा, सुनिता जैन, प्रभा खेतान, कृष्णा अग्निहोत्री, चंद्रमुखी नारायण, मधु संधु, गीतांजलि श्री, तेजेन्द्र शर्मा, कृष्ण कुमार और रामदरश मिश्र जैसे साहित्यकारों के नाम उल्लेखनीय हैं। इन लेखकों ने प्रवासी जीवन के अनुभवों, सांस्कृतिक संघर्षों, पहचान की खोज और जड़-शक्ति के द्वंद्व को अपने साहित्य में गहराई से व्यक्त किया है।

वस्तुतः बदलते सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक तथा साहित्यिक परिवेशों ने विमर्श को नए प्रतिमान दिए। इक्कीसवीं सदी में औद्योगीकरण, तकनीकीकरण, भूमंडलीकरण, बाज़ारवाद, व्यक्तिवाद आदि ने मनुष्य को प्रभावित किया है। इसी प्रवाह के साथ-साथ मनुष्य नई-नई समस्याओं से भी ग्रसित हो रहा है। साहित्यिक विमर्शों ने मनुष्य के अंतःकरण तक पैठ बना चुकीं इन समस्यायों की ना केवल शिनाख्त की है बल्कि इन समस्यायों के पनपने की आधारभूमि को खोदने का काम भी किया है, ताकि सामाजिक समरसता के मार्ग में पड़ने वाली बाधाओं को समूल नष्ट किया जा सके। हम कह सकते हैं की विमर्श — साहित्यिक विधा से भी बढ़कर एक 'सरोकारी चिंतन' है जिसका अंतिम उद्देश्य समूचे मनुष्य जगत की दमित आवाज़ों को जगाकर सहज विकास के लिए प्रेरित करना है।

संदर्भ :

1. अर्चना वर्मा के vidyai-mitra पर दिए गए आख्यान 'HND P11 M2 पितृसत्तात्मक समाज व्यवस्था और स्त्री प्रश्न' शीर्षक से उद्धृत https://youtu.be/DOhKKn1e0Gw

2. Oxford advance learner's dictionary , 2010, pg 432

3. Michel Foucault, The Archaeology of Knowledge, 1972, pg. 216

4. नामवर सिंह, आलोचना और विचारधारा, राजकमल प्रकाशन, 1992, पृ. 58

5. रोहिणी अग्रवाल, स्त्री-विमर्श- दृष्टि और दृष्टांत : राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली, 2008, पृ. 19

6. राजेन्द्र कुमार, विमर्श और साहित्य, भावना प्रकाशन, 2011, पृ. 34

7. गंगा सहाय मीणा, आदिवासी विमर्श और हिंदी साहित्य, वाणी प्रकाशन, 2015, पृ. 11

8. अल्पना मिश्र, स्त्री-विमर्श का नया चेहरा, वाणी प्रकाशन दिल्ली, प्रथम संस्करण 2023, पृष्ठ 13

9. Estelle B Freedman, No Turning Back: The History of Feminism and the Future of Women, Ballantine Books, New York (Paperback edition published in 2002) पृष्ठ 7

10. अर्चना वर्मा, स्त्री-विमर्श : अगला दौर; पृष्ठ 10

11. अर्जुन चव्हाण, विमर्श के विविध आयाम, पृष्ट 44

12. कुमार कृष्ण, समकालीन हिंदी साहित्य : विविध विमर्श, वाणी प्रकाशन, दिल्ली-2009 पृष्ठ 12

13. कुमार कृष्ण, समकालीन हिंदी साहित्य : विविध विमर्श, वाणी प्रकाशन -2009 पृष्ठ 22 (फ़्लैप से)

14. सहाय मीणा (सं), आदिवासी साहित्य विमर्श, अनामिका प्रकाशन, पृष्ठ 10,

3.2

पाश्चात्य एवं भारतीय संदर्भ में स्त्री-विमर्श की अवधारणा

आज स्त्री विमर्श पूरे विश्व में एक विमर्श और चर्चा के रूप में व्याप्त हो चुका है, जिसमें स्त्री के सभी पक्षों को पुरुष के सापेक्ष रखकर देखा जाने लगा है। स्त्री विमर्श एक ऐसा संवाद और बहस है जिसमें स्त्री अपने अधिकारों की माँग करती है। इन अधिकारों के अंतर्गत लिंग के आधार पर समानता, निर्णय, अस्तित्व, अस्मिता, स्वतंत्रता और मुक्ति का सवाल भी उभर कर सामने आता है। कहा जाता है कि किसी भी सभ्य समाज और संस्कृति का सही अनुमान उस समाज में रहने वाली स्त्रियों की स्थिति से लगाया जा सकता है। विशेष रूप से जहाँ उसका अहंकार विद्यमान हो वहाँ की स्त्रियों की स्थिति एक समान नहीं पुरुष सत्ता और उसका रहती है। आलोचक ऋद्धा सिंह कहती हैं कि "मानव-जीवन स्त्री-पुरुष-दोनों के सहयोग से ही आगे बढ़ा, पर पुरुष इतिहासकारों ने स्त्रियों की ऐतिहासिक सहभागिता को हमेशा छिपाया या कम महत्व दिया। खेती करने से लेकर मवेशियों को पालने, घर-गृहस्थी से लेकर लोक-कलाओं और स्थापत्य-कलाओं के निर्माण में भी स्त्रियों की ऐतिहासिक भूमिका रही। जहाँ तक आधुनिक युग में स्त्री-अधिकार के आन्दोलनों के इतिहास की बात है, तो यह इतिहास फ्रांस की राज्य क्रान्ति और औद्योगिक क्रान्ति का परिणाम है। फ्रांस की राज्य क्रान्ति ने स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व का जो नारा दिया, वह मूलतः अमीर-गरीब को समान अधिकार देने के लिए था। कालान्तर में स्त्रियों के स्वतन्त्र अस्तित्व की परिकल्पना को भी इसका आधार मिला। राज्य-शासन की लोकतान्त्रिक पद्धति और जनता द्वारा मताधिकार की माँग भी आगे चलकर महिला आन्दोलन का प्रमुख अंग बनी, जिसका लम्बा इतिहास है।"*1 ऋद्धा सिंह के अनुसार, मानव सभ्यता स्त्री-पुरुष दोनों के सहयोग से विकसित हुई, लेकिन इतिहास में स्त्रियों की भूमिका को सदैव उपेक्षित किया गया। खेती, पशुपालन, घरेलू कार्यों और कलाओं में उनका योगदान महत्वपूर्ण रहा है। आधुनिक स्त्री

अधिकार आंदोलन फ्रांस की राज्य क्रांति और औद्योगिक क्रांति की देन है, जिसने स्वतंत्रता, समानता और बंधुत्व के सिद्धांत दिए। प्रारंभ में यह आंदोलन वर्ग-समानता के लिए था, परंतु बाद में स्त्री की स्वतंत्र पहचान और मताधिकार की माँग भी इससे जुड़ी। यह आंदोलन धीरे-धीरे व्यापक महिला आंदोलन के रूप में विकसित हुआ।

समाज में पुरुषों की तुलना में स्त्रियों को राजनीतिक, सामाजिक और शैक्षिक समानता का अधिकार प्राप्त नहीं हुआ जिसके परिणामस्वरूप स्त्रियों द्वारा आंदोलन किए गए और इसे ही नारीवाद या स्त्रीवाद कहा गया। इसके लिए अंग्रेजी में Feminism शब्द का प्रयोग किया जाता है। सर्वप्रथम यह आंदोलन ग्रेट ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिका से प्रारंभ हुआ। स्त्रियों को पुरुष से बौद्धिक और शारीरिक स्तर पर कमतर समझा जाता रहा है।

समाज में धार्मिक और सांस्कृतिक रूप से धर्मशास्त्रों और कानून में स्त्रियों की पराधीनता और दासता का उल्लेख मिलता है। स्त्रियाँ अपने नाम से संपत्ति नहीं रख सकती थीं और स्त्रियों को संपत्ति का भी अधिकार नहीं था। स्त्रियाँ किसी भी चीज पर अपना अधिकार नहीं जमा सकती थीं। यहाँ तक कि उसे अपने ऊपर और अपने बच्चों पर भी अधिकार जताने का हक नहीं था। उसे अपने निर्णय लेने का भी अधिकार नहीं था। इन सब अधिकारों को प्राप्त करने के लिए महत्त्वपूर्ण दस्तावेजों के साथ स्त्रियों ने आवाज उठाई और मुक्ति के लिए आंदोलन भी किए।

प्रत्येक देश और प्रत्येक युग में स्त्रियों की स्थिति एक बराबर नहीं थी न ही स्त्रियों की स्थिति प्रत्येक वर्ग में एक समान थी। प्रत्येक देश, राज्य, संस्कृति और वहाँ की सामाजिक व्यवस्था के अनुसार स्त्रियों पर पुरुष सत्ता हावी रही। जब स्त्रियों ने अपनी समस्याओं पर विचार किया और लिंग के आधार पर सोचना प्रारंभ किया तब उन्हें अपनी दासता और हो रहे अन्याय का ज्ञान हुआ तब जा कर उन्होंने आवाज उठाई और आंदोलन किए, इसीलिए कहा जाता है कि स्त्री विमर्श स्त्रियों के ऊपर सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक,

सांस्कृतिक रूप से मानसिक और शारीरिक दबाव डालने वाली पारंपरिक रूढ़ियों और मान्यताओं के विरोध में उभरा एक वैचारिक आंदोलन है।

भारतीय साहित्य विशेषतः हिंदी साहित्य को समृद्ध बनाने में पुरुष साहित्यकारों के साथ-साथ महिला साहित्यकारों ने भी योगदान दिया है। खासकर स्त्री पर लिखे गए साहित्य को मुख्य धारा में लाने के लिए लेखिकाओं का अपना योगदान है। इनके साहित्य के माध्यम से हाशिये पर ढकेली गई स्त्री केंद्र में आने लगी है। वह अपनी अस्मिता और चेतना के हर क्षेत्र में खुद को रेखांकित कर रही है और साहित्य के माध्यम से यही ऊर्जा वह परिवर्तित कर रही है। वैसे नारी विमर्श का आरंभ तो स्वतंत्रता पूर्व भी था किंतु गौण रूप से स्वतंत्रता के बाद जैसे-जैसे हिंदी साहित्य विशाल होता गया वैसे-वैसे ही साहित्य में स्त्री को लेकर साहित्य सृजन होता गया।

स्त्री को उसकी आत्मचेतना तथा अस्मिताबोध ने ही विमर्श की प्रेरणा दी। लगातार होते आ रहे स्त्री आंदोलनों ने स्त्री को स्वयं के प्रति जागरूक होने तथा स्वयं के प्रति विचार करने पर बाध्य किया। यही विचारों ने आगे चलकर स्त्री विमर्श की नींव रखी। और इस नींव को रखने में स्त्री समर्थक साहित्यकारों का योगदान बहुत अहम रहा। "स्त्री-विमर्श दुनिया का एकमात्र अहिंसक आन्दोलन है जो मानकर चलता है कि दोष पुरुषों का नहीं, पितृसत्तात्मकता का है, जो किंचित पूर्वाग्रहों और कंडिशनिंग (प्रशिक्षण-दोष) के कारण पुरुषों को भेड़िया और स्त्रियों को भेड़ बना डालती है।"*2

वस्तुतः यह कथन दर्शाता है कि स्त्री-विमर्श एक अहिंसक सामाजिक आंदोलन है, जिसकी मूल भावना पुरुषों को दोषी ठहराने की नहीं, बल्कि पितृसत्तात्मक व्यवस्था की आलोचना करने की है। यह व्यवस्था सामाजिक conditioning और सांस्कृतिक पूर्वाग्रहों के ज़रिये पुरुषों को प्रभुत्वशाली और स्त्रियों को अधीन बनाती है। स्त्री-विमर्श इस सोच को बदलने का प्रयास करता है ताकि पुरुष-स्त्री दोनों मुक्त, समान और मानवीय मूल्यों पर

आधारित समाज में जी सकें। यह आंदोलन संघर्ष नहीं, बल्कि चेतना के विकास का माध्यम है।

3.2.i. उद्देश्य—

स्त्री विमर्श का मूल प्रश्न लिंग आधारित असमानता और उससे उपजी सामाजिक विषमता है। यह विमर्श इस बात पर केन्द्रित है कि स्त्री को जन्म से नहीं, बल्कि समाज द्वारा गढ़ा गया है। सीमोन द बोउवार का प्रसिद्ध कथन—"स्त्री पैदा नहीं होती, बनाई जाती है"—इस विचारधारा की आधारशिला बनता है। बचपन से ही लड़कियों पर 'लड़कियों जैसे' गुण, व्यवहार और सीमाएँ थोप दी जाती हैं, जिससे वे पारंपरिक भूमिकाओं में ढलती जाती हैं। पुरुष इस लिंग भेदपूर्ण संरचना में स्वयं को श्रेष्ठ और प्रभुत्वशील मानता है, जिससे स्त्रियों के अधिकार, आत्मनिर्णय और विकास बाधित होते हैं। स्त्री विमर्श इसी असंतुलन को चुनौती देता है और स्त्री को उसकी स्वतंत्र पहचान दिलाने का प्रयास करता है, ताकि वह अपने अस्तित्व को समाज में समान अधिकार और सम्मान के साथ स्थापित कर सके।

स्त्री विमर्श में 'स्त्री' को लेकर बहस इसलिए होती रही है क्योंकि इतिहास में स्त्री को सामाजिक, पारिवारिक और सांस्कृतिक संरचनाओं ने पराधीनता के प्रतीक रूप में गढ़ा है। स्त्री विमर्श का मूल उद्देश्य स्त्री की अस्मिता, स्वतंत्रता और समानता को प्रतिष्ठित करना है। उसे 'वस्तु' नहीं, 'व्यक्ति' के रूप में स्वीकार करवाना इस विमर्श का केंद्रीय सरोकार है। भारतीय समाज में स्त्री को प्रायः सीमित भूमिकाओं में बाँध दिया गया है—माँ, पत्नी, बेटी या केवल एक सेवा-प्रदाता। ऐसे में उसका आत्मविश्वास, स्वायत्तता और निर्णय लेने की क्षमता बाधित होती है। स्त्री विमर्श इस मानसिकता को चुनौती देता है और यह आग्रह करता है कि स्त्री भी पुरुष के समकक्ष है—बौद्धिक, भावनात्मक और व्यावसायिक योग्यता में। इस विमर्श का उद्देश्य स्त्रियों में चेतना और साहस भरकर उन्हें अपने अस्तित्व की पहचान दिलाना

है, ताकि वे स्वतंत्र रूप से अपने जीवन के निर्णय ले सकें और समता मूलक समाज की संरचना में भागीदार बन सकें।

इन्हीं मुद्दों को केन्द्र में रखकर चर्चा करें तो स्त्री विमर्श के निम्नलिखित उद्देश्य होते हैं:

- स्त्री को मनुष्य के रूप में प्रतिष्ठित करना,
- शोषण और उत्पीड़न के विरोध में संघर्ष करना,
- स्त्री संबंधी विभिन्न समस्याओं पर विचार विमर्श करना,
- स्त्री को अपने अस्तित्व और अस्मिता की पहचान करवाना,
- मानसिक रूप से सुदृढ़ बनाना,
- मानसिक और शारीरिक शोषण के खिलाफ आवाज़ उठाना,
- साहित्य, मीडिया और सिनेमा में स्त्री संबंधी मुद्दों से जागृति लाना,
- स्त्री को अपने भीतर सामाजिक, पारिवारिक और आर्थिक रूप से मानसिक परिवर्तन लाना।

स्त्री विमर्श के पीछे के क्या कारण रहे हैं? इसके लिए हमें स्त्री के ऐतिहासिक स्वरूप को समझना आवश्यक है जिसके बाद ही यह जाना जा सकता है कि स्त्रियों की स्थिति में किस प्रकार का परिवर्तन आया है और आ रहा है? और आज स्त्री ऐसी क्यों है? इस के लिए पाश्चात्य और भारतीय संदर्भों को एक-एक कर जानने की आवश्यकता है, तभी हम पूरे विश्व और भारत की स्त्रियों के संघर्ष और आंदोलन को समझ सकते हैं। पहले पाश्चात्य संदर्भों को संक्षिप्त में परिचय प्राप्त करते हैं—

3.2.ii. स्त्री विमर्श : पाश्चात्य परिप्रेक्ष्य में ऐतिहासिक कारण और चतुर्धारा आंदोलन—

स्त्री विमर्श कोई आकस्मिक घटना नहीं है, बल्कि यह इतिहास की गर्भ से उपजा एक दीर्घकालिक सामाजिक संघर्ष है। यह संघर्ष पितृसत्ता के उस सामाजिक ढांचे के विरुद्ध है जिसने स्त्री को सहायक, पराश्रित और द्वितीयक नागरिक के रूप में स्थापित कर दिया।

स्त्री विमर्श के पीछे मूलतः यही प्रश्न निहित है—स्त्री की वर्तमान स्थिति कैसे बनी? क्या यह उसकी जैविक प्रकृति का परिणाम है या सामाजिक-सांस्कृतिक निर्माण का?

आलोचक श्रद्धा सिंह कहती हैं कि, "नारी के उत्पीड़न और दासता का इतिहास उतना ही पुराना है, जितना असमानता तथा उत्पीड़न पर आधारित सामाजिक रचनाओं के उद्भव और विकास के इतिहास का।"*3 अर्थात् नारी के उत्पीड़न और दासता की जड़ें मानव समाज की उन संरचनाओं में निहित हैं, जो असमानता और शोषण पर आधारित रही हैं। जैसे-जैसे वर्ग, जाति और सत्ता के आधार पर सामाजिक ढांचे बने, वैसे-वैसे स्त्री की स्थिति भी अधीन होती गई। स्त्री का दमन केवल पारिवारिक या व्यक्तिगत नहीं, बल्कि एक ऐतिहासिक और सामाजिक प्रक्रिया है, जो सत्ता के केंद्रीकरण और पितृसत्तात्मकता के साथ गहराती गई। इसलिए नारी-विमर्श इस ऐतिहासिक अन्याय को पहचानकर उसके विरुद्ध चेतना जगाने का कार्य करता है।

"स्त्री-मुक्ति की चिंता और वैचारिक संघर्षों की शुरुआत अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अमेरिकी और फ्रांसीसी जनवादी क्रांतियों के दौर से हुई, जब 'प्राकृतिक अधिकार' और 'स्वतंत्रता-समानता-भ्रातृत्व' जैसे नारों को स्त्रियों ने भी अपने लिए लागू करने की माँग की। यह वह क्षण था जब स्त्रियाँ केवल घर की चारदीवारी से बाहर निकलकर अपने अस्तित्व और अधिकारों के लिए आवाज़ उठाने लगीं। इस चेतना ने आगे चलकर विश्वव्यापी स्त्री आंदोलनों को जन्म दिया। तब से आज तक स्त्री-पुरुष समानता, अधिकार, प्रतिनिधित्व और अस्मिता जैसे प्रश्नों पर सतत बहस होती रही है। "*4 यहाँ आज यह देखना जरूरी है कि नारी-विमर्श नारी के किन-किन प्रश्नों को, किस प्रकार से लेकर चलता है। अतीत में चिन्तन और विमर्श की इस परम्परा को देखें, तो पाते हैं कि पश्चिम में मर्सी वारेन, ओलिम्पी द गूजे, मेरी वोल्सटन क्राफ्ट, जॉन स्टुअर्ट मिल, चेर्नी शेव्स्की, मार्क्स, एंगेल्स एवं लेनिन आदि के स्त्री-विषयक विचार नारी-जीवन के प्रति एक बड़ी पृष्ठभूमि तैयार करते हैं। अर्थात् स्त्री-मुक्ति की वैचारिक यात्रा अमेरिकी और यूरोपीय जनवादी क्रांतियों से आरंभ हुई, जहाँ

स्त्रियों ने समान अधिकारों की माँग की। मर्सी वारेन से लेनिन तक अनेक विचारकों ने स्त्री मुद्दों को उभारा। यह विमर्श स्त्री के अस्तित्व, स्वतंत्रता और समानता को केंद्र में रखता है।

आलोचक श्रद्धा सिंह कहती हैं कि, "आज बुर्जुआ (पूर्वगामी) नारीवाद की जो विभिन्न धाराएँ हैं, उनको विकसित करने में सिमोन द बोउवार, बैट्टी फ्रीडेन एवं जर्मेन ग्रीर आदि नारी-विचारकों का बहुत बड़ा योगदान माना जाता है।"*5 इन्होंने स्त्री की अस्मिता, दमन और सामाजिक भूमिका पर गहन वैचारिक विश्लेषण प्रस्तुत किया, जिससे आधुनिक नारीवाद की दिशा तय हुई।

इस विमर्श की तह तक पहुँचने के लिए पाश्चात्य समाज की पितृसत्तात्मक संरचना और वहाँ स्त्री संघर्षों की ऐतिहासिक विकास-यात्रा को समझना अनिवार्य है।

3.2.ii.a. पितृसत्ता और पाश्चात्य स्त्री की ऐतिहासिक स्थिति :

पाश्चात्य समाज में पितृसत्ता कोई नई व्यवस्था नहीं है। लगभग चार हजार वर्षों से अधिक पुराने इतिहास में यह सामाजिक-सांस्कृतिक संरचना स्त्री को निष्क्रिय, निर्बल और निर्णयशून्य बनाए रखने का यंत्र बन चुकी थी। घर के भीतर और समाज के बाहर, दोनों ही स्थानों पर पुरुष ही नीतिनिर्धारक था। स्त्री की आवाज़, उसकी इच्छा, यहाँ तक कि उसका अस्तित्व भी पुरुष की अनुमति और स्वीकृति पर आधारित था। सामाजिक और धार्मिक संस्थाएँ इस पुरुष-वर्चस्व को संरक्षित और वैधता प्रदान करती थीं। इस ऐतिहासिक अन्याय के विरुद्ध स्त्रियों की चेतना और प्रतिरोध धीरे-धीरे स्वर ग्रहण करने लगी, जिसने कालांतर में स्त्री विमर्श को जन्म दिया। विशेषतः पाश्चात्य समाज में स्त्रियों द्वारा लड़े गए संघर्षों को हम चार प्रमुख चरणों में बाँट सकते हैं—

3.2.ii.b. प्रथम चरण — मताधिकार और वैधानिक अधिकारों की माँग—

उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्ध और बीसवीं सदी का पूर्वार्द्ध स्त्रियों के प्रथम बौद्धिक और राजनीतिक जागरण का काल रहा। अमेरिका, ब्रिटेन और यूरोप के अनेक भागों में स्त्रियों

ने मताधिकार, संपत्ति के अधिकार, समान शिक्षा और रोजगार की माँगों को लेकर सशक्त आंदोलन खड़े किए। 1872 में ब्रिटेन में वैवाहिक संपत्ति अधिनियम के तहत पत्नी को पहली बार संपत्ति पर अधिकार मिला। वहीं अमेरिका में 1920 में संविधान के 19वें संशोधन द्वारा स्त्रियों को मतदान का अधिकार मिला, जिसने आधुनिक लोकतांत्रिक समाज में उनकी उपस्थिति को विधिसम्मत स्वीकृति दी। प्रथम चरण की स्त्रियाँ यह भी समझ चुकी थीं कि समानता केवल कानूनों में नहीं, बल्कि राजनीतिक स्वायत्तता में निहित है। ब्रिटिश मताधिकार कार्यकर्ता Emmeline Pankhurst ने इस संघर्ष की सघनता को इन शब्दों में व्यक्त किया: "We are here not because we are law-breakers; we are here in our efforts to become law-makers."6 इस कथन में वह प्रतिरोध झलकता है जो स्त्रियाँ कानून के दायरे में बदलाव लाने के लिए कर रही थीं — एक परंपरा को तोड़ने और नई व्यवस्था को रचने का साहसिक आह्वान।

हंस (सं.राजेन्द्र यादव), प्रभा खेतान : संदर्भ और विचार*7*, जनवरी–फ़रवरी 2000, के पृष्ठ 36 में उल्लिखित एक कथन स्त्री-विमर्श की ऐतिहासिक बहसों की जटिलता को रेखांकित करता है। '19वीं सदी के मध्य जब स्त्री अधिकारों की संस्थाओं ने संगठित रूप से कार्य प्रारंभ किया, तब फेमिनिज्म दो प्रमुख धाराओं में बँट गया। एक धारा ने स्त्री के 'मनुष्य' होने की पहचान को केंद्र में रखा, जहाँ वह पुरुष के समान अधिकारों, अवसरों और सामाजिक हैसियत की माँग करती है। दूसरी धारा ने पारंपरिक मूल्यों के भीतर स्त्री को 'देवी', 'गृहलक्ष्मी' या 'संस्कारों की वाहक' के रूप में प्रस्तुत किया, जिसमें उसकी भूमिका सीमित लेकिन आदर्शीकृत रही। इसी प्रकार सेक्शूऐलिटी के प्रश्न पर भी फेमिनिज़्म दो हिस्सों में विभाजित हुआ—एक इसे पितृसत्तात्मक दृष्टिकोण मानकर नकारता है, तो दूसरा स्त्री की यौनिकता को उसकी स्वायत्तता और शक्ति के रूप में स्वीकार करता है। यह अंतर स्त्री विमर्श की बहुलता और वैचारिक विविधता का प्रमाण है।' इस चरण की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह थी कि स्त्रियाँ अपने ऊपर हो रहे भेदभाव को 'प्राकृतिक' मानने से इंकार करने

लगीं। उन्होंने यह उद्घोष किया कि पितृसत्ता एक सामाजिक निर्माण है न कि ईश्वरप्रदत्त व्यवस्था। इस चरण की नायिकाएँ—एलिजाबेथ केडी स्टैंटन, सूजन बी. एंथनी, वर्जिनिया वुल्फ आदि—ने स्त्री की बौद्धिक क्षमताओं और अधिकारों को स्थापित करने हेतु अत्यंत महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

3.2.ii.c. द्वितीय चरण — सामाजिक और सांस्कृतिक पितृसत्ता के विरुद्ध संघर्ष—

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद, 1950 और 60 के दशक में स्त्री विमर्श ने वैधानिक सीमाओं से बाहर निकल कर सामाजिक और सांस्कृतिक असमानताओं पर सवाल खड़े किए। इस दौर में स्त्रियों ने महसूस किया कि सिर्फ कानून बनाना पर्याप्त नहीं, जब तक कि सामाजिक व्यवहार और मानसिकता में परिवर्तन नहीं होता। इस भावना को स्त्रीवादी विचारक बेट्टी फ्रीडन ने अत्यंत प्रभावशाली शब्दों में व्यक्त किया: "Each suburban wife struggled with it alone. As she made the beds, shopped for groceries, matched slipcover material, ate peanut butter sandwiches with her children... she was afraid to ask even of herself the silent question — 'Is this all?'"*8 यह उद्धरण द्वितीय चरण की उस आंतरिक बेचैनी को दर्शाता है जिसने लाखों गृहिणियों को यह सोचने पर विवश किया कि उनका जीवन, शिक्षा और आत्मा केवल घरेलू भूमिकाओं तक क्यों सीमित है। "19वीं शती के समाप्त होते-होते तथा 20वीं शती के प्रारम्भ में स्त्रियों ने कानून के आधार पर अनेक महत्त्वपूर्ण अधिकार प्राप्त कर लिए।"*9

'द फेमिनिन मिस्टीक' (1963) जैसी पुस्तकों और बेट्टी फ्रिडन जैसी विचारक लेखिकाओं ने यह दर्शाया कि स्त्रियों की सबसे बड़ी पीड़ा 'घर के भीतर की कैद' है। मातृत्व, विवाह और पारिवारिक जिम्मेदारियों की आड़ में स्त्रियों को नौकरी से निकाला जा रहा था, उन्हें सीमित भूमिकाओं में जकड़ा जा रहा था। इसी समय अमेरिकी सुप्रीम कोर्ट ने 'रो बनाम वेड' मुकदमे में ऐतिहासिक निर्णय देते हुए स्त्रियों को गर्भसमापन का वैधानिक अधिकार प्रदान किया। इस चरण में आंदोलन की प्रकृति व्यावहारिक और व्यापक बनी। महिलाएँ

अब केवल मताधिकार नहीं, बल्कि सम्मान, समानता, सुरक्षा और स्वतंत्रता के लिए संघर्ष कर रही थीं।

"नारी-मुक्ति की माँग सबसे पहले फ्रांस राज्य-क्रान्ति के समय महिला रिपब्लिक क्लबों ने की थी— 'आजादी, समानता और भ्रातृत्व का व्यवहार बिना किसी लिंग-भेद के लागू होना चाहिए।' यह आन्दोलन, वास्तव में; सन् 1848 में उस समय शुरू हुआ, जब एलिजाबेथ, कैडी स्टैण्टन आदि ने समानता के साथ वोट देने के अधिकार की माँग की। सन् 1966 में अमेरिका में 'राष्ट्रीय महिला संगठन' बना, जिसकी सन् 1970 में 400 से अधिक शाखाएँ बन गईं। ये महिलाएँ 'हमें आजाद करो' के नारे लगाते सड़क पर उतरीं। केट मिलेट की 'Sexual Politics' तथा जर्मेन ग्रीर की 'The Female Euncuch' ने आन्दोलन को इतना अतिवादी बना दिया कि नारी-मुक्ति की माँग यौन-स्वच्छन्दता की माँग में तब्दील हो गई। वैवाहिक सम्बन्ध टूटने लगे, विवाहेतर सम्बन्ध की मान्यता बढ़ने लगी अर्थात् आन्दोलन दिशा खोकर भटकाव का शिकार हो गया।"*10

3.2.ii.d. तृतीय चरण — उपसंस्कृति से प्रतिरोध तक—

1990 के दशक में स्त्रीवाद ने एक नया मोड़ लिया। इसे 'तृतीय चरण' या 'थर्ड वेव' कहा गया। इस दौर की स्त्रियाँ अधिक स्वायत्त, आत्मविश्लेषी और बहुविध पहचान के साथ सामने आईं। इस चरण की स्त्रियाँ अधिक स्वायत्त, आत्मविश्लेषी, और बहुविध पहचान के साथ सामाजिक विमर्श में सक्रिय हुईं। रेबेका वॉकर, जिन्होंने 'Third Wave' शब्द को लोकप्रिय किया, स्पष्ट रूप से कहती हैं: "I am not a postfeminism feminist. I am the Third Wave."*11 यह वक्तव्य न केवल एक नई स्त्रीवादी चेतना की उद्घोषणा था, बल्कि यह इस लहर की स्वतः परिभाषित पहचान की स्थापना भी करता है।

तीसरी लहर की एक और विशेषता यह रही कि इसने निजी अनुभव, यौन स्वायत्तता, और संवेदनशील सामाजिक न्याय को स्त्रीवादी विमर्श का केंद्र बनाया। इसे जेनिफर बामगाड्नर और एमी रिचर्ड्स अपनी प्रसिद्ध कृति में इस प्रकार रेखांकित करती हैं: "Third

Wave feminism is all about personal narratives, sexual agency, and fighting for justice through lived experience."12 यह वक्तव्य 'रायट गर्ल' जैसी पंक उपसंस्कृतियों, सार्वजनिक गवाही अभियानों, और सांस्कृतिक प्रतिरोध में अभिव्यक्त हुआ, जहाँ युवा स्त्रियों ने अपनी आवाज़ को बौद्धिक और सांगीतिक दोनों स्वरूपों में मुखर किया। तीसरी लहर स्त्रीवाद के विमर्श में कल्पनाशीलता और यथार्थ के समन्वय की आवश्यकता को बेल हुक्स अत्यंत मार्मिक रूप से प्रस्तुत करती हैं: "To be truly visionary we have to root our imagination in our concrete reality while simultaneously imagining possibilities beyond that reality."*13 यह कथन तीसरी लहर की समावेशी चेतना, भविष्य-दृष्टि, और स्थानीय अनुभवों पर आधारित वैश्विक सोच की पुष्टि करता है, जो स्त्रीवाद को केवल आंदोलन न मानकर एक सृजनात्मक सामाजिक पुनर्रचना के रूप में देखता है। वस्तुतः 'रायट गर्ल' जैसी फेमिनिस्ट पंक उपसंस्कृतियाँ, यौन शोषण के खिलाफ सार्वजनिक गवाही, और रेबेका वॉकर जैसी लेखिकाओं की लेखनी इस चरण के प्रतिनिधि स्वर बने।

इस चरण में यह स्पष्ट हुआ कि पूर्ववर्ती आंदोलनों में स्त्रीत्व को एक हीरार्कीकल तरीके से प्रस्तुत किया गया था। नई स्त्रियाँ—जो अश्वेत थीं, समलैंगिक थीं, या किसी अन्य पहचान से जुड़ी थीं—ने अपने लिए अलग स्थान और स्वर की माँग की। इस दौर में सोशल मीडिया, पत्रिकाओं और वैकल्पिक संप्रेषण माध्यमों ने आंदोलन को एक नए मुकाम पर पहुँचाया।

3.2.ii.e. चतुर्थ चरण — डिजिटल युग में स्त्री विमर्श—

सन् 2010 के बाद स्त्री विमर्श ने तकनीक के माध्यम से अभिव्यक्ति का नया रूप धारण किया। सोशल मीडिया मंचों पर स्त्रियाँ अपने अनुभवों, संघर्षों और आकांक्षाओं को साझा करने लगीं। #MeToo जैसे आंदोलन इस चरण की विशेष उपलब्धि हैं, जिन्होंने न

केवल यौन उत्पीड़न के विरुद्ध वैश्विक आक्रोश को जन्म दिया बल्कि स्त्री की आवाज को अंतरराष्ट्रीय स्वर प्रदान किया। किन्तु डिजिटल युग ने स्त्री विमर्श को जितनी स्वतंत्रता दी, उतने ही नए संकट भी उत्पन्न किए—साइबर अपराध, ऑनलाइन उत्पीड़न, ब्लैकमेलिंग, 'रील कल्चर' में वस्तुकरण। तकनीक के इस युग में स्त्री विमर्श के समक्ष नवीन संकट भी उभरे हैं—जैसे कि साइबर उत्पीड़न, डॉक्सिंग, ब्लैकमेलिंग, ट्रोलिंग और 'रील कल्चर' में स्त्री का वस्तुकरण। यह विरोधाभास बताता है कि तकनीक एक दोधारी तलवार है: जहाँ यह सशक्तिकरण का माध्यम है, वहीं यह नए प्रकार के शोषण की भी वाहक बन रही है। तकनीकी दुविधा को संबोधित करते हुए डिजिटल नारीवाद की विशेषज्ञ Sarah Banet-Weiser लिखती हैं: "Networked feminism emerges within the same digital economies that produce misogynist hate; feminist visibility is both empowered and vulnerable."14 यह उद्धरण डिजिटल युग में स्त्री की दुर्बलता और शक्ति दोनों की एक साथ उपस्थिति को चिन्हित करता है। इसलिए चतुर्थ चरण का स्त्री विमर्श केवल यौन-राजनीतिक चेतना तक सीमित नहीं, बल्कि तकनीकी साक्षरता, डिजिटल अधिकार, और सुरक्षित आभासी स्पेस की मांगों को भी समाहित करता है। यह चरण स्त्री विमर्श को साइबर फेमिनिज़्म (Cyberfeminism) की ओर ले जाता है, जहाँ तकनीक, लैंगिकता और अस्मिता के जटिल संबंधों पर बहस हो रही है। अतः आज के स्त्री विमर्श में तकनीकी साक्षरता, डिजिटल अधिकार और आभासी सुरक्षित स्पेस की माँगें भी शामिल हो गई हैं।

3.2.ii.f. एक सतत यात्रा— पाश्चात्य स्त्री विमर्श का इतिहास यह स्पष्ट करता है कि स्त्रियाँ केवल अपने अधिकारों के लिए नहीं, बल्कि पूरे समाज के मानवीयकरण के लिए संघर्ष कर रही हैं। चारों चरणों में यह देखा गया कि स्त्रियाँ अपने अनुभवों को साझा कर, एक-दूसरे से जुड़कर और सांस्कृतिक मिथकों को तोड़कर आगे बढ़ी हैं। पितृसत्ता अब भी उनके मार्ग में

बाधा है, परंतु चेतना की लौ जल चुकी है। स्त्री विमर्श केवल स्त्री के लिए नहीं, समस्त मानव समाज के लिए जरूरी विमर्श है। यह केवल शोषण का प्रतिरोध नहीं, बल्कि समता, करुणा और न्याय पर आधारित नई सामाजिक संरचना की माँग है।

पाश्चात्य हिस्से की इस ऐतिहासिक विवेचना के पश्चात जब हम समझ पाएँगे कि किस प्रकार वैश्विक चेतना ने भारत की स्त्रियों को भी प्रेरित किया, परंतु भारतीय समाज की सांस्कृतिक विशिष्टताएँ उनके संघर्षों को एक विशिष्ट रूप देती हैं।

3.2.iii. भारतीय संदर्भ में स्त्री विमर्श की ऐतिहासिक पड़ताल —

स्त्री विमर्श आधुनिक युग की एक सशक्त वैचारिक धारा है, जिसका लक्ष्य स्त्री की अस्मिता, सामाजिक बराबरी को स्थापित करना है। परंतु यह विमर्श अचानक उत्पन्न नहीं हुआ। भारतीय समाज में स्त्री की स्थिति का इतिहास बहुत प्राचीन और जटिल है—कभी वह देवी बनकर पूजी गई, तो कभी भोग्या और अधीनस्थ बनकर समाज के हाशिए पर डाल दी गई। इस ऐतिहासिक यात्रा में सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और औपनिवेशिक प्रभावों ने स्त्री की भूमिका को निरंतर पुनर्परिभाषित किया। यही ऐतिहासिक गतिशीलता स्त्री विमर्श की पृष्ठभूमि बनती है। भारत में स्त्री की स्थिति सदैव द्वैधतावादी रही है—वह कभी देवी, कभी जननी, तो कभी भोग्या, और कई बार उपेक्षा और दमन की शिकार रही है। इस जटिल स्थिति को समझते हुए प्रसिद्ध समाजशास्त्री डॉ. आंबेडकर ने कहा था: "I measure the progress of a community by the degree of progress which women have achieved."15 यह कथन दर्शाता है कि स्त्री की स्थिति किसी भी समाज की प्रगतिशीलता की कसौटी होती है, और उसकी ऐतिहासिक उपेक्षा को विमर्श के केंद्र में लाना आवश्यक है। प्रभा खेतान लिखती हैं— "विभिन्न नारीवादी विचारधाराओं के अलग-अलग नाम भी बने हैं, जैसे- उदार नारीवाद, मार्क्सवादी नारीवाद, मनोविश्लेषक नारीवाद, अराजक नारीवाद तथा सामाजिक नारीवाद।"*16

वास्तव में, आधुनिक स्त्री विमर्श की नींव उन स्त्रियों ने रखी जिन्होंने औपनिवेशिक व्यवस्था और पितृसत्तात्मक समाज—दोनों से टकराते हुए अपने स्वानुभव को राजनीतिक स्वर में बदला। लेखिका और इतिहासकार उर्वशी बुटालिया इस ऐतिहासिक अनुभव की ज़रूरत को रेखांकित करती हैं: "We need to understand women's history not merely as a counter to dominant history, but as a space to recognize silences, exclusions, and subjective truths."*17 यह विचार भारतीय स्त्री विमर्श को विकल्प के रूप में नहीं, बल्कि मूल इतिहास के आवश्यक विस्तार के रूप में प्रस्तुत करता है।

3.2.iii.a. वैदिक काल की स्त्री: ज्ञान और स्वतंत्रता की संप्राप्ति—

प्राचीन वैदिक काल को भारतीय स्त्री की स्वर्ण युगीन स्थिति के रूप में देखा जाता है। ऋग्वेद, यजुर्वेद और उपनिषदों में वर्णित अनेक स्त्रियाँ—घोषा, लोपामुद्रा, अपाला, गार्गी और मैत्रेयी—उस समय की स्त्री की विद्वत्ता, आत्मनिर्णय और सामाजिक अधिकारों की साक्षी हैं। गार्गी ने याज्ञवल्क्य जैसे प्रकांड विद्वान से ब्रह्मविद्या पर बहस की, तो मैत्रेयी ने आत्मा और मोक्ष जैसे गूढ़ विषयों पर प्रश्न किए। यह युग स्त्री की वैचारिक स्वतंत्रता, वैदिक शिक्षा में भागीदारी और सामाजिक प्रतिष्ठा का परिचायक है। विवाह, संतान-उत्पत्ति और गृहस्थ आश्रम के अतिरिक्त स्त्रियाँ ब्रह्मवादिनी और साध्वी रूप में भी जीवन व्यतीत कर सकती थीं।

3.2.iii.b. उत्तरवैदिक और स्मृति युग: अधीनता की शुरुआत—

कालांतर में जब पितृसत्ता ने सामाजिक ढाँचे पर अधिक स्पष्ट नियंत्रण स्थापित किया, तब स्त्री की स्वतंत्रता सीमित होती चली गई। मनुस्मृति जैसे ग्रंथों ने स्त्री को अधीन और निर्भर घोषित किया—"स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति" (स्त्री स्वतंत्रता की अधिकारी नहीं)। इस युग में कन्यादान की अवधारणा प्रबल हुई और विवाह को स्त्री का एकमात्र धर्म माना जाने

लगा।स्त्रियाँ शिक्षा से वंचित की जाने लगीं, वेदाध्ययन से रोका गया, और उन्हें पति-सेवा, सती प्रथा, पर्दा तथा चौखट के भीतर सीमित कर दिया गया। यह समय स्त्री के अधिकारों के संकुचन और उसकी सामाजिक-धार्मिक अधीनता का काल है, जो स्त्री विमर्श के जन्म का कारण बना।

3.2.iii.c. मध्यकाल: धर्म, परंपरा और स्त्री का द्वंद्व—

मध्यकाल भारतीय इतिहास में एक सांस्कृतिक-सामाजिक संक्रमण का काल था, जहाँ एक ओर भक्ति आंदोलन ने स्त्रियों को स्वर देने का अवसर दिया, वहीं दूसरी ओर सामंती और इस्लामी प्रभावों ने उन्हें और अधिक बंधनों में जकड़ा। पर्दा प्रथा, बाल विवाह, सती प्रथा, विधवा जीवन की अमानवीयता और अशिक्षा—ये सब स्त्री के दमन के उपकरण बने। फिर भी इस युग में स्त्रियों ने भक्ति के माध्यम से अपनी पहचान बनाई। मीराबाई, अक्कमहादेवी, लल्लेश्वरी, बहिणाबाई जैसी संत कवयित्रियों ने ईश्वर से सीधा संवाद स्थापित करते हुए पारंपरिक सामाजिक संरचनाओं को चुनौती दी। यह स्त्री की आत्मा की मुक्ति का आरंभिक संकेत था।

3.2.iii.d. औपनिवेशिक काल: पुनर्जागरण और स्त्री प्रश्न का उद्भव-

19वीं शताब्दी के भारत में ब्रिटिश शासन के साथ-साथ पश्चिमी विचारधाराओं का प्रभाव बढ़ा। इससे एक ओर भारतीय समाज में सुधारवादी चेतना जागी, वहीं दूसरी ओर स्त्री प्रश्न के प्रति नया विमर्श भी विकसित हुआ। राजा राममोहन राय, ईश्वरचंद्र विद्यासागर, ज्योतिबा फुले, सावित्रीबाई फुले, पंडिता रमाबाई जैसे समाज सुधारकों ने स्त्रियों की शिक्षा, सती प्रथा उन्मूलन, विधवा पुनर्विवाह और बाल विवाह उन्मूलन जैसे मुद्दों पर कार्य किया।

- सावित्रीबाई फुले: भारतीय नारीवाद की अग्रदूत : सावित्रीबाई फुले भारत की पहली महिला शिक्षिका और सामाजिक कार्यकर्ता थीं। उन्होंने स्त्री शिक्षा को ब्राह्मणवादी पितृसत्ता के विरोध का माध्यम बनाया। उनका कथन—'जाओ, लड़कियों को पढ़ाओ और देश को बचाओ'—स्त्री विमर्श के भारतीय संस्करण का आद्य सूत्र बनता है।

- स्त्री पत्रिकाएँ और स्त्री लेखन : इस समय अनेक स्त्रियाँ लेखन की ओर अग्रसर हुईं। रमाबाई की आत्मकथा 'मेरी जीवन यात्रा' और काशीबाई कानिटकर, ताराबाई शिंदे जैसे लेखिकाओं ने स्त्री की आवाज़ को कलम से समाज के सामने रखा। ताराबाई की कृति 'स्त्री-पुरुष तुलना' आधुनिक भारतीय स्त्री विमर्श की प्रस्थान बिंदु मानी जा सकती है।

3.2.iii.e. स्वतंत्रता संग्राम और स्त्री की राजनीतिक चेतना—

20वीं शताब्दी के आरंभिक दशकों में जब स्वतंत्रता संग्राम अपने उभार पर था, तब स्त्रियों ने इस संघर्ष में सक्रिय भागीदारी की। एनी बेसेंट, सरोजिनी नायडू, अरुणा आसफ़ अली, कमला देवी चट्टोपाध्याय, दुर्गा भाभी जैसी नारियों ने स्वतंत्रता और नारी मुक्ति को एक ही लड़ाई के दो आयाम के रूप में देखा। एनी बेसेंट, जिन्होंने *Home Rule Movement* की स्थापना की, भारतीय महिलाओं के लिए एक प्रेरक भूमिका में थीं। वहीं सरोजिनी नायडू न केवल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की अध्यक्ष बनीं, बल्कि ब्रिटिश शासन की मुखर आलोचक भी रहीं। उनके शब्दों में: "We want deeper sincerity of motive, a greater courage in speech and earnestness in action."*18 यह वक्तव्य उस राजनीतिक गहराई को दर्शाता है जिसे स्त्रियाँ स्वतंत्रता आंदोलन में ला रही थीं—यह केवल विरोध नहीं, बल्कि नव-निर्माण की कल्पना थी। महात्मा गांधी ने महिलाओं को सत्याग्रह, चरखा, खादी और अहिंसा के माध्यम से सार्वजनिक क्षेत्र में लाने का कार्य किया। परंतु यह भागीदारी अभी भी 'मातृत्व' और 'सेवा' की सीमाओं में थी। राजनीतिक सहभागिता बढ़ी, पर स्त्री के अधिकारों का स्पष्ट स्वर अब भी अप्रकट था।

3.2.iii.f. स्वतंत्र भारत और संवैधानिक समानता—

भारत के संविधान (1950) ने स्त्री-पुरुष को समान अधिकार दिए—वोट का अधिकार, समान वेतन, शिक्षा का अधिकार, विवाह एवं संपत्ति में समानता। परंतु ये अधिकार व्यवहारिक धरातल पर लंबे समय तक केवल कानूनी भाषा तक सीमित रहे। 1955 के हिंदू कोड बिल, 1975 की पहली राष्ट्रीय महिला नीति, 1990 के बाद के महिला आरक्षण प्रस्ताव—ये सब भारतीय स्त्री विमर्श की वैधानिक प्रक्रियाएँ थीं, जिन्होंने स्त्री प्रश्न को नीति निर्माण से जोड़ा।

3.2.iv. समकालीन स्त्री विमर्श: साहित्य, आंदोलन और पहचान की राजनीति—

3.2.iv.a. स्त्री लेखन और आत्मकथाएँ : 1970 और 80 के दशक से स्त्रियों ने न केवल समाजशास्त्रीय विमर्श में बल्कि साहित्य के क्षेत्र में भी अपनी वैचारिक सत्ता को स्थापित किया। हिंदी, मराठी, बंगाली, उर्दू आदि भाषाओं में स्त्री लेखिकाओं ने आत्मकथाओं, उपन्यासों, कहानियों और निबंधों के माध्यम से अपनी चेतना को स्वर दिया। मैत्रेयी पुष्पा, रमणिका गुप्ता, मन्नू भंडारी, उषा प्रियंवदा, प्रभा खेतान, चित्रा मुद्गल, दुर्गा खोटे, कमला दास, बेगम रोकैया, अमृता प्रीतम—इनकी रचनाएँ स्त्री के अंतर्मन, यौनिकता, सामाजिक असमानता और वर्ग-जाति-लिंग के अंतर्संबंधों पर खुलकर विमर्श करती हैं।

3.2.iv.b. महिला आंदोलन और सामाजिक संघर्ष — 1970 के दशक में भारत में स्त्री आंदोलनों की नई लहर उठी। 'शाहबानो केस', 'मथुरा बलात्कार प्रकरण', 'नर्मदा बचाओ आंदोलन' आदि ने स्त्री अधिकारों को न्याय, कानून और सामाजिक न्याय से जोड़ा। 1980 और 90 के दशक में दलित स्त्री विमर्श, आदिवासी स्त्री चेतना, मुस्लिम स्त्री अधिकार जैसे

विविध विमर्श भी उभरे। ये न केवल पितृसत्ता, बल्कि ब्राह्मणवाद, पूंजीवाद और धार्मिक कट्टरता को भी चुनौती देने लगे।

3.2.iv.c. उत्तरआधुनिक दौर और स्त्री विमर्श का बहुवचन—

आज स्त्री विमर्श एकवाचनीय नहीं, बल्कि बहुवचन हो गया है। दलित स्त्री विमर्श (शोभा सखाराम गोंदन, सुशीला टाकभौरे), आदिवासी विमर्श (दया पवार, कुसुम मेघवाल), ट्रांस महिला विमर्श, और क्वीर फेमिनिज़्म—इन सबने स्त्री को न केवल लिंग की दृष्टि से, बल्कि सामाजिक-आर्थिक-जातीय संदर्भों में विश्लेषित करना शुरू किया है। यह दौर यह भी स्पष्ट करता है कि स्त्री सिर्फ़ 'नारी' नहीं, बल्कि एक सामाजिक श्रेणी है जिसकी स्थिति संदर्भानुसार बदलती है। इसीलिए अब स्त्री विमर्श को बहुआयामी, बहुस्तरीय और बहुलतावादी दृष्टि से देखा जा रहा है।

वस्तुतः भारतीय संदर्भ में स्त्री विमर्श की ऐतिहासिक पड़ताल एक गहन और बहुस्तरीय प्रक्रिया है। यह केवल स्त्री की सामाजिक स्थिति का ही नहीं, बल्कि भारतीय समाज की नैतिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक चेतना का भी दर्पण है। वैदिक काल की स्वतंत्रता से लेकर मध्यकाल की अधीनता, औपनिवेशिक काल की पुनरुत्थान प्रक्रिया से लेकर समकालीन उत्तरआधुनिक बहुल विमर्शों तक—यह यात्रा बताती है कि स्त्री विमर्श कोई आयातित विचार नहीं, बल्कि भारतीय चेतना की ही एक परिणति है।

आज जबकि संविधानिक अधिकार, साहित्यिक सृजन, और सामाजिक आंदोलनों के माध्यम से स्त्री अपनी अस्मिता के लिए संघर्षरत है, तब यह ज़रूरी है कि इतिहास से सीखते हुए भविष्य की ओर समावेशी, न्यायपूर्ण और समतामूलक दृष्टि से बढ़ा जाए।

वस्तुतः आरंभिक भारतीय परम्परा में स्त्री की स्थिति सीमित और बाधित थी, जहाँ वह पारंपरिक मूल्यों की बंदिशों में जकड़ी रही। परन्तु स्वतंत्रता के बाद समाज-सुधारकों और शिक्षा के प्रसार ने स्त्री को आत्मबोध और सामाजिक चेतना प्रदान की। बीसवीं शताब्दी के

उत्तरार्द्ध में यह विमर्श पाश्चात्य नारीवाद से प्रेरित होकर भारतीय संदर्भों में एक प्रगतिशील, व्यावहारिक और वैचारिक आंदोलन में रूपांतरित हुआ। अब स्त्री मात्र देवी या त्यागमूर्ति न होकर अपने अधिकारों और अस्मिता के प्रति सजग है। उसने पुरुष को केवल सहचर नहीं, बल्कि समानधर्मी के रूप में देखना आरंभ किया है। आधुनिकता और अंग्रेज़ी शिक्षा के प्रभाव से यह विमर्श अधिक सशक्त, गतिशील और आलोचनात्मक हो उठा है, जो भारतीय समाज में स्त्री की वास्तविक भूमिका को पुनर्परिभाषित करता है। महादेवी वर्मा के शब्दों में ये कहना समीचीन होगा कि— "भारतीय नारी जिस दिन अपने सम्पूर्ण प्राण देय से जाग जायेगी, उस दिन उसकी गति को रोकना किसी के लिए सम्भव नहीं।"*19 वस्तुतः भारत की स्त्री शताब्दियों तक धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक बंधनों में जकड़ी रही, परंतु उसके भीतर सृजन, सहनशीलता और संघर्ष की जो शक्ति निहित है, वह अपार है। जैसे ही वह अपनी चेतना, अधिकार और अस्तित्व के प्रति जागरूक होती है, उसकी ऊर्जा एक व्यापक सामाजिक बदलाव का माध्यम बन सकती है। यह कथन न केवल नारी के आत्मविकास का आह्वान है, बल्कि पितृसत्तात्मक समाज को चुनौती देने वाला विचार भी है। नारी की "गति" यहाँ केवल भौतिक उन्नयन नहीं, बल्कि वैचारिक, सामाजिक और मानसिक स्वतंत्रता की ओर संकेत करती है, जो यदि पूर्ण रूप से जाग्रत हो जाए, तो एक नई सामाजिक क्रांति का सूत्रपात कर सकती है।

सन्दर्भ :

1. आधी आबादी (संदर्भ एवं प्रसंग), डॉ श्रद्धा सिंह : पृष्ठ संख्या 59
2. अनामिका से सुदर्शन नारंग की बातचीत, हंस पत्रिका, मई, 2005, पृ. 561
3. आधी आबादी (संदर्भ एवं प्रसंग), डॉ श्रद्धा सिंह : पृष्ठ संख्या 72
4. स्त्री अधिकारों का औचित्य साधन, मैरी वोलस्तन क्राफ़्ट (सम्पादकीय से)
5. आधी आबादी (संदर्भ एवं प्रसंग), डॉ श्रद्धा सिंह : पृष्ठ संख्या 72
6. Emmeline Pankhurst, speech at London, 1913, reprinted in "Votes for Women: The Virago Book of Suffragettes", ed. by Joyce Marlow, pg 146.
7. हंस, (सं) राजेंद्र यादव, प्रभा खेतान : संदर्भ और विचार, जनवरी-फ़रवरी, 2000, पृष्ठ 36
8. *Betty Friedan, "The Feminine Mystique"*, W.W. Norton & Company, 1st Edition, 1963, p. 15
9. आधी आबादी (संदर्भ एवं प्रसंग), डॉ श्रद्धा सिंह : पृष्ठ संख्या 73
10. हिंदी अनुशीलन, सं यतींद्र तिवारी, जून 2004, पृष्ठ 58-59
11. Rebecca Walker, "Becoming the Third Wave", Ms. Magazine (1992)
12. jennifer Baumgardner & Amy Richards, "Manifesta: Young Women, Feminism, and the Future" (2000)
13. bell hooks, "Feminism is for Everybody" (2000)
14. *Sarah Banet-Weiser, "Empowered: Popular Feminism and Popular Misogyny"*, Duke University Press, 2018, p. 23
15. R. Ambedkar, "Writings and Speeches", Vol. 17, Government of Maharashtra Publication, 1991, p. 129
16. हंस, (सं) राजेंद्र यादव, प्रभा खेतान : संदर्भ और विचार, जनवरी-फ़रवरी, 2000, पृष्ठ 36

17. *Urvashi Butalia, "The Other Side of Silence: Voices from the Partition of India"*, Duke University Press, 2000, p. 5
18. *Sarojini Naidu, Presidential Address at the Indian National Congress, Kanpur Session, 1925*
19. महादेवी वर्मा, शृंखला की कड़ियाँ, पृष्ठ 11

3.3

हिंदी की स्त्री-आत्मकथाओं के विभिन्न परिप्रेक्ष्य

हिन्दी साहित्य में स्त्री आत्मकथाएँ केवल व्यक्तिगत जीवन का चित्रण नहीं, बल्कि सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक संरचनाओं का प्रतिवाद भी हैं। भारतीय समाज में स्त्री को लंबे समय तक मूक और हाशिए पर रखा गया, उसकी अनुभूतियाँ और संघर्ष सार्वजनिक विमर्श से अनुपस्थित रहे। किन्तु जैसे-जैसे स्त्री चेतना का विकास हुआ, आत्मकथा एक सशक्त माध्यम के रूप में उभरी। इन आत्मकथाओं में स्त्रियाँ न केवल अपने अंतर्विरोधों, पीड़ाओं और आकांक्षाओं को स्वर देती हैं, बल्कि पितृसत्तात्मक व्यवस्था की जटिलताओं को भी उजागर करती हैं।

हम स्त्री आत्मकथाओं को निम्नलिखित परिप्रेक्ष्यों में विवेचित कर सकते हैं—

3.3.i. स्त्री-आत्मकथाओं का राजनीतिक आयाम

भारत में स्त्री-मुक्ति का राजनीतिक स्वर 19वीं शताब्दी के समाज सुधार आन्दोलनों से प्रारम्भ होता है। स्त्री-शिक्षा को सामाजिक परिवर्तन का आधार मानते हुए विद्यासागर, फुले, रमाबाई जैसे सुधारकों ने स्त्रियों को सार्वजनिक जीवन में लाने की कोशिश की। बेथुन कॉलेज जैसे शैक्षिक संस्थानों की स्थापना और थियोसोफिकल सोसायटी जैसी संस्थाओं की सक्रियता ने स्त्रियों को राजनीतिक चेतना से जोड़ा। 20वीं सदी में स्त्री केवल 'माँ' के प्रतीक के रूप में नहीं, राष्ट्र के निर्माण में सहभागी शक्ति के रूप में उभरी। राधा कुमार के अनुसार, स्त्री को मातृ-शक्ति के रूप में चित्रित कर राजनीतिक भागीदारी का औचित्य स्थापित किया गया।

गाँधीजी ने स्त्री को आंदोलनों में नैतिक नेतृत्व दिया, जिससे सरोजिनी नायडू, मैडम कामा जैसी महिलाएँ आगे आईं। स्वतंत्र भारत में महिलाओं को मताधिकार जैसे संवैधानिक अधिकार प्राप्त हुए, जिससे राजनीतिक क्षेत्र में उनका प्रवेश संभव हुआ।यद्यपि आज भी महिलाओं की राजनीतिक भागीदारी संख्या में सीमित है, फिर भी यह आयाम स्त्री-विमर्श को अस्मिता, नेतृत्व और अधिकारों की दृष्टि से समृद्ध करता है। राजनीति केवल सत्ता नहीं, पहचान और प्रतिनिधित्व का माध्यम भी बनती है।

स्त्री हिन्दी आत्मकथा-साहित्य में राजनीतिक संदर्भों की उपस्थिति अब तक सीमित और गौण रही है। यह एक विडंबनात्मक स्थिति है कि सार्वजनिक जीवन में प्रवेश करने वाली स्त्रियों को पारिवारिक और सामाजिक दोनों स्तरों पर अनेक संघर्षों का सामना करना पड़ा है। जब कोई स्त्री पारंपरिक सीमाओं को लाँघकर राजनीति जैसे पुरुष-प्रधान क्षेत्र में प्रवेश करती है, तो उसे केवल सामाजिक उपेक्षा और उपहास ही नहीं, बल्कि पारिवारिक अस्वीकृति और अलगाव का दंश भी झेलना पड़ता है। राजनीति में सक्रिय स्त्रियों को समाज 'विघटनकारी' या 'अशिष्ट' के रूप में देखता रहा है, जिससे यह क्षेत्र स्त्रियों के लिए और भी अधिक कठिन हो जाता है।

हिन्दी स्त्री आत्मकथा-साहित्य में यदि हम राजनीतिक चेतना की उपस्थिति को देखें, तो पाएँगे कि अधिकांश आत्मकथाएँ स्त्री-विमर्श और निजी जीवन के संघर्षों पर केन्द्रित हैं। इन आत्मकथाओं में पितृसत्तात्मक समाज, लैंगिक भेदभाव, शिक्षा, विवाह, मातृत्व, यौनिकता और आत्मनिर्णय जैसे विषय प्रमुखता से उभरते हैं, किन्तु राजनीतिक दृष्टि या सक्रिय राजनीतिक भागीदारी का चित्रण विरल है।

सुषम बेदी अपनी आत्मकथा ‘आरोह-अवरोह’ में कहती हैं “फिर से उपनिवेश न बन जाएं हम इन बड़ी शक्तियों के। देखा जाए तो राजनैतिक स्वाधीनता मिलने के बावजूद सांस्कृतिक औपनिवेशिकता से तो हम आज तक मुक्त हुए भी नहीं। बीच में ही डोलते रहते हैं या तो पक्के हिन्दुत्ववादी या फिर एकदम से नास्तिक, या तो एकदम हर धर्म-परम्परा का

तिरस्कार, उसका निराकरण या एकदम अपनापा और हर तरह की प्राचीन परम्परा का महिमागान जैसे कोई सन्तुलित या मध्यमार्ग तो है ही नहीं।"*1 उक्त विचार भारत के समकालीन सामाजिक, सांस्कृतिक और वैचारिक संकट की गहराई से पड़ताल करते हैं। वे चिन्ता व्यक्त करती हैं कि भले ही भारत ने राजनीतिक दृष्टि से औपनिवेशिकता से मुक्ति पा ली हो, परंतु सांस्कृतिक रूप से वह अब भी उपनिवेशवादी प्रभावों के अधीन है। यह सांस्कृतिक औपनिवेशिकता पश्चिमी विचारों, उपभोगवाद और मूल भारतीय आत्मबोध के विघटन के रूप में दिखाई देती है। वे यह संकेत करती हैं कि भारत की सांस्कृतिक पहचान निरंतर दो छोरों के बीच डोल रही है—एक ओर कठोर धार्मिक कट्टरता और दूसरी ओर पूर्ण नास्तिकता या परंपरा-निषेध की प्रवृत्ति।

यह स्थिति, जैसा कि बेदी ने इंगित किया है, आधुनिक भारतीय चेतना की विडंबना बन चुकी है। न तो भारतीय समाज पूरी तरह से पारंपरिक मूल्यों का निर्वाह कर पा रहा है और न ही वह पश्चिमी आधुनिकता को आत्मसात कर सका है। परिणामस्वरूप, एक संतुलित, विवेकशील और समन्वयवादी दृष्टिकोण का अभाव दृष्टिगोचर होता है। जहाँ एक ओर कुछ वर्ग पौराणिकता, धर्म और परम्परा के नाम पर अंधानुकरण कर रहे हैं, वहीं दूसरी ओर एक तबका पूरी भारतीय परम्परा को ही अवैज्ञानिक और निरर्थक घोषित कर उसका खण्डन कर रहा है।

सुषम बेदी का यह चिंतन उत्तर-औपनिवेशिक विमर्श की पृष्ठभूमि में अत्यंत महत्वपूर्ण बन जाता है। वे संकेत करती हैं कि उपनिवेशवाद की सबसे सूक्ष्म और घातक विरासत मानसिक उपनिवेश है, जिससे मुक्ति राजनीतिक स्वतंत्रता के बाद भी नहीं मिल सकी है। अतः उनकी यह चिंता केवल आत्मकथात्मक उद्घाटन नहीं है, बल्कि भारतीय समाज के बौद्धिक और सांस्कृतिक भविष्य को लेकर एक गंभीर चेतावनी भी है। यह कथन समकालीन भारत को अपने सांस्कृतिक संतुलन और आत्मबोध की पुनर्रचना की आवश्यकता की ओर इंगित करता है, जो न तो अंधराष्ट्रवाद हो और न ही आत्मविस्मृति।

सुषम बेदी कहती हैं "यहां पहुंच कर भारतीय वह सब भी पा जाता है जिसका प्रतीक इंगलैंड था और इसके साथ ही साथ वह यह भी महसूस नहीं करता कि वह उसका कोई उपनिवेश था। इस तरह आजादी की आजादी और साथ ही वह सुखद आश्रय जो उसे उसकी अपनी भूमि नहीं दे सकता। जहां फलफूल कर वह गर्वित महसूस कर सकता है, एक नये प्रयोग की सफलता का सुख पा सकता है और यह गर्व खासतौर से कि उसे दास बनानेवालों की मेहरबानी से नहीं, एक स्वतंत्र, समानता और न्याय की नींव पर बने समाज में वह अपने परिश्रम और योग्यता से कुछ हासिल कर सका है, उसकी आंखों में आत्मसम्मान कई गुना बढ़ जाता है। अब यह दो देशों की बात नहीं। पूरब पश्चिम की बात है- इंगलैंड-यूरोप, अमेरिका और तीसरी दुनिया के त्रिकोण की बात है।"*2 सुषम बेदी की आत्मकथा 'आरोह-अवरोह' का यह अंश उत्तर-औपनिवेशिक राजनीतिक चेतना का गहन उद्घाटन करता है। वे इंग्लैंड जैसे देश में एक प्रवासी भारतीय के अनुभव को उस ऐतिहासिक विरोधाभास से जोड़ती हैं, जहाँ कभी दमन का प्रतीक रही भूमि अब समानता, न्याय और स्वातंत्र्य का आधार बन जाती है। यह अनुभव केवल भौतिक उन्नति का नहीं, बल्कि आत्मसम्मान की पुनर्स्थापना का संकेतक है—जो अब दया नहीं, योग्यता और परिश्रम के बल पर प्राप्त होता है।

लेखिका का यह कथन उन विडंबनाओं को रेखांकित करता है, जहाँ स्वतंत्र भारत आज भी सामाजिक न्याय और अवसर की दृष्टि से कई सीमाओं से ग्रस्त है, जबकि वही उद्देश्य पश्चिमी समाजों में अधिक व्यवस्थित ढंग से साकार हो रहे हैं। इस बिंदु पर लेखिका केवल दो देशों की तुलना नहीं करतीं, बल्कि पूरब-पश्चिम के मध्य बनते नए वैश्विक त्रिकोण —यूरोप, अमेरिका और तीसरी दुनिया—की ओर संकेत करती हैं। यह दर्शाता है कि राजनीति केवल सत्ता तक सीमित नहीं, बल्कि व्यक्ति की अस्मिता, आत्मगौरव और सामाजिक संरचना में उसके स्थान से भी गहराई से जुड़ी हुई है। इसीलिए यह आत्मकथ्य एक सशक्त राजनीतिक दृष्टि प्रदान करता है।

आगे लेखिका कहती हैं "क्या यह सिर्फ भूगोल या राष्ट्रीयता का ही मसला है? क्या हैं देश की सीमाएं? क्या वह राष्ट्र, वह भारतवर्ष जिसे हम अपना देश कहते हैं, जिसके लिए हमारे बाप-दादाओं ने बलिदान दिए, क्या ज़रूरी है कि हम उसी के भूगोल से जुड़ें? क्या यह हमारा कर्तव्य है कि उससे लगन लगाएं। अगर यह फर्ज है तो कौन हमें बताता है कि इसे फर्ज समझकर हम उससे जुड़ें? क्या वे मुट्ठी भर राजनीतिज्ञ जो हमारी भावनाओं को अपने फायदे के लिए जैसे-तैसे तोड़-मरोड़ लेते हैं। हम क्यों भला उनकी बात मानें? पर वहीं अगर हमारी चाह किसी पूरे देश के भूगोल से जुड़ने की है तो क्या उसकी हमें छूट होनी चाहिए? क्या यह अपने देश के प्रति द्रोह नहीं होगा पर अगर हम इन भौगोलिक सीमाओं को किन्हीं राजनीतिज्ञों की चालबाजी ही मानते हैं तो कोई सीमा मानना हमारे लिए लाजमी क्यों हो?" *3 सुषम बेदी की आत्मकथा 'आरोह-अवरोह' में प्रस्तुत यह विचारधारा राष्ट्रीयता और राजनीतिक चेतना के पारंपरिक ढाँचे को चुनौती देती है। लेखिका प्रश्न करती हैं कि क्या देश के प्रति हमारी निष्ठा मात्र उसकी भौगोलिक सीमाओं से जुड़ी होनी चाहिए, या यह निष्ठा भावनात्मक, वैचारिक और नैतिक चेतना पर आधारित होनी चाहिए? वे यह प्रश्न भी उठाती हैं कि क्या यह बंधन राष्ट्रभक्ति के नाम पर थोपी गई एक राजनीतिक युक्ति मात्र है, जिसे कुछ राजनीतिज्ञ अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत करते हैं?

यहां राष्ट्र की अवधारणा एक भूखंड से अधिक एक वैचारिक संरचना के रूप में उभरती है। लेखिका कहती हैं कि यदि व्यक्ति का लगाव किसी अन्य भूगोल से है, तो क्या उसे देशद्रोह कहा जाएगा? और यदि भौगोलिक सीमाएँ केवल राजनीतिक षड्यंत्र का परिणाम हैं, तो उनका पालन नैतिक दायित्व क्यों माना जाए? यह आत्मकथात्मक दृष्टिकोण राजनीतिक चेतना के एक नए विमर्श को जन्म देता है, जहाँ राष्ट्र, नागरिकता और कर्तव्य जैसे प्रश्नों की पुनर्व्याख्या की आवश्यकता प्रतीत होती है। यह राष्ट्रवाद के एक मानव-केंद्रित, विवेकसम्मत और नैतिक संस्करण की ओर संकेत करता है।

ममता कालिया अपनी आत्मकथा ‘कितने शहरों में कितनी बार’ में कहती हैं “सन् 1947 में गाजियाबाद भारत विभाजन की आँच झेल रहा था। पिंडी लाहौर से भागकर आनेवाले लोग सिर्फ दिल्ली को अपना ठिया नहीं बना 1947 उनका मुँह गाजियाबाद की तरफ भी बराबर था। कभी भी अफवाह फैलती 'आज आधी रात को पाकिस्तानी आकर हमला बोलेंगे बना रहे थे। हमें तब तक शहर में मकान नहीं मिला था। हम शम्भूदयाल कॉलेज की विज्ञान प्रयोगशाला में रह रहे थे। हमले की आशंकावाली रात, कॉलेज के चपरासी और चौकीदार छत के पर देर-सा फूस बिछा देते और एक कोने में ईंटों के अद्धों का ढेर लगा देते, दुबककर सोना, हाथ-पैर बाहर एकदम नहीं निकालना। फिर भी अगर ता चढ़ आएँ तो वे अद्धे उन पर मारना।”*4 यह अंश 1947 के भारत विभाजन के सामाजिक और राजनीतिक प्रभावों को निजी अनुभवों के माध्यम से उद्घाटित करता है। लेखिका द्वारा वर्णित गाजियाबाद की स्थितियाँ केवल स्थान विशेष की नहीं, बल्कि स्वतंत्रता के साथ जुड़ी हुई अस्थिरता, असुरक्षा और भय की सामूहिक स्मृति का प्रतिनिधित्व करती हैं। यह कालखंड एक ओर राजनीतिक स्वतंत्रता का था, तो दूसरी ओर भारी सामाजिक विस्थापन और सांप्रदायिक तनाव का भी।

राजनीतिक चेतना के परिप्रेक्ष्य में यह अंश दर्शाता है कि किस प्रकार आम जन, विशेषकर विस्थापित परिवार, सत्ता और प्रशासन की असफलताओं के बीच आत्मरक्षा के सहज उपक्रमों पर निर्भर रहने को विवश थे। लेखिका का अनुभव एक बच्चे की स्मृति भर नहीं है, बल्कि यह इस बात का दस्तावेज है कि कैसे स्वतंत्रता के साथ आम जनता को भय, भ्रम और अस्थायी जीवन जीने को मजबूर होना पड़ा। छोटे शहरों तक फैले इस विभाजन की आँच ने राष्ट्रीय राजनीति को जमीनी स्तर पर अनुभव किए गए भय और संघर्षों से जोड़ दिया। यह अंश स्वतन्त्रता के जश्न में छिपे यथार्थ की त्रासदी को मार्मिकता से सामने लाता है।

वे आगे कहती हैं "सन् 1948 की बात है। एक शाम वह बाजार से लौटकर जोर-जोर से रोने लगा। चीख-पुकार के बीच उसने कहा, "बीबीजी, आज मैं रोटी नहीं खाऊँगा। गांधी बाबा को गोली लग गई। गांधी बाबा मरते हुए बोले- 'हे राम'। पूरे शहर में जो मेह जूठा करे वह पाकिस्तान जाए।"*5 यहाँ गांधीजी की हत्या के तुरंत बाद का सामाजिक और राजनीतिक माहौल चित्रित होता है। यह दृश्य न केवल एक बच्चे की संवेदना को उद्घाटित करता है, बल्कि उस समय व्याप्त राष्ट्रीय शोक, आक्रोश और साम्प्रदायिक तनाव को भी उजागर करता है। गांधी की हत्या के साथ जैसे सम्पूर्ण राष्ट्र की नैतिक चेतना पर गहरा आघात हुआ था, उसी आघात की अनुगूँज इस प्रसंग में सुनाई देती है।

राजनीतिक चेतना के परिप्रेक्ष्य में यह कथन दर्शाता है कि गांधी सिर्फ एक राजनेता नहीं थे, बल्कि भारतीय आत्मा के नैतिक प्रतिनिधि थे। उनकी मृत्यु ने आम जनमानस में भय, असुरक्षा और नैतिक क्षोभ की भावना भर दी। "जो मेह जूठा करे वह पाकिस्तान जाए" जैसी अफवाहें इस बात का संकेत हैं कि स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात राष्ट्र किस प्रकार साम्प्रदायिकता और विखंडन के कगार पर खड़ा था। यह प्रसंग राजनीतिक इतिहास की औपचारिक घटनाओं से इतर, आम नागरिक की स्मृति में दर्ज राजनीतिक चेतना का प्रमाण है — जहाँ गांधी एक नैतिक सत्ता के प्रतीक हैं और उनकी मृत्यु एक राष्ट्रीय मूल्य संकट की शुरुआत।

ममता कालिया कहती हैं "इन्दौर को अपने इतिहास व भूगोल पर गर्व रहा था। जानकार लोगों ने हमें पहले ही हफ्ते बता-जता दिया कि इन्दौर कोई मामूली शहर नहीं है। मैंने इन तथ्यों को इसलिए भी ग्रहण किया क्योंकि इन्दौर की स्थापना में मराठा सत्ता की ऐतिहासिक भूमिका थी। जिस शहर के विकास के पीछे साढ़े तीन हजार साल लगे हों वह विलक्षण तो होना ही था। होलकरों का इन्दौर में वर्चस्व रहा। उन्होंने इसे आधुनिक, शैक्षिक और वाणिज्यिक बनाया।"*6 लेखिका इन्दौर की ऐतिहासिक और राजनीतिक पृष्ठभूमि को स्मृति और अनुभव के स्तर पर इस तरह प्रस्तुत करती हैं कि वह केवल एक नगर न रहकर

सत्ता, गौरव और सांस्कृतिक उत्तराधिकार का प्रतीक बन जाता है। इन्दौर की स्थापना में मराठा शक्ति, विशेषतः होलकर वंश की भूमिका को रेखांकित कर वे यह बताती हैं कि किसी नगर की राजनीतिक विरासत वहाँ के नागरिकों के स्वाभिमान और सामूहिक पहचान को किस प्रकार प्रभावित करती है।

राजनीतिक चेतना के परिप्रेक्ष्य से देखा जाए तो यह वर्णन एक नागरिक की उस गहरी अंतर्निष्ठ भावना को व्यक्त करता है, जहाँ ऐतिहासिक सत्ता की स्मृति आज के सामाजिक और सांस्कृतिक यथार्थ से जुड़ जाती है। होलकरों द्वारा इन्दौर को आधुनिक, शैक्षिक और व्यापारिक केंद्र के रूप में विकसित करना केवल प्रशासनिक उपक्रम नहीं था, बल्कि यह एक दीर्घकालिक राजनीतिक दृष्टि का परिणाम था, जिससे नगर की आत्मा निर्मित हुई। इस प्रकार, लेखिका का दृष्टिकोण व्यक्तिगत अनुभव से ऊपर उठकर इतिहास और राजनीति के अंतःसंबंधों की पड़ताल करता है।

स्वतंत्रता संग्राम से पूर्व हमारे नेताओं में त्याग और जन-सेवाभाव की भावना प्रबल थी, किन्तु स्वाधीनता के पश्चात् भारतीय राजनीति गुंडागर्दी, भ्रष्टाचार, शोषण, अन्याय, के रूप में उभरी है। देश विभाजन से फैली साम्प्रदायिकता ने ऐसे सच से जनता को रु-ब-रू करवाया, जिसकी कल्पना भी जन साधारण ने नहीं की होगी। स्त्री का शोषण, अमानवीय कृत्यों का सिलसिला जब भी बरकरार था और आज तक राजनीति में स्वार्थ और सत्ता हथियाने की ललक राजनीतिक विसंगतियों को लगातार बढ़वा दे रही है। देश की आजादी का जो स्वप्न हमने देखा था। उसका परिणाम इतना भयावह होगा किसी ने सोचा भी न होगा। देश में मानवीय मूल्यों का विघटन, भ्रष्टाचार, बेरोजगारी, लूटपाट, नैतिक एवं चारित्रिक पतन इत्यादि गम्भीर समस्या जस की तस बनी रही।

शीला झुनझुनवाला अपनी आत्मकथा में लिखती हैं "गांधी और सुभाष में, अंहिसा और क्रांति सशस्त्र क्रांति में गांधी की बात मेरा युवा-मन स्वीकार करने को तैयार नहीं था। भला, कोई इतने वर्षों से छीनी हुई आजादी ऐसे ही लौटा देगा! एक ओर गांधीजी का

असहयोग आंदोलन, दूसरी ओर सुभाषचंद्र बोस का नारा-'तुम मुझे खून दो, मैं तुम्हें आजादी दूंगा''*7 शीला झुनझुनवाला द्वारा व्यक्त यह अनुभूति स्वतंत्रता संग्राम के भीतर उभरते वैचारिक द्वंद्व और युवाओं की राजनीतिक चेतना को अभिव्यक्त करती है। उनके कथन में गांधी और सुभाष जैसे दो महत्त्वपूर्ण राष्ट्रनायकों की विचारधारात्मक टकराहट को युवा मन की दृष्टि से देखा गया है। गांधी के अहिंसक असहयोग आंदोलन की रणनीति, जिसमें नैतिक बल और जन-असंतोष के जरिए स्वराज्य प्राप्ति का सपना देखा गया, युवाओं के लिए अक्सर संयम और प्रतीक्षा की माँग करता था। इसके विपरीत सुभाषचंद्र बोस की सशस्त्र क्रांति की नीति में तत्कालिकता, जोश और बलिदान का आह्वान था—जो युवा चेतना को कहीं अधिक आकर्षित करता था।

राजनीतिक चेतना के परिप्रेक्ष्य में यह कथन बताता है कि स्वतंत्रता आंदोलन कोई एकरेखीय प्रक्रिया नहीं थी, बल्कि विचारों, रणनीतियों और लक्ष्यों का संघर्ष था, जहाँ युवाओं का झुकाव तीव्र और स्पष्ट क्रांति की ओर स्वाभाविक रूप से होता गया। यह द्वंद्व केवल ऐतिहासिक नहीं, बल्कि आत्मकथात्मक लेखन में राजनीतिक विचारधाराओं की बहुलता और भीतर चल रही वैचारिक खींचतान का प्रमाण भी है। इस प्रकार, झुनझुनवाला की स्मृति एक समकालीन राजनीतिक बोध को उजागर करती है।

'अन्या से अनन्या' में प्रभा खेतान कहती हैं, "कॉफी हाउस में बैठे-बैठे उस लड़के ने मुझे बुर्जुवा का अर्थ समझाया। अन्य छात्रों से आन्दोलन के लिए चवन्नी-अठन्नी बटोरा करता। लेकिन क्लास में डॉ. चौधरी कह रहे थे- 'इन कम्युनिस्टों पर विश्वास मत करना, इनका कोई चरित्र नहीं होता। ये धर्म विरोधी हैं।' तब क्या उस लड़के का चरित्र खराब है ? नहीं, वह तो बड़ा भला और सच्चरित्र लड़का है लेकिन मेरे तो सारे दोस्त ही कम्युनिस्ट हैं नरेश सर का कहना है। 'अरे मार्क्स का नाम लेने से ही कोई मार्क्सवादी हो गया कामरेड कहलन वाले यह सारे लड़के कॉलेज पास करते ही अच्छे नौकरियों की तलाश में सरकारी दफ्तर हो पूंजीपतियों के दरबार का चक्कर काटने लगेंगे और भूल जाएंगे समाजवाद के सपने।'*8

यह आत्मकथात्मक अंश उस दौर की राजनीतिक चेतना और वैचारिक संघर्षों की सजीव झलक प्रस्तुत करता है, जब भारत में नवजागरण, समाजवाद और मार्क्सवाद जैसे विचार युवा वर्ग को गहराई से प्रभावित कर रहे थे। कॉफी हाउस, कॉलेज और कक्षाओं के माध्यम से विद्यार्थी केवल शिक्षा ही नहीं, बल्कि विचारधाराओं की प्रयोगशाला में भाग ले रहे थे। एक ओर कम्युनिस्ट युवकों में समाज परिवर्तन का उत्साह था, तो दूसरी ओर शिक्षकों और अभिभावकों की ओर से इन विचारों को संदेह की दृष्टि से देखा जाता था।

राजनीतिक चेतना के परिप्रेक्ष्य में यह अंश विचारधारात्मक आदर्श और व्यावहारिक जीवन की टकराहट को उजागर करता है। लेखक-चरित्र का द्वंद्व—कम्युनिज़्म के प्रति आकर्षण और सामाजिक संदेहों के बीच झूलता हुआ—तत्कालीन भारत की उस पीढ़ी का प्रतिनिधित्व करता है जो औपनिवेशिक उत्तराधिकार, नवस्वतंत्रता और वैचारिक प्रयोगधर्मिता के बीच अपनी पहचान तलाश रही थी।

प्रभा खेतान, मैत्रेयी पुष्पा, मन्नू भण्डारी, रमणिका गुप्ता और सुषम बेदी जैसी स्त्री आत्मकथाकाराएँ केवल साहित्यिक अभिव्यक्ति की प्रतिनिधि नहीं हैं, बल्कि वे एक जीवित इतिहास की साक्षी और सक्रिय भागीदार भी रही हैं। इन सभी लेखिकाओं ने परतंत्र भारत में जन्म लेकर स्वतंत्रता के बाद के सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक संक्रमणों को निकटता से देखा, जिया और उन्हें आत्मकथात्मक लेखन में स्वर प्रदान किया। उनका लेखन महज़ निजी अनुभवों की अभिव्यक्ति नहीं, बल्कि भारतीय राजनीति के विघटन, निर्माण और पुनर्निर्माण की एक गहन वैचारिक व्याख्या भी है।

1942 का भारत छोड़ो आंदोलन, 1947 की स्वतंत्रता, 1962 का भारत-चीन युद्ध, 1975 का आपातकाल और उदारीकरण के बाद की नीतिगत राजनीति—इन सभी घटनाओं ने इन लेखिकाओं के जीवन को प्रभावित किया और उनके विचार संसार को दिशा दी। मन्नू भंडारी की ‘एक कहानी यह भी’, प्रभा खेतान की ‘अन्या से अनन्या’, रमणिका गुप्ता की

'अपना घर' और सुषम बेदी की 'आरोह-अवरोह' जैसी आत्मकथाएँ इस राजनीतिक युगबोध की सशक्त अभिव्यक्तियाँ हैं।

इन आत्मकथाओं में राजनीति केवल बाह्य संरचना नहीं, बल्कि एक गहरे सामाजिक हस्तक्षेप के रूप में प्रस्तुत होती है—जहाँ सत्ता, पितृसत्ता, जातिवाद और स्त्री अस्मिता के प्रश्न आपस में उलझे हुए हैं। इस दृष्टि से ये लेखिकाएँ न केवल साहित्यिक साक्षी हैं, बल्कि वे राजनीतिक चेतना की वाहक और निर्माता भी हैं।

3.3.ii. स्त्री-आत्मकथाओं का सांस्कृतिक आयाम

स्त्री आत्मकथाएँ केवल एक व्यक्ति की जीवनकथा नहीं होतीं, बल्कि वे उस सांस्कृतिक अंतःवस्तु को अभिव्यक्त करती हैं जिसमें स्त्री का अस्तित्व सामाजिक परंपराओं, धार्मिक मान्यताओं, भाषा, रीति-रिवाजों और ऐतिहासिक-सांस्कृतिक मूल्यों से निरंतर संवाद करता है। हिंदी की स्त्री आत्मकथाओं में यह सांस्कृतिक संघर्ष, संक्रमण और पुनर्निर्माण की प्रक्रिया विशेष रूप से उभरती है।

आत्मकथा 'आरोह-अवरोह' में सुषम बेदी लिखती हैं कि, "तो ब्रसल्स में मेरी पश्चिमी जीवन शैली में काफी ट्रेनिंग हो ही गयी थी पर जैसे सारा भारत या एशिया एक सा नहीं, पश्चिम जगत भी बहुत वैविध्य लिए है। खासतौर से अमेरिका और यूरोप के रहन-सहन और तौर-तरीकों में बहुत अंतर है। जैसे मैंने आवासन के अनुभवों और द्वन्द्वों को अपने लेखन में पिरोया है, वैसे ही यूरोपीय आवासियों ने भी अपने ढंग से इन सांस्कृतिक, मनोवैज्ञानिक और सामाजिक द्वन्द्वों को जिया और इनके बारे में कितने ही उपन्यास और कहानियां अमेरिकी साहित्य में बिखरे हुए हैं। हैनरी रॉय के दो उपन्यास विशेष उल्लेखनीय है-काल इट स्लीप और मर्सी आफ ए रूड स्ट्रीम। इनमें यहूदियों को अमेरिका आकर किस तरह नये तरीके से जीवन जीना, यहां के रीत-चलन को सीखना पड़ा, यहां के तौर-तरीकों से समझौता करना

पड़ा, इसके मार्मिक चित्र हैं। अब भी नये आने वालों द्वारा नयी कहानियां लिखी जा रही हैं। मुझे भी अब फिर से सब कुछ नया सीखना था पर फिर भी यहां आकर उतना सांस्कृतिक धक्का नहीं लगा जितना कि भारत से पहली बार निकलकर लगता है।*9 सुषम बेदी का यह कथन एक प्रवासी भारतीय स्त्री की सांस्कृतिक चेतना और उसकी बहुआयामी पहचान की पड़ताल करता है। लेखिका पश्चिमी जगत—विशेषतः यूरोप और अमेरिका—की विविध संस्कृतियों के अनुभव को केवल भौगोलिक स्थानांतरण के रूप में नहीं देखतीं, बल्कि इसे एक जटिल सांस्कृतिक संवाद, मानसिक अनुकूलन और आत्म-पुनर्रचना की प्रक्रिया के रूप में समझती हैं। वे स्वीकार करती हैं कि ब्रसल्स जैसे यूरोपीय नगर में रहकर उन्हें पश्चिमी जीवनशैली की 'ट्रेनिंग' मिली, परन्तु अमेरिका की सांस्कृतिक संरचना और जीवन-मूल्य फिर भी भिन्न रहे।

सांस्कृतिक दृष्टिकोण से यह कथन प्रवासी अनुभवों के उस द्वंद्व को दर्शाता है, जिसमें 'स्व' और 'पर' के बीच का अंतर धुँधला पड़ जाता है। भारतीय मानस, जब पश्चिमी आधुनिकता से टकराता है, तो वह एक नए सामाजिक-सांस्कृतिक अभ्यास से गुजरता है। लेखिका इसे केवल व्यक्तिगत अनुकूलन नहीं मानतीं, बल्कि व्यापक रूप से साहित्यिक विमर्श से जोड़ती हैं—जैसे हैनरी रॉय के उपन्यासों में यहूदी अनुभव।

यह आत्मकथात्मक वक्तव्य स्पष्ट करता है कि सांस्कृतिक स्थानांतरण केवल भाषा या खानपान का नहीं, बल्कि पहचान, परंपरा और आत्मबोध का गहन पुनर्निर्माण है। सुषम बेदी इस प्रक्रिया को सजग आत्मबोध और साहित्यिक चेतना के माध्यम से अभिव्यक्त करती हैं।

आगे वे कहती हैं, "वे यही मानती थी कि हम डेरा इस्माइल खान के हैं। हमको रीति-रिवाज भी वहीं के। डेरा इस्माइल खान अब पाकिस्तान में है। मां की भाषा भी हेरेवाली थी जो कि लहंदा-सरायकी समूह की है, मुलतानी-सिन्धी के ज्यादा करीब। वे कभी पंजाबी नहीं बोलती थीं। हां स्वतंत्र भारत की भाषा हिन्दी हो जाने की वजह से हिन्दी बोलने लग गयी थीं

और हम बच्चे चूंकि डेरेवाली कतई नहीं बोलते थे, सिर्फ समझते थे, इसलिए जैसे कि अमेरिकी हिन्दुस्तानी मां-बाप अपने बच्चों से सम्प्रेषण के लिए अंग्रेजी में बात करते हैं, वैसे वे हमसे हिन्दी में ही ज्यादातर बोलतीं जबकि माता-पिता आपस में डेरेवाली में बात करते और पाकिस्तान के इस हिस्से में या उसके आसपास में ही पैदा होनेवाले मेरे बड़े भाई और बड़ी बहनों के साथ भी जिनकी उम्र और मेरी उम्र में लगभग एक दशक से ऊपर का अंतर था, डेरेवालीमें ही बात होती।"*10 सुषम बेदी का यह कथन सांस्कृतिक पहचान, भाषिक संक्रमण और विस्थापनजन्य द्वंद्व की गहरी पड़ताल करता है। लेखिका के अनुभव उस पीढ़ी की सांस्कृतिक स्मृति को जीवंत करते हैं, जो विभाजन के बाद अपने मूल भूगोल से कटकर नए राष्ट्र-राज्य की सीमाओं में समाहित हो गई। डेरा इस्माइल खान जैसे स्थान, जो अब पाकिस्तान में हैं, लेखिका की सांस्कृतिक जड़ों और पारिवारिक परंपराओं का हिस्सा थे—परन्तु स्वतंत्र भारत में उन्हें नए भूगोल और भाषा से सामंजस्य बिठाना पड़ा।

इस अंश में 'डेरेवाली' भाषा केवल एक बोली नहीं, बल्कि एक सांस्कृतिक अस्मिता का प्रतीक है, जो विभाजन के साथ पीढ़ीगत अंतराल में भी लुप्त होती जा रही है। जहां माता-पिता के संवाद में यह भाषा जीवित रही, वहीं नई पीढ़ी—जो भारत में जन्मी—उसके केवल श्रवण मात्र तक सीमित रह गई। हिन्दी, यहाँ संपर्क की भाषा के रूप में उभरी, ठीक वैसे ही जैसे प्रवासी भारतीय परिवारों में अंग्रेज़ी।

सांस्कृतिक चेतना के परिप्रेक्ष्य में यह अनुभव स्पष्ट करता है कि भाषिक बदलाव केवल संप्रेषण का साधन नहीं, बल्कि सांस्कृतिक विस्थापन, स्मृति और पहचान के क्षरण की प्रक्रिया भी है। यह अंश मातृभाषा और मातृभूमि के विछेदन का जीवंत दस्तावेज है। सांस्कृतिक चेतना के इसी क्रम में आत्मकथा 'कुछ कही कुछ अनकही' में शीला झुनझुनवाला लिखती हैं कि"भोर के उजाले में मां के मीठे-मधुर स्वर में गाई गई चौपाइयों के बोलों के साथ मेरी आंख खुलती : "मंगल भवन अमंगल हारी। द्रवहु सो दशरथ अजिर बिहारी।"*11

शीला झुनझुनवाला का यह कथन सांस्कृतिक चेतना की सूक्ष्म परतों को उद्घाटित करता है। यहाँ भोर का उजाला, माँ का स्वर, और तुलसीदास की चौपाइयाँ—तीनों मिलकर न केवल एक निजी स्मृति का रचना-तत्व बनाते हैं, बल्कि भारतीय पारिवारिक-सांस्कृतिक संरचना की गहराइयों को भी स्पर्श करते हैं। "मंगल भवन अमंगल हारी" जैसे पद मात्र धार्मिक उच्चारण नहीं, बल्कि उस सांस्कृतिक अनुशासन और भावभूमि का प्रतीक हैं जिसमें स्त्रियों की चेतना बचपन से ही ढलती है।

सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य में यह अंश दर्शाता है कि भारतीय स्त्री की आत्मा किस तरह पारिवारिक वातावरण, धार्मिक पाठ और मौखिक परंपराओं से निर्मित होती है। माँ की कोमल आवाज़ में निहित धार्मिकता और संवेदना बालमन पर स्थायी प्रभाव छोड़ती है। यह केवल एक दृश्य नहीं, बल्कि आत्म की सांस्कृतिक गूँज है—जहाँ भाषा, भक्ति और मातृत्व एकात्म हो जाते हैं। शीला झुनझुनवाला की स्मृति के इस टुकड़े में स्त्री-चेतना का वह आरंभिक संस्कार अंकित है जो बाद में उनके आत्मबोध, जीवन-दृष्टि और लेखन की नींव बनता है। यह अंश आत्मकथात्मक साहित्य में सांस्कृतिक संवेदना का सशक्त उदाहरण है।

वे आगे कहती हैं कि "आज सोचती हूं, जीवन का वह कौन-सा सत्य था, जिसने मुझे इतना प्रभावित किया था। इस सत्य की व्याख्या करने लायक उस समय मेरी उम्र नहीं थी, किंतु बाद के जीवन में वह सत्य उद्भासित हुआ। रामायण की ही एक चौपाई है :

'सिया राम मय सब जग जानी। करहुं प्रणाम जोरि जुग पानी।'

इस चौपाई से जुड़कर जीना शुरू करें, तो हम पाएंगे कि बहुत बड़ी-बड़ी और बहुत छोटी-छोटी अनेक तकलीफों से, हम बिना कुछ किए ही मुक्त हो सकते हैं। राम के चरित्र में न हम कुछ जोड़ सकते हैं, न घटा सकते हैं, क्योंकि वह हमारे संस्कारों से जुड़ा ऐसा चरित्र है, जहां हम राग-द्वेष, सुख-दुख, गरीबी-अमीरी और सांसारिक तृष्णा से मुक्त हो जाते हैं।"*12

यह आत्मकथात्मक अंश गहन सांस्कृतिक और दार्शनिक चेतना से संपृक्त है, जहाँ लेखिका अपने बचपन की एक धार्मिक स्मृति को जीवन के व्यापक सत्य से जोड़ती हैं।

रामायण की चौपाई— 'सिया राम मय सब जग जानी, करहुं प्रणाम जोरि जुग पानी'— सिर्फ धार्मिक श्लोक नहीं, बल्कि जीवन-दृष्टि का आधार बन जाती है। यह दृष्टिकोण व्यक्ति को समत्व, सहिष्णुता और आत्मशांति की ओर ले जाता है।

राजनीतिक या सामाजिक परिप्रेक्ष्य से भले यह अंश प्रत्यक्ष राजनीतिक वक्तव्य न हो, पर यह उस आंतरिक 'धार्मिक-आध्यात्मिक राजनीति' का हिस्सा है, जिसमें भारतीय स्त्री चेतना का निर्माण होता है। लेखिका मानती हैं कि राम केवल एक ऐतिहासिक पात्र नहीं, बल्कि सांस्कृतिक मूल्यबोध का प्रतीक हैं, जिनकी उपस्थिति जीवन की कठिनाइयों से ऊपर उठने की शक्ति देती है। यह कथन यह भी स्पष्ट करता है कि भारतीय स्त्रियाँ बचपन से जिन धार्मिक और नैतिक प्रतीकों से जुड़ती हैं, वे आगे चलकर उनके भीतर एक नैतिक राजनीतिकता का निर्माण करते हैं—जहाँ राग-द्वेष, वर्ग-विभाजन और भौतिक लालसाओं से परे जाकर एक उदात्त मानवतावादी दृष्टिकोण विकसित होता है। यह आत्मानुशासन की संस्कृति स्त्री के भीतर सत्ता, नियंत्रण और आत्मबोध के नए रूपों को जन्म देती है।

शीला झुनझुनवाला अपनी आत्मकथा 'कुछ कही कुछ अनकही' में कहती हैं, "इन नामों में में जैसी एक गंगा-जमुनी तहजीब की गंध है, वैसी ही यहां के रीति-रिवाज, रहन-सहन, परंपराओं, मेले-त्यौहारों, झूलों और बागों में भी महसूस होती है। फूलवालों की सैर लगती है जिसमें, हजरत बख्तियार काकी की मजार पर पंखे चढ़ते हैं तो योगमाया के मंदिर में भी पंखे चढ़ते हैं। तारीफ यह कि दोनों जगह हिंदू-मुसलमान दोनों ही सम्मिलित होते हैं।" *13 शीला झुनझुनवाला यह कथन भारतीय संस्कृति में रचे-बसे गंगा-जमुनी तहज़ीब की गहरी सांस्कृतिक चेतना को उजागर करता है। लेखिका दिल्ली की साझा सांस्कृतिक विरासत की चर्चा करते हुए यह रेखांकित करती हैं कि किस प्रकार धार्मिक विविधता के बीच सौहार्द, सहअस्तित्व और परस्पर सम्मान की परंपरा भारतीय जीवन का स्वाभाविक हिस्सा रही है।

यह वर्णन केवल किसी एक परंपरा या आयोजन की बात नहीं करता, बल्कि उसमें समाहित संवेदनात्मक एकता की ओर संकेत करता है—जहाँ हजरत बख्तियार काकी की मजार और योगमाया मंदिर दोनों को समान श्रद्धा और सम्मान प्राप्त है। फूलवालों की सैर जैसे उत्सव इस सामासिक संस्कृति का जीवन्त प्रतीक बन जाते हैं, जहाँ हिन्दू और मुसलमान दोनों न केवल भाग लेते हैं, बल्कि सांस्कृतिक साझेदारी का भाव भी जीते हैं। सांस्कृतिक चेतना के परिप्रेक्ष्य में यह अंश एक महत्त्वपूर्ण साक्ष्य है कि भारत की अस्मिता केवल धार्मिक पहचान में नहीं, बल्कि संस्कृति की साझी विरासत में निहित है। यह लेखकीय स्मृति सांस्कृतिक समरसता के उस आदर्श को अभिव्यक्त करती है जो आज के सांप्रदायिक समय में और अधिक प्रासंगिक हो उठता है।

आगे शीला झुनझुनवाला लिखती हैं, "दिल्ली की मिली-जुली संस्कृति का प्रभाव वास्तुकला पर भी पड़ा। उसने भी नयी करवट ली और बाद की इमारतों में भारतीय और इस्लामी कला का सुखद संगम दिखाई पड़ने लगा। दिल्ली में जो भी शासक आए, उन्होंने महलों, मकबरों, बाग-बगीचों और अन्यान्य इमारतों में वृद्धि की। सूफी संत हजरत निजामुद्दीन की दरगाह बनी गयासुद्दीन तुगलक के जमाने में, तो लोदी शासकों ने लोदी गार्डन और मस्जिद मोठ बनवाई। कुतुबमीनार को गजनी की प्रसिद्ध मीनार के नमूने के आधार पर कुतुबुद्दीन ऐबक ने शुरू किया किंतु, उसको अंतिम स्वरूप दिया अल्तुतमिश ने, जो कुतुबुद्दीन ऐबक का दामाद था। वह उस समय उसका उत्तराधिकारी भी था। तोमरों के राजा अनंगपाल और फिर पृथ्वीराज चौहान ने लाल कोट का निर्माण कराया। कुतुबमीनार के परिसर में लोहे का जो स्तंभ स्थापित है, उसे चौथी सदी में चंद्रगुप्त मौर्य ने यहां के विष्णु मंदिर के समक्ष गरुड़ध्वज के रूप में लगवाया था। अद्भुत है, यह प्राचीन स्तंभ- हमारे भारतीय धातु-विज्ञान का नमूना, जिस पर सदियां गुजर गईं, लेकिन जंग का नामोनिशान नहीं है। निजामुद्दीन इलाके में स्थित हुमायूं का मकबरा वास्तुकला की दृष्टि से अद्वितीय है।"*14

शीला झुनझुनवाला का यह कथन दिल्ली का स्थापत्य केवल भौतिक संरचना नहीं, बल्कि सांस्कृतिक चेतना का जीवंत प्रतीक है। लेखिका दिल्ली के ऐतिहासिक विकास को धार्मिक और सांस्कृतिक संवाद की भूमि के रूप में देखती हैं, जहाँ हिन्दू, मुस्लिम, बौद्ध और सूफी परंपराओं का सहअस्तित्व स्थापत्य कला में प्रकट होता है। अनंगपाल द्वारा बसाई गई लाल कोट नगरी से लेकर लोदी, खिलजी और मुगलों के स्थापत्य तक, हर संरचना में एक समन्वयवादी सौंदर्य दृष्टि दिखाई देती है।

लोहे के स्तंभ और कुतुब परिसर जैसे स्थलों में भारतीय धातु विज्ञान, स्थापत्य कौशल और सांस्कृतिक आत्मविश्वास की छाप स्पष्ट है। लेखिका के अनुभव में यह स्थापत्य न केवल इतिहास की गवाही देता है, बल्कि भारतीय अस्मिता और विविध सांस्कृतिक धाराओं के मेल की चेतना को भी अभिव्यक्त करता है। यह अंश दिल्ली को एक सांस्कृतिक विरासत के रूप में स्थापित करता है, जहाँ विविधताएँ एकता में रूपांतरित होती हैं।

3.3.iii. स्त्री-आत्मकथाओं का आर्थिक आयाम

स्त्री आत्मकथाएँ केवल भावनात्मक और सामाजिक अनुभवों का दस्तावेज नहीं होतीं, वे स्त्री के आर्थिक संघर्ष, स्वावलंबन और आत्मसम्मान की जटिल प्रक्रिया को भी उद्घाटित करती हैं। हिंदी की स्त्री आत्मकथाओं में आर्थिक आयाम स्त्री के अस्तित्व और अस्मिता से गहरे रूप में जुड़ा हुआ है। यह आयाम यह स्पष्ट करता है कि आर्थिक आत्मनिर्भरता स्त्री-मुक्ति की पूर्व-शर्त है।

महादेवी वर्मा 'शृंखला की कड़ियाँ' में कहती हैं "एक ओर सामाजिक व्यवस्थाओं ने स्त्री को अधिकार देने में पुरुष की सुविधा का विशेष ध्यान रखा है, दूसरी ओर उसकी आर्थिक स्थिति

भी परावलम्बन से रहितनहीं रही। भारतीय स्त्री के संबंध में पुरुष का भर्ता नाम जितना यथार्थ है उतना सम्भवतः और कोई नाम नहीं। स्त्री, पुत्री, पत्नी, माता आदि सभी रूपों में आर्थिक दृष्टि से कितनी परमुखापेक्षिणी रहती हैं, यह कौन नहीं जानता! इस आर्थिक विषमता के पक्ष और विपक्ष दोनों ही में बहुत कुछ कहा जा सकता है और कहा जाता रहा है। आर्थिक दृष्टि से स्त्री की जो स्थिति प्राचीन समाज में थी, उसमें अब तक परिवर्तन नहीं हो सका, यह विचित्र सत्य है।"*15 महादेवी वर्मा की 'शृंखला की कड़ियाँ' में प्रस्तुत यह कथन भारतीय स्त्री की आर्थिक पराधीनता का तीखा और गहन विश्लेषण प्रस्तुत करता है। लेखिका स्पष्ट करती हैं कि सामाजिक संरचनाओं ने स्त्री को अधिकार तो दिए हैं, किंतु वे पुरुष की सुविधा और सत्ता को बनाए रखते हुए। "भर्ता" शब्द का प्रयोग करते हुए वे इंगित करती हैं कि स्त्री केवल एक पालित इकाई मानी गई, जिसकी आजीविका पुरुष आश्रित रही है।

आर्थिक परिप्रेक्ष्य से यह कथन दर्शाता है कि स्त्री चाहे पुत्री, पत्नी या माता के रूप में हो, उसकी आर्थिक स्वायत्तता कभी प्राथमिकता नहीं रही। परिणामस्वरूप, उसका अस्तित्व पराधीन और परमुखापेक्षी बनकर रह गया। महादेवी वर्मा इस ऐतिहासिक असमानता को केवल आलोचना नहीं, बल्कि समाज-सुधार की चेतावनी के रूप में प्रस्तुत करती हैं। उनका यह लेखन स्त्री की मुक्ति के लिए आर्थिक आत्मनिर्भरता को मूल तत्व मानते हुए, आज भी उतना ही प्रासंगिक है जितना अपने समय में था।

महादेवी वर्मा लिखती हैं, "समाज की दो आधार-शिलाएँ हैं, अर्थ का विभाजन और स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध। इनमें से यदि एक की भी स्थिति में विषमता उत्पन्न होने लगती है, तो समाज का सम्पूर्ण प्रासाद हिले बिना नहीं रह सकता।"*16 महादेवी वर्मा के विचार में, समाज की स्थिरता और समरसता दो आधारशिलाओं पर टिकी होती है—अर्थ का न्यायपूर्ण विभाजन और स्त्री-पुरुष संबंधों में समानता। उनके अनुसार, यदि इन दो स्तंभों में से किसी एक में भी विषमता उत्पन्न होती है, तो समाज की पूरी संरचना डगमगाने लगती है।

महादेवी वर्मा मानती थीं कि आर्थिक असमानता केवल संपत्ति की समस्या नहीं, बल्कि यह सामाजिक न्याय और व्यक्तिगत स्वतंत्रता का प्रश्न है। जब स्त्री आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर नहीं होती, तो वह परिवार, समाज और राज्य—तीनों के स्तर पर पराधीन बन जाती है। इसी प्रकार, स्त्री-पुरुष संबंधों में असमानता भी समाज को असंतुलित करती है। महादेवी वर्मा 'श्रृंखला की कड़ियाँ' में बार-बार इस बात पर बल देती हैं कि स्त्री को केवल भावनात्मक या नैतिक रूप से नहीं, बल्कि आर्थिक और सामाजिक रूप से भी स्वतंत्रता मिलनी चाहिए। उनके विचारों में यह स्पष्ट है कि यदि समाज को टिकाऊ और न्यायसंगत बनाना है, तो इन दोनों शिलाओं—अर्थ और लैंगिक संबंध—में संतुलन और समानता अनिवार्य है।

सुषम बेदी कहती हैं "मेरे लिए खुद कमाना बहुत जरूरी था क्योंकि तभी मैं महसूस कर पाती कि मैं आर्थिक रूप से स्वतंत्र हूँ। यूं मुझे कभी राहुल ने यह महसूस नहीं होने दिया कि यह उसकी कमाई का पैसा है और मेरा नहीं बल्कि इस बात को बनाए रखा कि यह उतना ही मेरा है, जितना उसका, लेकिन यह मेरे अन्दर की जरूरत थी। चूंकि भारत में मैं कमाती थी, सो यहां बिना कमाए रहना मेरे लिए अपना आत्मसम्मान खो देने जैसा था।"*17 सुषम बेदी की आत्मकथा 'आरोह–अवरोह' का यह अंश स्त्री की आर्थिक स्वतंत्रता और आत्मसम्मान के बीच के संबंध को अत्यंत सघन और अनुभवजन्य रूप में रेखांकित करता है। यह कथन उस गहरे आंतरिक संघर्ष को उद्घाटित करता है, जो एक शिक्षित, स्वावलंबी स्त्री अपने आत्मबोध और आर्थिक निर्भरता के बीच अनुभव करती है। लेखिका के शब्दों में यह बात स्पष्ट रूप से उभरती है कि आर्थिक स्वतंत्रता केवल भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति का माध्यम नहीं, बल्कि स्त्री की स्वतंत्र सत्ता और अस्तित्व की स्वीकृति का प्रमाण है।

भले ही पति राहुल ने उन्हें कभी यह महसूस नहीं होने दिया कि वे उसकी कमाई पर निर्भर हैं, परन्तु लेखिका की मानसिक-सांस्कृतिक चेतना यह स्वीकार नहीं कर पाती कि वह

स्वयं अर्जित न हो। यह द्वंद्व आधुनिक स्त्री चेतना की वह जटिलता है, जहाँ परम्परागत दाम्पत्य संतुलन और व्यक्तिगत आत्मनिर्भरता के बीच एक सूक्ष्म तनाव बना रहता है।

उनका यह लेखन प्रवासी स्त्री लेखन में उस व्यापक प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करता है, जहाँ स्त्रियाँ केवल भौगोलिक नहीं, बल्कि आर्थिक और अस्तित्वगत विस्थापन की अनुभूति से भी जूझती हैं। सुषम बेदी का यह अनुभव यह स्थापित करता है कि आर्थिक आत्मनिर्भरता केवल अधिकार का प्रश्न नहीं, बल्कि आत्मविकास और आत्मसम्मान की अनिवार्य शर्त है। वस्तुतः यह अंश समकालीन स्त्री आत्मकथा-साहित्य में आर्थिक विमर्श का एक सशक्त उदाहरण है।

चंद्रकिरण सौनरेक्सा लिखती हैं "मैं रसोई में भूखी बैठी-बैठी सोच रही थी- "क्या इस तरह की गाली खाने के लिए ही में इस परिवार को चलाने के लिए खुद को तिल-तिल कर खपा रही हूँ? तीन वर्ष के विवाहित जीवन के बाद कोई विश्वास का आधार नहीं बन पाया अब तक, तो आगे क्या आशा हो सकती है?"*18 चंद्रकिरण सौनरेक्सा की आत्मकथा 'पिंजरे की मैना' का यह मार्मिक अंश स्त्री के घरेलू श्रम, भावनात्मक उपेक्षा और सामाजिक असमानता की त्रासदी को उजागर करता है। लेखिका यहाँ एक ऐसी स्त्री की मनःस्थिति प्रस्तुत करती हैं, जो अपने निःस्वार्थ परिश्रम से परिवार को संभालती है, किंतु उसे न तो सम्मान मिलता है और न ही विश्वास। रसोई में भूखे बैठना और आत्मसंवाद में यह सोचना कि 'क्या गाली खाने के लिए ही मैं यह सब कर रही हूँ?' यह वाक्य उस 'घुटन भरे मानसिक और भावनात्मक शोषण' की स्पष्ट अभिव्यक्ति है, जो पारिवारिक ढाँचे में स्त्री को झेलना पड़ता है।

सामाजिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह अंश पितृसत्तात्मक व्यवस्था की उस गहरी विडंबना को दिखाता है जहाँ स्त्री का समर्पण कर्तव्य समझा जाता है, पर उसका अस्तित्व विश्वास और अधिकार से रहित होता है। विवाह के तीन वर्षों बाद भी अगर रिश्ते में भरोसे की

नींव नहीं बनती, तो यह केवल वैवाहिक असफलता नहीं, बल्कि समाज में स्त्री की हाशियाकृत स्थिति का भी प्रतीक बन जाती है।

सौनरेक्सा आगे लिखती हैं कि "मैंने खुद ही उत्तर तलाश लिया। मैं उन पर आर्थिक भार नहीं डालूँगी। मेरठ में भी स्कूल की नौकरी और ट्यूशन से अपना जीवनयापन कर लूँगी। भाई को समझा दूँगी- कोई कुँवारी कन्या तो नहीं हूँ।"*19 लेखिका उस परिस्थिति में, जब पारिवारिक और वैवाहिक संबंधों में असहयोग और असंवेदनशीलता व्याप्त है, अपने आत्मबल और श्रमशीलता के बल पर समाधान खोजती हैं। 'मैं उन पर आर्थिक भार नहीं डालूँगी'—यह कथन केवल स्वाभिमान का परिचायक नहीं, बल्कि उस आधुनिक स्त्री चेतना का उद्घोष है जो पुरुष पर आश्रय की अपेक्षा नहीं करती, बल्कि स्वावलंबन को ही अपना मार्ग मानती है। 'कोई कुँवारी कन्या तो नहीं हूँ' —यह वाक्य स्त्री की सामाजिक स्थिति के पारंपरिक मूल्यांकन पर भी करारा प्रहार है। यह संकेत करता है कि एक विधवा, परित्यक्ता या विवाहित स्त्री का आत्मनिर्भर होना उतना ही जरूरी है जितना किसी अविवाहित स्त्री के लिए।

कृष्णा अग्निहोत्री अपनी आत्मकथा 'लगता नहीं दिल मेरा' में लिखती हैं कि "एक निर्दोष स्त्री को इस बात की सजा परिवार व समाज दे रहे थे कि उसने पति से पिटना नहीं चाहा। अकर्मण्य पति के कारण नौकरी के माध्यम से अपनी बच्ची को पालना चाहा। अपना सिर छुपाने के लिए एक कमरे की छत चाही। कि उसने इज्जत से भाई के पास रहने के लिए मकान का हिस्सा नहीं छोड़ा। वास्तव में तो मेरे ससुराल, मायकेवालों ने घोषणा कर दी थी हमें तुम्हारे जीने या मरने में कोई रुचि नहीं।"*20 यहाँ लेखिका एक ऐसी स्त्री की पीड़ा को स्वर देती हैं, जिसे इसलिए दंडित किया जा रहा है कि उसने पति की हिंसा स्वीकारने से इनकार किया, आत्मसम्मान के साथ जीवन जीना चाहा, और आर्थिक रूप से स्वतंत्र रहकर अपनी संतान का पालन-पोषण किया। यह कथन दर्शाता है कि स्त्री जब पारंपरिक भूमिका से हटकर निर्णय लेती है, तो ससुराल और मायके दोनों उसे तिरस्कार और अकेलेपन की सजा

देते हैं। यह केवल व्यक्तिगत पीड़ा नहीं, बल्कि समाज की उस मानसिकता की परतें खोलता है, जो स्त्री की स्वतंत्रता को अपराध समझती है।

इसी क्रम में आत्मकथा 'अन्या से अनन्या' में प्रभा खेतान लिखते हैं, "सामाजिक क्रांति के बदले अब द्वितीय औद्योगिक क्रांति की जरूरत है। बंगाल को भी उद्योग की ही जरूरत है उद्योग के बिना कैसी समृद्धि कैसा सुख पूछना चाहती थी कि आप लोग किसकी समृद्धि की चर्चा कर रहे हैं हमारे जैसे मारवाड़ी परिवारों के सुख समृद्धि की क्योंकि ऐसे ढेरों लोग हैं जो हमारी समृद्धि के दायरे में नहीं आते। हमारे प्रगति से दाई मां, खेदरवा, हरिया... बेचन...और न जाने कितने लोग हैं, उन्हें क्या मिला है? वह तो वहीं के वहीं हैं। कुछेक परिवारों की समृद्धि के लिए आखिर क्यों कर इतनी बात बढ़ाई जाए समाज बदलेगा समुदाय की मानसिकता बदलेगी तो उद्योग व्यवस्था खुद ही बदल जाएगी।"*21 यहाँ लेखिका स्पष्ट करती हैं कि तथाकथित 'प्रगति' और 'समृद्धि' का लाभ केवल समाज के विशेष वर्ग—जैसे मारवाड़ी व्यापारी परिवारों—तक सीमित रहा है, जबकि बहुसंख्यक वर्ग अब भी उपेक्षित और वंचित बना हुआ है।

आर्थिक चेतना के परिप्रेक्ष्य में यह वक्तव्य इस बात को रेखांकित करता है कि औद्योगिक विकास की प्रक्रिया यदि सामाजिक न्याय और समावेशी नीतियों से रहित हो, तो वह केवल कुछ वर्गों की पूँजी बढ़ाने का माध्यम बन जाती है। खेतान यहाँ सामाजिक क्रांति की आवश्यकता को द्वितीय औद्योगिक क्रांति से जोड़ती हैं, जिससे यह स्पष्ट होता है कि उनका आर्थिक दृष्टिकोण मात्र पूँजी-संचय नहीं, बल्कि सामूहिक उन्नति और सामाजिक उत्तरदायित्व से जुड़ा हुआ है। यह आत्मकथात्मक विचार समकालीन भारत की विकास बनाम विषमता की बहस में एक महत्वपूर्ण हस्तक्षेप है, जो यह माँग करता है कि आर्थिक संरचना केवल संख्यात्मक विकास नहीं, बल्कि न्यायसंगत वितरण पर आधारित हो।

आगे वे लिखती हैं—

“फू...फू... तेरे चे ग्वेवारा के आत्मदान का कोई महत्त्व नहीं... क्या होगा लाल झंडा से ? रात-दिन की नारेबाजी से। ‘चोलबे ना चोलवे ना’, अरे क्या नहीं चलेगा ? टीवी के सामने, बाजार के सामने सब लोग घुटने टेक देंगे। तुझे नहीं चाहिए अमेरिकन शिफॉन की साड़ियाँ ? बड़ी क्रान्तिकारी बनी फिरती है !” मुझे चुप हो जाना पड़ा था। जापानी शिफॉन की साड़ियाँ मेरी कमजोरी थी।

“तुम्हें पता है स्टेनलेस स्टील के दाम? बड़े चाचा, भैया से कह रहे थे। वस एक बार दिल्ली से कोटा निकलवा लो, मालामाल हो जाओगे

“अम्मा पेट्रोल के दाम तो और बढ़ेंगे...”

“लेकिन कोई गाड़ियाँ चलनी बन्द थोड़े हो जाएँगी।”

मैं कहती हूँ, “यदि बस का भाड़ा बढ़ेगा तो एसएफ कलकत्ता को हिलाकर रख देगा।”

“हमने बेकार इसे प्रेसिडेंसी में पढ़ने भेजा। अब तुम चुप भी करो।“लेकिन आज ही तो हम लोग क्लास में डॉ. भवतोष दत्ता की सारी बातें सुन रहे थे। हाँ, वे भी तो भैया लोगों जैसी बातें कर रहे थे। उनका कहना था, “समाजवाद अभी दूर है बल्कि अब तो हम पर बाजार हावी होगा। कलकत्ते में टेलीविजन आ गया, फ्रिज का दाम सस्ता हो गया, उपभोक्ता चीजों से पट जाएगा बाजार। पार्क स्ट्रीट के रेस्टोरेंट, ब्लू फॉक्स, मैग्नोलिया, ट्रिकों, वहाँ जाकर देखो तो सही...शराब की बोतलों पर कैसे रुपया बहाया जाता है। रोज नई दुकानें खुलती जा रही हैं।”*22 प्रभा खेतान की आत्मकथा ‘अन्या से अनन्या’ का यह अंश आर्थिक उदारीकरण और बाज़ारवाद के प्रभाव को एक घरेलू संवाद के माध्यम से सजीव रूप में प्रस्तुत करता है। यहाँ आदर्शवादी वामपंथी सोच और भोगवादी उपभोक्तावाद के बीच का टकराव स्पष्ट है। एक ओर क्रांति, लाल झंडा और समाजवाद के नारों की गूँज है, तो दूसरी ओर अमेरिकन शिफॉन, स्टेनलेस स्टील, पेट्रोल के दाम और उपभोक्ता वस्तुओं से भरे बाजार का आकर्षण—जो धीरे-धीरे वैचारिक प्रतिबद्धता को निगलता चला जाता है।

आर्थिक दृष्टि से यह अंश 1980–90 के दशक के भारत की उस संक्रमणशील चेतना को दर्शाता है, जहाँ सामाजिक परिवर्तन की आकांक्षा बाजार की चकाचौंध के आगे दबने लगती है। डॉ. भवतोष दत्ता की टिप्पणी—'समाजवाद अभी दूर है, अब बाजार हावी होगा' —इस यथार्थ को पुष्ट करती है। प्रभा खेतान अपने अनुभवों के माध्यम से आर्थिक बदलाव की उस विडंबना को उजागर करती हैं, जहाँ वैचारिक आदर्शवाद व्यवहारिक बाज़ारवाद से हार मानने लगता है।

3.3.iv. स्त्री-आत्मकथाओं का सामाजिक आयाम

स्त्री आत्मकथाएँ केवल भावनात्मक और सामाजिक अनुभवों का दस्तावेज नहीं होतीं, वे स्त्री के आर्थिक संघर्ष, स्वावलंबन और आत्मसम्मान की जटिल प्रक्रिया को भी उद्घाटित करती हैं। हिंदी की स्त्री आत्मकथाओं में आर्थिक आयाम स्त्री के अस्तित्व और अस्मिता से गहरे रूप में जुड़ा हुआ है। यह आयाम यह स्पष्ट करता है कि आर्थिक आत्मनिर्भरता स्त्री-मुक्ति की पूर्व-शर्त है।

'अन्या से अनन्या' में प्रभा खेतान लिखती हैं, "परम्परा से इस प्रकार भी चिपके रहने का भला कैसा सबब ? सामाजिक और पारिवारिक रुढ़ियों से डरना बेकार है ?"23 यह प्रश्न भारतीय समाज में व्याप्त परंपरा और रुढ़ियों के अंधानुकरण पर तीव्र आलोचनात्मक दृष्टि प्रस्तुत करता है। लेखिका मानती हैं कि सामाजिक परिवर्तन तब तक संभव नहीं जब तक स्त्रियाँ पारिवारिक प्रतिबंधों और रूढ़ सामाजिक मूल्यों से डरकर जीती रहें। यह कथन नारी-स्वातंत्र्य की उस चेतना को रेखांकित करता है, जो परंपराओं को विवेक और आलोचना की कसौटी पर कसती है। सामाजिक परिप्रेक्ष्य में यह अंश स्पष्ट करता है कि परिवर्तन के लिए केवल बाह्य क्रांति नहीं, बल्कि आत्म-स्वीकृति और मानसिक स्वतंत्रता भी आवश्यक है।

प्रभा खेतान का एक लम्बा संवाद देखिए, "तुम्हें और कोई नहीं मिला, इस विवाहित व्यक्ति के अलावा। जानती हो में ऐसे नाजायज सम्बन्धों को यानी एडल्टी को पाप की संज्ञा दी गई ईसाई धर्म में है।"

"हमारे हिन्दू धर्म में इसे पाप नहीं कहा गया। मैंने अपने हिन्दू पंडित से पूछा है। हमारे शास्त्रों में बहुविवाह का प्रचलन है।"

"मगर तुमने तो इस व्यक्ति से शादी नहीं की।"

"मन से वरण करने को हम गन्धर्व विवाह कहते हैं। यह तो 1952 में हिन्दू मैरिज एक्ट के कारण एकल विवाह का प्रचलन बढ़ा। लेकिन कानून बना देने सेकोई परम्परा खतम नहीं हो जाती।"

"तुम्हें अपनी परम्परा के बारे में कैसे मालूम?""शास्त्रों से"

"शास्त्र झूठ बोलते हैं।"

"डॉक्टर साहब के एक वकील मित्र हैं, उन्होंने भी हमें समझाया कि हम लोग मुसलमान होकर शादी कर सकते हैं। और बाद में आर्य समाजी बना जा सकता है।"

"इन मामलों में सारे पुरुष झूठे होते हैं।"

"नहीं, वह वकील एक अच्छा इंसान है।"

"देखो लडकी, तुम अभी नादान हो। बस इतना समझ लो कि पुरुष ने अपने स्वार्थ में धर्म, समाज और कानून को बनाया है, औरत ने तो बस अभी-अभी अपने अधिकारों के बारे में बोलना शुरु किया है।"

"तो आइलिन, तुम तो हमेशा अपने अधिकारों के बारे में सजग रही होगी। मेरे स्वर का व्यंग्य उससे छुपा नहीं था, पर आइलिन ने सहज उत्तर दिया। कहाँ सजग थी? यदि मेरे में समझ होती तो तीन-तीन विवाह नहीं टूटते, तलाक नहीं होते।"*24 —प्रभा खेतान की आत्मकथा *'अन्या से अनन्या'* का यह संवाद स्त्री के स्वत्व, संबंध और सामाजिक नैतिकता के प्रश्नों को जटिल और बहुस्तरीय रूप में उजागर करता है। यहाँ लेखिका पारंपरिक विवाह व्यवस्था

और सामाजिक नैतिकता की दोहरी मान्यताओं को चुनौती देती हैं। विवाहित पुरुष से संबंध को 'पाप' कहने वाली पश्चिमी नैतिकता और हिन्दू धर्म की शास्त्रीय परंपराओं के बीच लेखिका एक वैकल्पिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करती हैं, जिसमें स्त्री की स्वतंत्र इच्छा और मानसिक वरण को केंद्रीय स्थान प्राप्त है।

सामाजिक परिप्रेक्ष्य में यह अंश उन पितृसत्तात्मक संरचनाओं की परतें खोलता है जहाँ धर्म, कानून और परंपरा स्त्री की स्वतंत्रता पर नियंत्रण के औज़ार बने हैं। लेखिका इन औपचारिक व्यवस्थाओं की सीमाओं को समझते हुए कहती हैं कि परंपरा या विवाह संस्था स्वयं पुरुष के स्वार्थ का निर्माण है, और स्त्री अभी-अभी बोलना सीख रही है। आइलिन और लेखिका के मध्य यह संवाद सांस्कृतिक भिन्नताओं के बावजूद स्त्री अनुभव की सार्वभौमिक पीड़ा को रेखांकित करता है। यह अंश न केवल स्त्री अधिकारों की माँग करता है, बल्कि आत्मस्वीकृति, आलोचनात्मक सोच और सामाजिक पुनर्पाठ का आग्रह भी करता है।

इसी क्रम में चन्द्रकिरण सौनरेक्सा बताती हैं कि "उनकी पली का असमय स्वर्गवास हो गया। घर में विधवा भाभी थीं। उनसे दो वर्ष छोटी और उनके दोनों बच्चों को प्यार करती थीं। नेपाल चन्द्र जी ने उन्हीं से अपने पुनर्विवाह एका जब प्रस्ताव रखा तो घर में तूफ़ान उठ खड़ा हुआ। ऊँची जात वालों में उस समय विधवा-विवाह का प्रश्न ही नहीं उठता था। दूसरे, उनके लिए लडकी मिल भी गई थी। घरवालों ने उसी कुँवारी कन्या से ब्याह की जिद पकड़ ली। नेपाल चन्द्र जी ने कहा, 'दूसरी लड़की मेरे बच्चों की माँ नहीं है, सो वह उन्हें वह प्यार नहीं दे सकती, जो ताई (यानी उनकी विधवा भाभी) हैं, उनसे जो उन्हें मिल रहा है और भाभी मुझे पसन्द भी है।' इस पर घरवालों ने बड़ी व्यावहारिक युक्ति सुझाई, ब्याह तो तुम्हारा नई कन्या से ही होगा। हाँ, भाभी से मन लगा है तो उन्हें भी रख त्वो, पर विधवा का विवाह नहीं होगा।"*25 —चन्द्रकिरण सौनरेक्सा की आत्मकथा 'पिंजरे की मैना' का यह कथन भारतीय समाज में विधवा-विवाह, जातीय अनुशासन और स्त्री की सामाजिक स्थिति के कठोर यथार्थ को उजागर करता है। नेपाल चन्द्र जी द्वारा अपनी विधवा भाभी से विवाह का प्रस्ताव उस

समय की सामाजिक रूढ़ियों के विरुद्ध एक साहसिक और मानवीय कदम था। वे केवल एक पति की दृष्टि से नहीं, बल्कि एक पिता के रूप में यह सोचते हैं कि कौन स्त्री उनके बच्चों को स्नेह और मातृत्व दे सकती है। लेकिन समाज की दृष्टि में उनकी यह संवेदनशीलता जाति, कुल-मर्यादा और स्त्री की परंपरागत भूमिकाओं के विरुद्ध विद्रोह बन जाती है।

सामाजिक परिप्रेक्ष्य से यह प्रसंग यह स्पष्ट करता है कि **स्त्री की इच्छा, योग्यता और संबंधों की गरिमा** का समाज में कोई मूल्य नहीं होता, जब तक वह पारंपरिक ढांचे में न ढाली जाए। घरवालों द्वारा सुझाई गई "विवाह दूसरी से करो, पर भाभी को रख लो" जैसी युक्ति स्त्री को वस्तु में परिवर्तित कर देती है—जिसका उपयोग तो हो सकता है, पर सामाजिक सम्मान नहीं दिया जा सकता। यह कथन सामाजिक परिवर्तन की आवश्यकता और भारतीय समाज की पितृसत्तात्मक नैतिकता की विडंबना का जीवंत दस्तावेज है, जहाँ व्यक्तिगत संवेदना सामूहिक रूढ़ियों से पराजित हो जाती है। वस्तुतः हिंदी स्त्री आत्मकथाओं में आर्थिक आयाम स्त्री के आत्मनिर्णय, आत्मसम्मान और सामाजिक सम्मान से गहराई से जुड़ा हुआ है। इन आत्मकथाओं में आर्थिक स्वतंत्रता केवल साधन नहीं, बल्कि स्त्री की मुक्ति और अस्मिता का मूल माध्यम बनकर उभरती है।

उपरोक्त विवेचन के पश्चात हम कह सकते हैं कि, स्त्री आत्मकथाएँ केवल व्यक्तिगत जीवनवृत्त नहीं होतीं, वे उस सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश की गहन पड़ताल भी करती हैं जिसमें स्त्री का व्यक्तित्व आकार लेता है। इन आत्मकथाओं में स्त्री के संघर्ष, चेतना और आत्म-स्वीकृति की प्रक्रिया विभिन्न स्तरों पर उद्घाटित होती है—राजनीतिक, सांस्कृतिक, सामाजिक और आर्थिक। प्रभा खेतान, सुषम बेदी, ममता कालिया, चंद्रकिरण सौनरेक्सा, महादेवी वर्मा, शीला झुनझुनवाला जैसी लेखिकाओं की आत्मकथाएँ इन सभी आयामों को एक साथ समेटे हुए हैं।

'राजनीतिक आयाम' में स्त्री आत्मकथाएँ यह रेखांकित करती हैं कि कैसे स्त्रियाँ स्वतंत्रता संग्राम, आपातकाल, औपनिवेशिकता या वामपंथी आंदोलनों की साक्षी रही हैं,

परंतु उनकी भागीदारी को ऐतिहासिक विमर्शों में उचित स्थान नहीं मिला। रमणिका गुप्ता और सुषम बेदी की आत्मकथाओं में राजनीति केवल सत्ता से जुड़ा क्षेत्र नहीं, बल्कि एक वैचारिक संघर्ष और सामाजिक हस्तक्षेप का माध्यम बनकर उभरता है। ममता कालिया की आत्मकथा में विभाजन की त्रासदी और भयभीत नागरिकता का चित्र है, जबकि सुषम बेदी पश्चिमी लोकतंत्र और तीसरी दुनिया के त्रिकोणीय संबंधों पर सघन विचार प्रस्तुत करती हैं।

सांस्कृतिक आयाम' में स्त्री आत्मकथाएँ यह दिखाती हैं कि कैसे प्रवास, सभ्यता-संघात, परंपरा और आधुनिकता के द्वंद्व स्त्री की चेतना को आकार देते हैं। सुषम बेदी की 'आरोह-अवरोह' में अमेरिका और यूरोप के सांस्कृतिक अंतरों के साथ-साथ प्रवासी भारतीय स्त्री के आत्मसंकट उभरते हैं। शीला झुनझुनवाला दिल्ली के स्थापत्य और सांस्कृतिक धरोहरों के माध्यम से भारतीय इतिहास की परतों को उघाड़ती हैं। इन आत्मकथाओं में स्त्री केवल एक सामाजिक पात्र नहीं, बल्कि सांस्कृतिक संवाद की वाहक बनकर सामने आती है।

'सामाजिक आयाम' में आत्मकथाएँ स्त्री के पारिवारिक, जातिगत और लैंगिक संबंधों को पुनर्परिभाषित करती हैं। पिंजरे की मैना में चंद्रकिरण सौनरेक्सा विधवा विवाह और पारिवारिक रूढ़ियों की आलोचना करती हैं, तो प्रभा खेतान 'अन्या से अनन्या' में स्त्री-पुरुष संबंधों की दोहरी नैतिकता पर प्रश्न उठाती हैं। सामाजिक दृष्टि से ये आत्मकथाएँ स्त्री को वस्तु की तरह देखने वाली मानसिकता के खिलाफ प्रतिरोध रचती हैं और यह सिद्ध करती हैं कि स्त्री की स्वायत्तता और सम्मान केवल वैवाहिक संरचना में नहीं, उसकी विचारशीलता और आत्मनिर्णय में निहित है।

'आर्थिक आयाम' में ये आत्मकथाएँ यह प्रमाणित करती हैं कि आर्थिक स्वतंत्रता स्त्री के आत्मसम्मान, निर्णय क्षमता और अस्तित्व की बुनियाद है। महादेवी वर्मा 'श्रृंखला की कड़ियाँ' में स्त्री की आर्थिक पराधीनता को उसकी दासता का मूल मानती हैं। सुषम बेदी और प्रभा खेतान स्पष्ट रूप से कहती हैं कि कमाना केवल जीवन-निर्वाह नहीं, बल्कि

अस्तित्वबोध और आत्मविश्वास का माध्यम है। आत्मनिर्भर स्त्री ही समाज में स्वीकृति और सम्मान की हकदार बनती है—यह विचार इन आत्मकथाओं का केंद्रीय संदेश है।

इस प्रकार, स्त्री आत्मकथाएँ अनुभवों के बहुआयामी दस्तावेज हैं, जो स्त्री-जीवन की गहन वैचारिक, सांस्कृतिक और संवेदनात्मक संरचना को उद्घाटित करती हैं। ये आत्मकथाएँ पितृसत्ता के विरुद्ध स्त्री की आत्मस्वीकृति और प्रतिरोध की गाथा हैं, जो साहित्य को केवल सौंदर्य का नहीं, सच का भी माध्यम बनाती हैं।

संदर्भ :

1. सुषम बेदी, आरोह-अवरोह; पृष्ठ 26
2. वही, पृष्ठ 26-27
3. वही, पृष्ठ 27
4. ममता कालिया, कितने शहरों में कितनी बार, पृष्ठ 18
5. वही, पृष्ठ 19
6. वही, पृष्ठ 55
7. शीला झुनझुनवाला, कुछ कही कुछ अनकही, पृष्ठ 23
8. प्रभा खेतान, अन्या से अनन्या, पृष्ठ 46
9. सुषम बेदी, आरोह-अवरोह; पृष्ठ 155
10. वही, पृष्ठ 16
11. शीला झुनझुनवाला, कुछ कही कुछ अनकही, पृष्ठ 16
12. वही, पृष्ठ 16
13. वही, पृष्ठ 230
14. वही, पृष्ठ 230-31
15. महादेवी वर्मा, शृंखला की कड़ियाँ, पृष्ठ 86-87
16. वही, पृष्ठ 115
17. सुषम बेदी, आरोह-अवरोह; पृष्ठ 161
18. चंद्रकिरण सोनरैक्सा, पिंजरा की मैना, पृष्ठ 191
19. वही, पृष्ठ 191
20. कृष्णा अग्निहोत्री, लगता नहीं दिल मेरा, पृष्ठ 226
21. प्रभा खेतान, अन्या से अनन्या, पृष्ठ 46
22. वही, पृष्ठ 47

23. वही, पृष्ठ 141

24. वही, पृष्ठ 141

25. चंद्रकिरण सोनरैक्सा, पिंजरा की मैना, पृष्ठ 30

अध्याय : 4

हिंदी की स्त्री-आत्मकथाओं का विश्लेषणात्मक अध्ययन

4.1 — हिंदी की प्रमुख स्त्री-आत्मकथाओं का विश्लेषण— I

4.1 — हिंदी की प्रमुख स्त्री-आत्मकथाओं का विश्लेषण— II

4.2 — हिंदी की स्त्री-आत्मकथाओं से संबंधित स्त्री विमर्श की दिशा

4.3 — वैश्वीकरण का हिंदी स्त्री-लेखन पर प्रभाव

4.1

हिंदी की प्रमुख स्त्री-आत्मकथाओं का विश्लेषण— I

'आत्मकथा' केवल किसी व्यक्ति की जीवन यात्रा का वृत्तांत नहीं होती बल्कि वह समय, समाज और सत्ता की संरचनाओं से गहराई से प्रभावित एक आत्म-साक्षात्कार होती है। जब आत्मकथा का स्वर एक स्त्री के अनुभवों से जन्मता है, तब वह केवल एक निजी आख्यान नहीं रह जाती, बल्कि वह एक सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक प्रतिरोध का प्रस्थान बिंदु बन जाती है। स्त्री आत्मकथाएँ भारतीय साहित्य में एक नवीन और साहसिक प्रवृत्ति के रूप में उभरी हैं, जिन्होंने चुप्पियों के अनुवाद और जर्जर मान्यताओं के विखंडन का कार्य किया है।

स्त्री विमर्श की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से यह स्पष्ट होता है कि पितृसत्तात्मक समाज ने स्त्री को परंपराओं, धर्म, रीति और कानून की कठोर परिधियों में बाँधकर उसके अनुभवों को मौन में ढालने का प्रयत्न किया। किंतु आत्मकथा लेखन उस मौन को तोड़ने का माध्यम बनकर सामने आया है। यह लेखन स्त्री के भीतर की वह 'अन्यथा' आवाज है, जो वर्षों से दबाई जाती रही और अब जब उसने अभिव्यक्ति का स्वर पाया, तो उसमें प्रश्न, प्रतिरोध, पीड़ा, आत्मबोध और विद्रोह—सभी कुछ समाहित हो गया।

स्त्री आत्मकथाओं का स्वरुप अन्य आत्मकथा-विधाओं से भिन्न है। यहाँ 'स्व' की खोज व्यक्तिगत नहीं, बल्कि सामाजिक और लैंगिक संदर्भों में होती है। इन आत्मकथाओं में 'स्व' की सत्ता को निर्मित करने वाली बाहरी शक्तियाँ—परिवार, विवाह, धर्म, जाति, वर्ग और राष्ट्र की राजनीति— न केवल चुनौती के रूप में उपस्थित होती हैं, बल्कि लेखिकाओं द्वारा उनकी पुनर्व्याख्या भी की जाती है। इसलिए यह लेखन आत्म-आलोचना नहीं, अपितु सामाजिक आलोचना का भी उपकरण बन जाता है। स्त्री आत्मकथाओं की महत्ता इसलिए भी है कि ये हमें इतिहास के उस हिस्से से परिचित कराती हैं, जो आधिकारिक दस्तावेजों में

अनुपस्थित रहा है। जहाँ पुरुषों की आत्मकथाएँ आत्मविस्तार की अभिलाषा से प्रेरित होती हैं, वहीं स्त्रियों की आत्मकथाएँ आत्म-स्वीकृति और आत्म-संघर्ष की यात्राएँ होती हैं।

यह भी स्मरणीय है कि स्त्री आत्मकथाएँ किसी एकवर्गीय अनुभव को नहीं, बल्कि बहुस्तरीय स्त्री अस्मिताओं को उद्घाटित करती हैं। दलित, आदिवासी, मुस्लिम, शिक्षित शहरी और ग्रामीण स्त्रियों की आत्मकथाएँ अपने-अपने संदर्भों में पितृसत्ता, ब्राह्मणवाद, पूंजीवाद और यौनिक शोषण की अलग-अलग परतें खोलती हैं। इसीलिए यह लेखन किसी एक विमर्श की सीमाओं में बँधकर नहीं देखा जा सकता।

इस विवेचन में स्त्री आत्मकथाओं के इसी विविधवर्णी स्वर को समझने और विश्लेषित करने का प्रयास किया गया है। यह विश्लेषण आत्मकथा को केवल साहित्यिक कृति न मानकर, उसे सामाजिक पाठ और वैचारिक प्रतिरोध के रूप में देखने का प्रस्ताव रखता है। इसमें न केवल भाषिक संरचना, शिल्प और अभिव्यक्ति पर ध्यान दिया गया है, बल्कि इस बात पर भी कि कैसे आत्मकथा लेखन के माध्यम से स्त्रियाँ अपने 'मैं' को पुनः गढ़ती हैं और उसे सार्वजनिक करती हैं—एक ऐसा कृत्य जो स्वयं में बड़ा परिवर्तनकारी है। वस्तुतः इस विवेचन यही है कि हम स्त्री आत्मकथाओं को केवल करुणा या सहानुभूति के पाठ नहीं, अपितु स्त्री चेतना, आत्मबोध और सामाजिक पुनर्रचना की परियोजना के रूप में देखें और उनके भीतर छिपे उस वैचारिक ताप को समझ सकें, जो इतिहास को स्त्री दृष्टि से पुनर्लेखन की आकांक्षा रखता है।

हिंदी की प्रमुख आत्मकथाओं का विश्लेषण इस प्रकार है—

4.1-I-i. अन्या से अनन्या (2016)— प्रभा खेतान

प्रभा खेतान हिंदी की एक प्रतिष्ठित लेखिका, सामाजिक कार्यकर्ता, व्यवसायी और स्त्री-विमर्श की मुखर प्रवक्ता थीं। उनका जन्म 1 नवम्बर 1942 को कोलकाता के एक पारंपरिक

मारवाड़ी परिवार में हुआ था। परंपरा और रुढ़ियों से बँधे माहौल में पली-बढ़ी प्रभा खेतान ने न केवल उस सामाजिक ढाँचे को चुनौती दी, बल्कि अपने जीवन और लेखन के माध्यम से स्त्री अस्मिता, स्वतंत्रता और आत्मनिर्भरता के नए प्रतिमान स्थापित किए।

प्रभा खेतान व्यवसाय के क्षेत्र में भी उल्लेखनीय रहीं। उन्होंने ब्यूटी थेरापी का प्रशिक्षण हॉलीवुड से प्राप्त कर कोलकाता में अपना ब्यूटी पार्लर आरंभ किया और बाद में चमड़े के निर्यात जैसे पुरुष-प्रधान व्यवसाय में भी अपनी पहचान बनाई। वे 'प्रोग्रेसिव वूमन' संस्था की संस्थापक थीं और स्त्रियों के उत्थान के लिए अनेक सामाजिक कार्यक्रमों में सक्रिय भागीदारी निभाती रहीं।

साहित्यिक रुप से वे आत्मकथा 'अन्या से अनन्या', उपन्यास 'छिन्नमस्ता', 'पीली आंधी' तथा 'मैं और मैं' जैसी रचनाओं के लिए जानी जाती हैं। उनकी आत्मकथा 'अन्या से अनन्या' स्त्री के निजी, सामाजिक और वैचारिक संघर्षों की साक्षी है, जिसमें उन्होंने अपने जीवन के कटु अनुभवों, प्रेम-संबंधों, सामाजिक सीमाओं और आत्मनिर्णयों को ईमानदारी से अभिव्यक्त किया है। प्रभा खेतान का लेखन साहस, संवेदना और वैचारिक प्रखरता से युक्त है। वे हिंदी आत्मकथा लेखन में उस स्वर की प्रतिनिधि हैं, जिसने स्त्री को केवल 'भोग्या' या 'त्याज्या' नहीं, बल्कि एक स्वतंत्र, विचारशील और संकल्पशील इकाई के रुप में प्रस्तुत किया। उनका देहांत 20 सितम्बर 2008 को हुआ, किंतु उनके विचार और लेखन आज भी स्त्री चेतना के लिए प्रेरणा बने हुए हैं।

प्रभा खेतान की आत्मकथा 'अन्या से अनन्या' स्त्री चेतना के गहरे आत्मसंघर्ष, सामाजिक संस्कारों की जकड़ और आत्मबोध की स्वायत्त यात्रा को अत्यंत प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करती है।स्त्री चेतना के द्वंद्व और आत्मबोध की यात्रा को गहराई से उकेरते हुए प्रभा खेतान 'अन्या से अनन्या' में कहती हैं, "सती को प्रणाम ! सती माँ! तेरा आदर्श मेरे सामने हमेशा रहा, मैंने खुद को उसी परम्परा में ढालने की कोशिश की। मेरे लिए सती का अर्थ था, पति की एकनिष्ठ भक्ति, सूचना समर्पण, किसी पराए मर्द की ओर आँख उठाकर भी नहीं

देखना। लेकिन आज मेरे भीतर की बची हुई स्त्री को प्रणाम। बहुतेरे रूपों में बहुत दिन जी चुकी हूँ और आज साठ की हो चुकी हूँ। आधी शताब्दी से ऊपर। कल ही तो न्यूयॉर्क आई हूँ। हूँ। बहुत सालों बाद सब कुछ कितना बदला-बदला लग रहा है, वर्ल्ड ट्रेड सेंटर की अनुपस्थिति को, उसके अभाव को महसूसने मैं यहाँ चली आई।" पृष्ठ 5

"सती को प्रणाम!" कहकर वे पारंपरिक स्त्री आदर्शों—पति-भक्ति, समर्पण, पवित्रता—की स्वीकार्यता को दर्शाती हैं, लेकिन इसके साथ ही वे अपनी 'बची हुई स्त्री' को भी प्रणाम करती हैं, जो वर्षों तक सामाजिक भूमिकाएँ निभाते हुए भी भीतर जीवित रही। यह स्वीकारोक्ति परंपरा से विद्रोह नहीं, बल्कि आत्म-स्वीकृति का साहसिक कदम है। न्यूयॉर्क और वर्ल्ड ट्रेड सेंटर का संदर्भ उनके भीतरी संसार के बदलते भूगोल का प्रतीक बनता है। यह अंश स्त्री की आत्मकथात्मक मुक्ति की गाथा है, जहाँ वह 'अन्या' से 'अनन्या' बनने की प्रक्रिया में अपने भीतर की अस्मिता को पुनः पहचानती है।

पारंपरिक सामाजिक ढाँचों में कभी स्पष्ट रूप से व्यक्त नहीं हो सकने वाली; नारी अनुभव की जटिल और अनकही परत को उजागर करते हुए वे आगे कहती हैं कि "मैं क्या लगती थी डॉक्टर साहब की? मैं क्यों ऐसे उनके साथ चली आई? प्रियतमा, मिस्ट्रेस, शायद आधी पत्नी, पूरी पत्नी तो मैं कभी नहीं बन सकतीसालों से में उनके साथ थी मगर किस रूप में...? इस रिश्ते को... नाम नहीं दे पाऊँगी। भला प्रेमिका की भूमिका भी कोई भूमिका हुई ? प्रेम तो सभी करते हैं। प्रेम करनेवाली स्त्री, माँ, बहन, पत्नी वह कुछ भी भी हो सकती है या फिर सीधे-सीधे उसे रखेल कहो ना। रखैल का क्या अर्थ हुआ? वही जिसे रखा जाता है, जिसका भरण-पोषण पुरुष करता हो। लेकिन डॉक्टर साहवतो मेरा भरण-पोषण नहीं करते, उनसे मैंने कभी कोई आर्थिक सहायता नहीं ली। में तो खुद कमाती थी, स्वावलम्बी थी, एक आत्मनिर्भर संघर्षशील महिला थी। हाँ, डॉक्टर साहव से प्यार जरूर करती थी। मैंने स्वेच्छा से अपने इस अकेले जीवन का वरण भी किया।" पृष्ठ 9

प्रभा खेतान यह कथन लेखिका डॉक्टर साहब के साथ अपने दीर्घकालिक संबंध को लेकर आत्ममंथन करती हैं, और इस आत्मबोध के क्षण में वह समाज द्वारा थोपे गए संबंधों की श्रेणियों—प्रेमिका, पत्नी, मिस्ट्रेस, रखैल—सबको एक-एक कर खारिज कर देती हैं। यह प्रश्न कि 'मैं क्या लगती थी डॉक्टर साहब की?' केवल एक व्यक्तिगत शंका नहीं, बल्कि स्त्री की उस व्यापक सामाजिक स्थिति को दर्शाता है जहाँ उसका अस्तित्व पुरुष की पहचान से जुड़कर ही मान्य होता है। लेकिन प्रभा खेतान इस समीकरण को तोड़ते हुए कहती हैं, 'मैं तो खुद कमाती थी... आत्मनिर्भर संघर्षशील महिला थी।'

वे अपने प्रेम को स्वीकार करती हैं, परंतु किसी संबंध विशेष की भूमिका ओढ़ने से इंकार करती हैं। यह प्रेम किसी आश्रय की तलाश में नहीं, बल्कि समानता और स्वेच्छा पर आधारित है। "मैंने स्वेच्छा से अपने इस अकेले जीवन का वरण किया"—यह वाक्य स्त्री के आत्मनिर्णय की पराकाष्ठा है। 'रखैल' शब्द के सामाजिक अर्थों पर लेखिका की टिप्पणी स्त्री के आर्थिक आत्मनिर्भरता के महत्त्व को रेखांकित करती है। वह स्पष्ट करती हैं कि स्त्री केवल तभी तक 'रखी' जाती है जब तक वह पुरुष पर निर्भर है। एक स्वावलंबी स्त्री अपने संबंधों की परिभाषा स्वयं गढ़ती है।

स्त्री के सामाजिक ढाँचों से बाहर निकलकर आत्मनिर्भरता की दिशा में किए गए साहसिक प्रयासों के परिप्रेक्ष्य में वे कहती हैं कि "एक मारवाड़ी लड़की के लिए यह कम साहस की बात नहीं कि वह देश-विदेश यों अकेले घूम ले। पहले ब्यूटी थेरापी का कोर्स हॉलीवुड से किया और अपना ब्यूटी पार्लर खोला था। अब चमड़े का निर्यात करती है। इंडिया टूडे में इनकी फोटो निकली है, ये बहुत डॉयनामिक महिला हैं।" पृष्ठ 11 यहाँ लेखिका स्वयं स्वीकार करती हैं कि 'एक मारवाड़ी लड़की के लिए यह कम साहस की बात नहीं', क्योंकि पारंपरिक मारवाड़ी समाज में स्त्रियाँ प्रायः घरेलू सीमाओं तक ही सीमित रहती हैं। प्रभा खेतान का हॉलीवुड से ब्यूटी थेरापी का कोर्स करना, फिर अपना ब्यूटी पार्लर खोलना और बाद में चमड़े के निर्यात जैसे व्यवसाय में उतरना उनके आत्मविश्वास,

व्यावसायिक सूझबूझ और स्वतंत्र दृष्टिकोण का प्रमाण है। 'इंडिया टूडे' जैसी प्रतिष्ठित पत्रिका में उनका प्रकाशित होना उनके कार्यों की सामाजिक स्वीकृति और सफलता का द्योतक है।

प्रभा खेतान स्त्री अस्मिता, सामाजिक पहचान और वैयक्तिक सत्ता को प्रश्नांकित करती हुई कहती हैं कि, "में प्रभा खेतान... में कौन हूँ? क्या मेरी कोई पहचान नहीं है? मैं सधवा नहीं, क्योंकि मेरी शादी नहीं हुई, में विधवा नहीं... क्योंकि कोई दिवंगत पति नहीं, मैं कोठे पर बैठी हुई रंडी भी नहीं...क्योंकि मैं अपनी देह का व्यापार नहीं करती। मैं किसी पर निर्भर नहीं करती, स्वावलम्वी हूँ, अपना भरण-पोषण खुद करती हूँ। स्वेच्छा से एक जीवन का धरण किया है। तव में क्या हैं? मैं अवोध हूँ... अबोध माने मूर्ख। दीन-दुनिया से बेख़बर।" पृष्ठ 14, वे पूछती हैं—"मैं कौन हूँ?" यह प्रश्न मात्र आत्मचिंतन नहीं, बल्कि उस सामाजिक संरचना पर प्रहार है जो स्त्री को केवल पारंपरिक भूमिकाओं—सधवा, विधवा, रंडी—के माध्यम से ही पहचान देती है।

प्रभा खेतान स्वयं को इन सभी श्रेणियों से अलग पाती हैं, क्योंकि उन्होंने न विवाह किया, न देह व्यापार, और न ही किसी पुरुष पर आश्रित जीवन जिया। वे स्वावलंबी, आत्मनिर्भर, और स्वेच्छा से चुने गए जीवन की प्रतीक हैं। परंतु विडंबना यह है कि ऐसे जीवन को समाज "अबोध" अर्थात मूर्ख कहता है, क्योंकि वह उसकी समझ और मान्यता की परिधि में नहीं आता।

स्त्री जीवन में भावनात्मक अतिरेक और व्यावसायिक उपेक्षा के द्वंद्व को उजागर करती हुई लिखती हैं— "हम औरतें प्रेम को जितनी गम्भीरता से लेती हैं, उतनी ही गम्भीरता से यदि अपना काम लेतीं तो अच्छा रहता, जितने आँसू डॉक्टर साहब के लिए गिरते हैं उससे बहुत कम पसीना भी यदि वहा सकूँ तो पूरी दुनिया जीत लूँगी।" पृष्ठ15 यह कथन दर्शाता है कि किस प्रकार स्त्रियाँ पारंपरिक सामाजिक conditioning के चलते अपने श्रम, समय और ऊर्जा को प्रेम और संबंधों में खपा देती हैं, जबकि वही ऊर्जा यदि आत्मनिर्माण और कर्म में

लगाई जाए तो वे "पूरी दुनिया जीत सकती हैं"यहाँ "आँसू" और "पसीना" के प्रतीकों के माध्यम से प्रभा जी भावनात्मक व्यर्थता और श्रम की सार्थकता का तुलनात्मक मूल्यांकन करती हैं। यह कथन स्त्री विमर्श में उस मोड़ को चिन्हित करता है जहाँ स्त्री अपने आत्मबल, श्रम और दक्षता की शक्ति को पहचानने लगती है। निसंदेह; प्रभा खेतान का यह आत्मस्वीकृत-चिंतन नारी चेतना को भावुकता की सीमाओं से बाहर निकालकर उसे आत्मनिर्भरता और कर्मशीलता की दिशा में प्रेरित करता है।

वैचारिक चेतना और स्त्री विमर्श में गहरी संलग्नता को दर्शाते हुए वे आगे लिखती हैं कि "क्या लिखा है सिमोन द बोउवा ने? "बहुत कुछ, कोई जन्म से स्त्री नहीं होती, समा समाज उसे स्त्री बनाता है "तुम स्त्री की चिन्ता बाद में करना। पहले मजदूर की चिन्ता करो। "क्यों मैं स्त्री की गुलामी की चिन्ता क्यों न करूँ ? तुम भी तो कोई मजदूर के पेट से पैदा नहीं हुए ? तुम्हें अपनी माँ का शोषण समझ में नहीं आता ?" पृष्ठ 57 सिमोन द बोउवार के प्रसिद्ध वाक्य "कोई जन्म से स्त्री नहीं होती, समाज उसे स्त्री बनाता है" को उद्धृत कर लेखिका यह स्थापित करती हैं कि स्त्रीत्व जैविक नहीं, बल्कि सामाजिक संरचना है—एक बनाई गई पहचान, जो शोषण और भूमिका निर्धारण पर आधारित है।

जब कोई उनसे कहता है, 'तुम स्त्री की चिंता बाद में करो, पहले मजदूर की करो' तो वह इस पितृसत्तात्मक दृष्टिकोण को चुनौती देती हैं जो वर्गीय शोषण को प्रमुख मानते हुए लैंगिक शोषण को गौण बना देता है। उनका प्रत्युत्तर "तुम भी तो कोई मजदूर के पेट से पैदा नहीं हुए?" के माध्यम से वे स्त्री के अनुभव को उसकी सामाजिक, राजनीतिक और पारिवारिक पहचान का मूल मानती हैं। यह कथन स्त्री-विमर्श के उस बिंदु को उजागर करता है जहाँ स्त्री स्वयं को सिर्फ 'एक और सामाजिक समस्या' नहीं, बल्कि ऐतिहासिक रूप से शोषित सत्ता के रूप में पहचानती है।

अस्सी का दशक भारत में विचारधारात्मक मंथन का काल था—जहाँ मार्क्सवाद, संरचनावाद और उत्तर-आधुनिकता जैसे सिद्धांत सामाजिक विमर्श को नई दिशा दे रहे थे।

लेखिका के लिए नारीवाद मात्र एक बौद्धिक अवधारणा नहीं, बल्कि उनके निजी जीवन की पीड़ा और प्रतिरोध का नाम था। वे कहती हैं कि "अस्सी के दशक का यह एक नया दौर था पहचान की राजनीति दैनिक समाज का अध्ययन, मार्क्सवाद, संरचनावाद, उत्तर आधुनिकवाद मानो यह एक वैचारिक निर्धारण का दौर था। मेरी जैसी स्त्री के लिए नारीवाद शब्द मात्र एक विशेष आकर्षण रखता था। मेरा जीवन ही ऐसा था क्योंकि मैं पितृसत्ता के ओछेपन, दमन, दुराचार को किसी भी कीमत पर स्वीकार नहीं पा रही थी। स्त्री-पुरुष की जिन असमानताओं को देखते हुए मैं बड़ी हो रही थी वे सभी तो पितृसत्ता के कारनामे थे। स्त्री दमन का विरोध राष्ट्रीय फलक पर शुरू हो चुका था।" पृष्ठ 259 वे स्पष्ट करती हैं कि उनका स्त्रीत्व ऐसे अनुभवों से बना है जिसमें पितृसत्ता का ओछापन, दमन और दुराचार शामिल हैं। उनका यह आत्मबोध नारीवाद को केवल वैचारिक आलंबन नहीं, बल्कि व्यक्तिगत मुक्ति का माध्यम बना देता है। "स्त्री-पुरुष की जिन असमानताओं को देखते हुए मैं बड़ी हो रही थी"—यह कथन सामाजिक व्यवस्थाओं के भीतर गहरे पैठे लैंगिक भेदभाव की ओर संकेत करता है, जिसे लेखिका ने स्वयं जिया और समझा।

नारी आत्मकथा को केवल व्यक्तिगत अनुभवों तक सीमित नहीं रखता, बल्कि सामाजिक-राजनीतिक और सांस्कृतिक विमर्श में भी उसे भागीदार बनाता है। प्रभा खेतान अपने लेखन में जातीय, लैंगिक और वैचारिक विमर्श एक साथ उभारती हैं, जो आत्मकथा को बहुआयामी बना देते हैं। "दोस्तों के सोच और चिन्तन में राष्ट्र नहीं था, दिल्ली नहीं थी। नेहरू और गांधी के बदले सुभाष थे, आर्य संस्कृति के प्रतीक विवेकानन्द और ईश्वरचन्द्र विद्यासागर थे। लेकिन दयानन्द सरस्वती की वे कभी भूले-भटके चर्चा नहीं करते थे। लेकिन मैं ? मैं तो बंगाली नहीं हूँ। उनकी जातीय संस्कृति, मेरी संस्कृति नहीं है। उनके सामाजिक सरोकार मेरे मारवाड़ी सरोकारों से विलकुल भिन्न थे।" पृष्ठ 87 इस कथन में प्रभा खेतान एक सुस्पष्ट सांस्कृतिक भिन्नता और वैचारिक दूरी की पहचान करती हैं, जो उनके बंगाली मित्रों और उनके स्वयं के मारवाड़ी सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश के बीच विद्यमान है।

वे कहती हैं 'दोस्तों के चिन्तन में राष्ट्र नहीं था...नेहरू-गांधी के बदले सुभाष थे, विवेकानंद थे' यह उस बौद्धिक वातावरण की झलक देता है जो बंगाली पुनर्जागरण, विद्रोही चेतना और सांस्कृतिक गौरव से गुँथा हुआ था। वहीं प्रभा खेतान स्वयं को इस संदर्भ में 'मैं तो बंगाली नहीं हूँ' कहकर अलग करती हैं, जो न केवल एक जातीय भिन्नता है बल्कि एक गहरे सांस्कृतिक आत्मबोध का संकेत है। ''उनके सामाजिक सरोकार मेरे मारवाड़ी सरोकारों से भिन्न थे'' यह स्वीकारोक्ति दिखाती है कि लेखिका सामाजिक चेतना के क्षेत्र में अपनी अस्मिता और पृष्ठभूमि को लेकर सजग हैं।

प्रभा खेतान की आत्मकथा 'अन्या से अनन्या' हिंदी स्त्री आत्मकथा साहित्य में एक सशक्त और विचारोत्तेजक योगदान है, जो केवल एक व्यक्ति की जीवनकथा नहीं, बल्कि समूची स्त्री अस्मिता, सामाजिक संरचना, लैंगिक असमानता, और वैचारिक आत्मनिर्भरता की जटिल परतों को उघाड़ती है। यह आत्मकथा उस स्त्री की कथा है, जो पितृसत्ता के मानकों में फिट नहीं बैठती, जो परंपरा की सीमाओं को पहचानते हुए उन्हें चुनौती देती है, और अपने 'स्व' की खोज को ही जीवन का ध्येय बना लेती है।

प्रभा खेतान ने अपने जीवन के विविध अनुभवों, संबंधों और संघर्षों को जिस ईमानदारी, निर्भीकता और वैचारिक स्पष्टता के साथ प्रस्तुत किया है, वह हिंदी स्त्री लेखन में विरल उदाहरणों में आता है। वे एक ओर डॉक्टर साहब जैसे जटिल प्रेम-संबंध को बिना किसी आडंबर के स्वीकार करती हैं, वहीं दूसरी ओर यह भी दृढ़ता से कहती हैं कि उन्होंने कभी अपने प्रेम को पारंपरिक सामाजिक स्वीकृति या पुरुष आश्रय की शर्त पर नहीं जिया। आत्मनिर्भरता और स्वेच्छा उनके जीवन-दर्शन के मूल आधार हैं, जो उन्हें 'अन्या' से 'अनन्या' बनाते हैं — यानी एक ऐसी स्त्री जो अपनी शर्तों पर जीवन चुनती है और उसी में अपनी अस्मिता की पहचान तलाशती है।

खेतान की आत्मकथा स्त्री के उस संघर्ष को दर्ज करती है जो पितृसत्तात्मक संरचना में एक स्वतंत्र स्त्री होने की कीमत चुकाती है। "मैं क्या हूँ? सधवा नहीं, विधवा नहीं, रंडी

नहीं..." — यह सवाल केवल प्रभा का नहीं, बल्कि उस समस्त स्त्री वर्ग का है जो पारंपरिक सामाजिक भूमिकाओं से बाहर है और जिसे समाज कोई स्पष्ट पहचान देने में असमर्थ है। यह संघर्ष केवल पहचान का नहीं, बल्कि उस मानसिक आज़ादी का है जो स्त्री को अपने 'स्व' को गढ़ने की क्षमता प्रदान करता है।

प्रभा खेतान का वैचारिक संसार सीमोन द बोउवा, विवेकानंद, सुभाषचंद्र बोस, मार्क्सवाद, उत्तरआधुनिकता जैसे बौद्धिक विमर्शों से संवाद करता है, किन्तु उसमें आत्मानुभूति की प्रामाणिकता कभी कम नहीं होती। वे जब कहती हैं "हम औरतें प्रेम को जितनी गंभीरता से लेती हैं, उतनी ही गंभीरता से यदि अपने काम को लें तो दुनिया जीत सकती हैं," तब यह कथन मात्र व्यक्तिगत खेद नहीं, बल्कि समस्त स्त्री समाज के लिए एक वैचारिक चुनौती है। 'अन्या से अनन्या' स्त्री आत्मकथा के क्षेत्र में उन आत्मकथात्मक प्रयासों में से एक है जो स्त्री की वृहत्तर सामाजिक पहचान, आर्थिक आत्मनिर्भरता, यौनिक स्वतंत्रता और वैचारिक स्वाधीनता को समान रूप से महत्त्व देता है। यह आत्मकथा केवल एक नारी की निजी व्यथा नहीं, बल्कि भारतीय समाज में स्त्री की स्थिति पर एक सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक टिप्पणी भी है।

इस प्रकार प्रभा खेतान की आत्मकथा स्त्री आत्मकथा लेखन की परंपरा में एक क्रांतिकारी कदम है। यह वैयक्तिक अनुभवों से सार्वजनिक प्रश्नों तक की यात्रा है जहाँ एक स्त्री अपने जीवन को अपनी शर्तों पर जीकर पितृसत्ता को चुनौती देती है। यह आत्मकथा स्त्री विमर्श की दृष्टि से न केवल महत्वपूर्ण है बल्कि प्रेरक और विमर्शात्मक भी है जो हिंदी साहित्य में स्त्री की आवाज़ को सशक्त और मुखर बनाती है।

4.1-I-ii. एक कहानी यह भी (2016)— मन्नू भंडारी

मन्नू भंडारी हिंदी साहित्य की सुप्रसिद्ध कथाकार और उपन्यासकार थीं, जिन्हें 'नई कहानी आंदोलन' की प्रमुख हस्तियों में गिना जाता है। उनका जन्म 3 अप्रैल 1931 को मध्य प्रदेश

के भानपुर गाँव में हुआ। उनका मूल नाम महेन्द्रकुमारी था, लेकिन लेखन के क्षेत्र में उन्होंने 'मन्नू भंडारी' नाम अपनाया। उनके पिता सुख सम्पतराय भंडारी स्वयं एक प्रगतिशील लेखक थे, जिनसे उन्हें साहित्यिक चेतना और अभिरुचि विरासत में मिली।

मन्नू भंडारी ने अपनी उच्च शिक्षा कलकत्ता विश्वविद्यालय और बनारस हिंदू विश्वविद्यालय से प्राप्त की और आगे चलकर दिल्ली के मिरांडा हाउस कॉलेज में हिंदी की प्राध्यापक रहीं। वे साहित्यकार राजेन्द्र यादव की पत्नी थीं, लेकिन उनके वैवाहिक जीवन में कई जटिलताएँ और अंतर्विरोध भी रहे, जिनका विस्तार उनकी आत्मकथा 'एक कहानी यह भी' (2007) में मिलता है।

उनकी कहानियाँ मुख्यतः मध्यवर्गीय जीवन, स्त्री-पुरुष संबंध, सामाजिक विसंगतियों और स्त्री अस्मिता के संघर्षों को केंद्र में रखती हैं। प्रमुख कहानी संग्रहों में 'यही सच है', 'तीन निगाहों की एक तस्वीर', 'एक प्लेट सैलाब', 'मैं हार गई' आदि उल्लेखनीय हैं। वहीं उपन्यास 'आपका बंटी' और 'महाभोज' उनके साहित्यिक योगदान की मील के पत्थर माने जाते हैं। *'बिना दीवारों का घर'* उनका चर्चित नाटक है। मन्नू भंडारी को उनके साहित्यिक योगदान के लिए हिंदी अकादमी, भारतीय भाषा परिषद, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान और व्यास सम्मान जैसे प्रतिष्ठित पुरस्कारों से सम्मानित किया गया। उनका लेखन संवेदनशीलता, यथार्थबोध और सामाजिक दृष्टिकोण से सम्पन्न है, जो हिंदी साहित्य को एक नई दिशा प्रदान करता है। उनका निधन 15 नवम्बर 2021 को हुआ, लेकिन उनके विचार, कहानियाँ और संघर्ष आज भी पाठकों और साहित्यप्रेमियों के बीच जीवित हैं।

मन्नू भंडारी की आत्मकथा 'एक कहानी यह भी' — एक स्त्री की सर्जनात्मक एवं अस्तित्ववादी चेतना का दस्तावेज है। मन्नू भंडारी की आत्मकथा 'एक कहानी यह भी' सिर्फ उनके जीवन का विवरण मात्र नहीं है, यह एक मध्यवर्गीय शिक्षित स्त्री की निजी, सामाजिक और साहित्यिक चेतना की बहुआयामी प्रस्तुति है। यह आत्मकथा लेखिका के आत्मसंघर्ष,

स्त्री अस्मिता, पारिवारिक द्वंद्व और साहित्यिक अवदान का ऐसा चित्र प्रस्तुत करती है जो समकालीन स्त्री विमर्श का महत्वपूर्ण दस्तावेज बन जाती है।

इस आत्मकथा में मन्नू भंडारी अपने व्यक्तिगत जीवन के कटु अनुभवों को निसंकोच और ईमानदारी से उद्घाटित करती हैं। पति-पत्नी के संबंधों में समानता, संवाद और सम्मान की जो अपेक्षा होती है, वह उनके वैवाहिक जीवन में नहीं थी। लेखिका के लेखकीय व्यक्तित्व और पत्नी की भूमिका के मध्य का द्वंद्व गहरे रूप में उभरता है। राजेन्द्र यादव के आत्ममुग्ध और पितृसत्तात्मक रवैये से उपजा यह अंतर्विरोध आत्मकथा की आत्मपीड़नात्मक नहीं, बल्कि आत्मस्वीकृतिजन्य चेतना को उद्घाटित करता है।

सिर्फ पारिवारिक नहीं, लेखिका की यह रचना सामाजिक और राजनीतिक सरोकारों को भी समेटती है। आज़ादी के आंदोलन में उनकी भागीदारी, नारों, हड़तालों और भाषणों के माध्यम से एक नई स्त्री की छवि प्रस्तुत करती है, जो अपने पिता की रूढ़ियों से टकराती है और जीवन को अपने शर्तों पर जीने की कोशिश करती है। 'एक कहानी यह भी' मन्नू भंडारी के जीवन का वैचारिक और भावनात्मक दस्तावेज है, जो उनके भीतर की स्त्री के संघर्ष, क्षोभ, विद्रोह और जिजीविषा को मार्मिकता के साथ उजागर करता है। यह आत्मकथा हिंदी साहित्य में स्त्री-विमर्श और आत्मकथात्मक लेखन की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण रचनात्मक उपलब्धि है।

वे लिखती हैं "आज मैं कितनी शिद्दत के साथ महसूस कर रही हूँ कि कलम और शब्द के साथ रिश्ता टूटते चले जाने की प्रक्रिया में कैसे जिन्दगी के साथ भी मेरा रिश्ता टूटता चला गया-कैसे मैं सबसे कटी-छँटी अपने में ही सिमटती-सिकुड़ती चली गई। लेकिन इतना सब होने के बावजूद लिखने की एक अव्यक्त-सी लालसा मन को बराबर कचोटती रही है और एक दिन इसी कचोट की मार से मैं घर की सामान्य-सी सुविधाओं में लिथड़ी, पर मन को निरन्तर कंगला और शरीर को रुग्ण बनाती, अपनी एक निहायत ही यान्त्रिक ढर्रे में ढली बेजान-सी ज़िन्दगी को छोड़कर उज्जैन चली आई-अकेली। एक प्रयोग यह भी सही।" पृष्ठ

14 यह आत्मकथांश मन्नू भंडारी की आंतरिक व्यथा और लेखन से उनके गहरे आत्मिक संबंध को उजागर करता है। यह उद्धरण केवल एक भावुक स्वीकारोक्ति नहीं, बल्कि लेखन के माध्यम से स्त्री अस्मिता की खोज और अस्तित्वगत पीड़ा की अभिव्यक्ति है। लेखिका यहाँ जिस 'शिद्दत' से लेखन से दूर होने की व्यथा का उल्लेख करती हैं, वह दरअसल उनके जीवन में लेखन के स्थान को परिभाषित करता है—लेखन उनके लिए केवल अभिव्यक्ति का साधन नहीं बल्कि अस्तित्व का सहचर है।

यह कथन वस्तुतः उस स्त्री की करुण पुकार है, जो जीवन की जटिलताओं, दांपत्य तनावों और सामाजिक अपेक्षाओं के बोझ तले पिसते हुए अपने रचनात्मक अस्तित्व से कटती चली जाती है। लेखिका 'कटी-छँटी', 'सिमटती-सिकुड़ती', 'बेजान-सी ज़िन्दगी' जैसे विशेषणों का प्रयोग कर अपने मनोवैज्ञानिक और भावनात्मक संकुचन की गहन छवि प्रस्तुत करती हैं। यह वही स्त्री है जो कभी क्रांति के नारे लगाती थी, रचनात्मक ऊर्जा से भरपूर थी, किंतु विवाह संस्था और पितृसत्तात्मक पारिवारिक ढांचे ने उसे मानसिक रूप से शून्यावस्था में पहुँचा दिया।

"एक दिन देखा कि बिना मौसम और प्रत्यक्ष कारण के एक गमले की ढेर सारी पत्तियाँ झड़ गईं और दो-तीन दिन में ही वह पौधा चन्द पत्तियों के साथ टहनियों का एक झुंड-भर रह गया- मात्र ठूंठ, कुछ-कुछ मेरी ही तरह। माली ने देखा तो बड़ी बेरहमी से बची-खुची पत्तियों को भी नोच फेंका। मेरे मुँह से निकले "अरे-अरे" को सुनकर बड़ी सहजता से उसने अपनी भाषा में कहा, "इन पत्तियों को तो अब झड़ना ही होगा, इनसे मोह रखकर अब काम नहीं चलेगा, क्योंकि ये अब जान नहीं देनेवाली इस पौधे को... अब तो जड़ को देखना होगा," और उसने गमले की मिट्टी उलट दी।" पृष्ठ 14

उपरोक्त आत्मकथांश प्रतीकों के माध्यम से रचनात्मक और मानसिक अवस्था का सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत करता है। यहाँ पौधे की झड़ती पत्तियाँ लेखिका के भीतर टूटते आत्मबल, थकान और खालीपन का प्रतीक बन जाती हैं। जीवन की विफलताओं, बिखरे

संबंधों और निरंतर टूटते विश्वास के बीच लेखिका स्वयं को एक ठूंठ में रूपांतरित होता अनुभव करती हैं—एक ऐसा अस्तित्व जो पहले हरा-भरा था, अब शुष्क और निष्प्राण हो गया है।

माली का संवाद — "अब तो जड़ को देखना होगा" — आत्मकथात्मक संदर्भ में गहन अर्थ ग्रहण करता है। यह लेखिका के लिए एक आत्म-चिंतन का क्षण है, जो उन्हें बाह्य आडंबरों, सतही संबंधों और क्षणिक भावनात्मक लगावों से मुक्त होकर अपनी जड़ों की ओर लौटने की प्रेरणा देता है। यह 'जड़' उनके भीतर का वह स्त्रोत है जहाँ से उनका रचनात्मक आत्मबल उत्पन्न होता है। इस प्रसंग में प्रकृति का प्रतीकात्मक उपयोग लेखिका की मानसिक स्थिति का प्रभावशाली रूपक बनता है। यह आत्मकथांश उनके आत्मावलोकन, आंतरिक स्फुट चेतना और पुनर्नव निर्माण की प्रक्रिया का सूक्ष्म साहित्यिक उद्घाटन है।

मन्नू भंडारी; अतीत की ओर लौटने को केवल भावुकता का साधन नहीं मानतीं, बल्कि उसे रचनात्मक और आत्ममंथन की एक अनिवार्य प्रक्रिया के रूप में स्थापित करती हैं। "आगे बढ़ने के लिए पीछे मुड़कर देखना सहायक ही नहीं, कभी-कभी अनिवार्य भी नहीं हो जाता ? यादों की, घटनाओं की, स्थितियों की न जाने कितनी छोटी-छोटी पोटलियाँ खुली मिलेंगी जो ज़रा-सा स्पर्श पाते ही अपनी पूरी जीवन्तता के साथ आ खड़ी होंगी। न जाने कितने पात्र अपने व्यक्तित्व के पूरे निखार के लिए अनुकूल घटनाओं की, तो न जाने कितनी घटनाएँ अपने सारे अर्थ उजागर करने के लिए अनुकूल पात्रों की माँग करतीं आपको उकसातीं, प्रेरित करतीं या फिर आज की स्थितियों में नए सन्दर्भों की माँग करतीं आपके सामने आ खड़ी होंगी-एक चुनौती बनकर। एक बार पूरी निष्ठा और ईमानदारी के साथ इन सबसे जुड़कर देखा तो 'जाए। कौन जाने, इन ठूंठ जैसी टहनियों में भी कुछ अंकुरित होने की प्रक्रिया शुरू हो जाए !" पृष्ठ 15 वह अतीत को "घटनाओं की, स्थितियों की छोटी-छोटी पोटलियाँ" कहती हैं, जो स्पर्श पाते ही जीवन्त हो उठती हैं। यह स्पर्श दरअसल लेखिका की आत्मचेतना, उसकी रचनात्मक दृष्टि और अनुभवसंपन्न स्त्री की वह अंतर्दृष्टि है जो जीवन के

मर्म को समय और संवेदना के धरातल पर पहचानती है। लेखिका अतीत की घटनाओं और पात्रों को केवल स्मृति के संग्रह नहीं मानतीं, बल्कि उन्हें एक जीवंत चुनौती के रूप में देखती हैं—जो वर्तमान को नए सन्दर्भों में देखने और समझने के लिए प्रेरित करती हैं।विशेष रूप से अंतिम वाक्य — "कौन जाने, इन ठूंठ जैसी टहनियों में भी कुछ अंकुरित होने की प्रक्रिया शुरू हो जाए !" — लेखिका के भीतर के आशा-प्रकाश और पुनर्रचना की गहरी आकांक्षा को दर्शाता है। यह वाक्य केवल आत्मविश्वास की पुकार नहीं है, बल्कि लेखन और स्मृति के सहारे पुनर्जीवित होने की जिजीविषा का सशक्त प्रतीक है।

मन्नू भंडारी स्त्री-पुरुष संबंधों, विवाह संस्था और आधुनिकता की खोखली अवधारणाओं के बीच के द्वंद्व को अत्यंत मार्मिक ढंग से प्रस्तुत करती हैं "जिन्दगी शुरू करने के साथ ही लेखकीय अनिवार्यता के नाम पर राजेन्द्र ने 'समानान्तर जिन्दगी' का आधुनिकतम पैटर्न थमाते हुए जब कहा कि देखो, छत जरूर हमारी एक होगी लेकिन जिन्दगियाँ अपनी-अपनी होंगी; बिना एक-दूसरे की जिन्दगी में हस्तक्षेप किए बिलकुल स्वतन्त्र, मुक्त और अलग, तो मैं तो विलकुल अवाक्! आधुनिकतम जीवन के इस पैटर्न से मेरा कोई परिचय नहीं था, परिचय तो क्या, दूर-दूर तक इसकी कोई कल्पना तक मेरे मन में नहीं थी। राजेन्द्र ने भी मित्रता के दौरान तो ऐसी किसी बात का कभी कोई संकेत तक नहीं दिया था। मैं तो साथ आई थी सब तरह के अलगाव को दूर करके एक हो जाने के लिए, पूरी तरह घुल-मिल जाने के लिए। यह सब सुनकर तो मुझे लगा कि सिर पर छत का आश्वासन देकर जैसे पैर के नीचे की जमीन ही खींच ली हो। एक ही प्रश्न मेरे मन पर हथौड़े की तरह चोट करता रहा कि फिर इस छत की भी क्या ज़रूरत थी? क्या प्रयोजन था? छत तो राजेन्द्र के सिर पर भी थी और मेरे सिर पर भी सो इतना तो समझ में आ गया कि राजेन्द्र के दिमाग में एकाएक समानान्तर ज़िन्दगी की जो यह अवधारणा पैदा हुई है, निश्चित ही उसके सूत्र कहीं और ही हैं।" पृष्ठ 57

लेखिका यहाँ जिस 'समानान्तर ज़िन्दगी' की अवधारणा से टकराती हैं, वह न केवल उनकी वैवाहिक आकांक्षाओं के विरुद्ध है, बल्कि उस सामाजिक और मानसिक संस्कार से भी

टकराती है जिसमें विवाह को पारस्परिक समर्पण, सहयोग और सहअस्तित्व की बुनियाद माना गया है। राजेन्द्र यादव द्वारा प्रस्तुत यह 'मुक्त', 'स्वतंत्र' और 'अलग' जीवन की संकल्पना मन्नू के लिए एक भावनात्मक आघात बनकर सामने आती है। लेखिका के लिए छत का प्रतीक जहाँ एकता, सहजीवन और विश्वास का आश्रय था, वहीं अब वह केवल एक औपचारिक ढांचा मात्र बनकर रह गया है। ''सिर पर छत का आश्वासन देकर जैसे पैर के नीचे की जमीन ही खींच ली हो'' — यह वाक्य स्त्री के उस असुरक्षित मानसिक धरातल को दर्शाता है, जहाँ प्रेम, विवाह और अपनापन एकाएक संदेह, दूरी और उपेक्षा में बदल जाते हैं।

इस प्रसंग में आधुनिकता का भ्रमपूर्ण चेहरा सामने आता है, जहाँ 'स्वतंत्रता' के नाम पर जिम्मेदारियों और भावनात्मक जुड़ाव से पल्ला झाड़ लिया जाता है। मन्नू भंडारी का यह अनुभव उस स्त्री की पीड़ा है जो आत्मसमर्पण के साथ रिश्ते में आती है, लेकिन उसे रिश्ते की ज़मीन नहीं, बल्कि अलगाव का उद्घोष मिलता है। यह आत्मकथांश एक स्त्री की भावनात्मक छली जाने की स्थिति को उजागर करते हुए विवाह संस्था की सामाजिक संरचना पर भी गहन प्रश्न खड़ा करता है।

मन्नू भंडारी की आत्मकथा 'एक कहानी यह भी' हिंदी स्त्री आत्मकथाओं की परंपरा में एक अत्यंत महत्वपूर्ण एवं विशिष्ट कृति है, जो न केवल लेखिका के जीवन के विविध अनुभवों की अभिव्यक्ति है, बल्कि एक संवेदनशील, शिक्षित, आत्मनिर्भर मध्यवर्गीय स्त्री के आत्मसंघर्ष, अस्तित्व-चिंतन और आत्मपरिवर्तन की भी गूढ़ व्याख्या प्रस्तुत करती है। यह आत्मकथा स्त्री-विमर्श के व्यापक परिप्रेक्ष्य में उस स्त्री की आवाज़ है जो सामाजिक, वैवाहिक और लेखकीय जीवन की उलझनों के बीच अपने 'स्व' की तलाश करती है, और उसकी यह तलाश केवल व्यक्तिगत नहीं रह जाती, बल्कि सामूहिक स्त्री-चेतना की प्रतीक बन जाती है।

मन्नू भंडारी का जीवन निजी और सार्वजनिक द्वंद्वों से भरा रहा—एक ओर वे प्रसिद्ध साहित्यकार राजेन्द्र यादव की पत्नी थीं, तो दूसरी ओर वे स्वयं एक स्वतंत्र लेखिका थीं। इस

आत्मकथा में उन्होंने जिस बेबाकी, ईमानदारी और आत्मसमीक्षा के साथ अपने वैवाहिक जीवन, लेखकीय रिश्तों और सामाजिक दबावों का चित्रण किया है, वह हिंदी आत्मकथा-साहित्य को नया आयाम प्रदान करता है। राजेन्द्र यादव के साथ उनके संबंधों में प्रेम, संघर्ष, असहमति और अंततः अलगाव—यह सब कुछ इस आत्मकथा में बेहद मानवीय और संवेदनशील रूप में उभरता है।

वस्तुतः 'एक कहानी यह भी' में मन्नू भंडारी केवल एक पत्नी या प्रेमिका के रूप में नहीं दिखतीं, बल्कि एक विचारशील, विवेकशील और सजग स्त्री के रूप में सामने आती हैं, जो सामाजिक ढाँचों की कठोरताओं और वैवाहिक संस्था की पितृसत्तात्मक संरचना से टकराते हुए अपने आत्म की तलाश करती है। यह आत्मकथा उन स्त्रियों के लिए भी प्रेरणा है जो अपनी अस्मिता को रिश्तों के बीच गुम कर बैठती हैं और चुप्पी को सहनशीलता मान लेती हैं। मन्नू भंडारी की लेखकीय सच्चाई, आत्म-संवाद की क्षमता और ईमानदार अभिव्यक्ति ने उनकी आत्मकथा को एक गहरी वैचारिकता प्रदान की है।

इस आत्मकथा में लेखन से टूटा संबंध, फिर उसे पुनः जोड़ने की छटपटाहट, स्मृतियों की पुनरावृत्ति और आत्ममूल्यांकन की प्रक्रिया एक स्त्री की रचनात्मक यात्रा के विभिन्न पड़ावों को उजागर करती है। स्मृति, प्रतीक, प्रकृति और संवाद के माध्यम से लेखिका ने जिस आत्मबोध को रचा है, वह साहित्यिक जगत में मौलिक और उदाहरणीय है। इस प्रकार 'एक कहानी यह भी' आत्मकथा न केवल मन्नू भंडारी के व्यक्तित्व की सच्ची अभिव्यक्ति है, बल्कि वह समकालीन स्त्री आत्मकथात्मक लेखन में स्त्री अस्मिता की गूंज है। यह कृति उस 'स्फुट चेतना' की कथा है जो टूटती नहीं, बल्कि पुनः अंकुरित होने की जिद के साथ उभरती है। यह आत्मकथा स्त्री की लेखकीय चेतना, संवेदनात्मक गहराई और वैचारिक आत्मस्वीकृति का जीवंत दस्तावेज है, जो आने वाली पीढ़ियों के लिए भी उतना ही प्रासंगिक रहेगा जितना अपने समय में था।

4.1-I-iii. 'कस्तूरी कुंडल बसै' (2017) और 'गुड़िया भीतर गुड़िया' (2014) मैत्रेयी पुष्पा

मैत्रेयी पुष्पा समकालीन हिंदी साहित्य की एक सशक्त, मुखर और प्रगतिशील लेखिका हैं, जिन्होंने विशेष रूप से स्त्री विमर्श, सामाजिक यथार्थ और ग्रामीण जीवन की जटिलताओं को केंद्र में रखकर लेखन किया है। उनका जन्म 30 नवम्बर 1943 को उत्तर प्रदेश के बाँदा जिले के अतर्रा गाँव में हुआ। उनका बाल्यकाल बुंदेलखंड क्षेत्र की कठोर सामाजिक परिस्थितियों में बीता, जिसका प्रभाव उनके लेखन में स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

मैत्रेयी पुष्पा ने हिंदी साहित्य में स्त्री अस्मिता, स्वाधीनता और संघर्ष को एक नई वैचारिक दिशा दी है। उन्होंने नारी जीवन की पीड़ा, विद्रोह और आत्मसंधान को लोकभाषा और मिट्टी की गंध लिए हुए शैली में प्रस्तुत किया है। उनके साहित्य में गाँव, दलित, स्त्री और समाज के हाशिए पर खड़े पात्रों की आवाज़ को प्रमुखता मिली है। उनकी प्रमुख कृतियों में उपन्यास– इदन्नमम, चाक, अल्मा कबूतरी, झूला नट, गोमा हँसती है, कस्तूरी कुंडल बसै आदि शामिल हैं। कस्तूरी कुंडल बसै उनकी आत्मकथात्मक कृति है, जो एक स्त्री की आत्मनिर्भरता, संघर्ष और आत्मबोध की यात्रा का गहन वृत्तांत है।

मैत्रेयी पुष्पा ने कहानी, निबंध, आत्मकथा, पत्रकारिता, संवाद और व्याख्यान के माध्यम से स्त्री प्रश्नों को विविध स्तरों पर उठाया है। वे राष्ट्रीय महिला आयोग की सदस्य भी रह चुकी हैं और स्त्री अधिकारों से जुड़े मुद्दों पर सामाजिक हस्तक्षेप करती रही हैं। उन्हें साहित्य अकादमी सम्मान, वीर सिंह देव पुरस्कार, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान सम्मान, डॉ. राममनोहर लोहिया सम्मान सहित अनेक प्रतिष्ठित सम्मानों से सम्मानित किया गया है।

मैत्रेयी पुष्पा का साहित्य स्त्री की चुप्पी को तोड़ता है, उसकी देह, मन और आत्मा तीनों के संघर्ष को स्वर देता है, और हिंदी साहित्य को जनपदीय भाषा, लोक संस्कृति और स्त्री दृष्टि से समृद्ध करता है। वे आज भी लेखन, व्याख्यान और सामाजिक सक्रियता के माध्यम से साहित्यिक-सामाजिक विमर्श को प्रभावित कर रही हैं। लेखन के क्षेत्र में मैत्रेयी

पुष्पा ने उपन्यास, निबंध, लेख, स्तंभ और आत्मकथा सहित अनेक विधाओं में रचना की है, परंतु उनकी आत्मकथाएँ 'कस्तूरी कुंडल बसै' और 'गुड़िया भीतर गुड़िया' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन आत्मकथाओं में उन्होंने स्त्री के निजी और सामाजिक जीवन के अंतरद्वंद्वों, संघर्षों, संबंधों, आकांक्षाओं और अस्मिता की खोज को अत्यंत ईमानदारी और निर्भीकता से प्रस्तुत किया है।

'कस्तूरी कुंडल बसै' आत्मकथा का पहला भाग है, जिसमें मैत्रेयी अपने बचपन, पारिवारिक स्थिति, सामाजिक परिवेश और वैचारिक विकास की यात्रा का चित्रण करती हैं। वहीं 'गुड़िया भीतर गुड़िया' इस यात्रा का दूसरा पड़ाव है, जिसमें लेखिका की वैयक्तिक पहचान, स्त्री-विमर्श, प्रेम, विवाह, मातृत्व और लेखकीय संघर्षों का गहन विश्लेषण मिलता है। इन दोनों आत्मकथाओं की विशेषता यह है कि वे केवल लेखिका के जीवन का वृत्तांत नहीं हैं, बल्कि एक संपूर्ण युग की स्त्रियों की संवेदनाओं, चेतनाओं और विद्रोह की कथा भी हैं। मैत्रेयी पुष्पा की भाषा आंचलिकता, ठेठपन और भावप्रवणता से परिपूर्ण है, जो आत्मकथा को अतिरिक्त जीवन्तता प्रदान करती है।

घर परिवार के साथ रह कर इस तरह अपने अनुभवों को परत दर परत समाज के सामने रखना लेखिका के साहस का प्रमाण है। भावों का सहजता जो स्त्री को भी मनुष्य बनाती है —"रिश्ता जिसका संबंध लगाव भरी ईमानदारी से ... मैं अपनी सीमाएँ भी जान रही थी लेकिन अनजाने क्षणों में घिर आती एक गहन आश्वस्ति कि आत्मीयता के बीच गहरे उतरती चली जाती भावनाएं जो कहती तुम सिर्फ रोटी बनाने और परसने वाली रसोईदारिन नहीं हो ना भोजन करने वाले ने ही तुम्हें निखालिस इस रूप में देखा, यहां यही बात तो असाधारण है यही बात मेरे मन को डॉक्टर सिद्धार्थ को कोई अपराध बोध नहीं कोई दुराव–छिपाव नहीं अकेले दुकेले पाकर कभी मेरी उपस्थिति का गलत फायदा नहीं उठाया क्या यही व्यवहार मुझे प्रभावित करता चला गया? और प्यार की सतत, अतृप्त, अपूर्ण मगर छोटी सी अनुभूति अबाध रूप से प्रभावित होती चली गई लगा कि जीवन कितना सहज सरल और

सुंदर है। एक दूसरे की भावनाओं की विमुग्धता को जान लेना सबसे बड़ा ज्ञान है। अबोध मन का विश्वास और संबंधों की पहली सतह... इसी को खोजती हुई झांसी से यहां तक चली आई।"पृष्ठ 13 . मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा 'गुड़िया भीतर गुड़िया' भारतीय स्त्री के बहुआयामी अनुभवों, संबंधों और मानसिक द्वंद्वों को अत्यंत सूक्ष्मता से उजागर करती है। यह आत्मकथांश स्त्री के उस अनुभव-संसार को खोलता है, जहाँ वह प्रेम, आत्मीयता और विवाह जैसी संस्थाओं के भीतर अपनी पहचान को टटोलती है।

लेखिका यहां एक ऐसे संबंध का चित्रण करती हैं, जिसमें पारंपरिक स्त्री-पुरुष संबंधों की सीमाओं को लांघते हुए मानवीय आत्मीयता को केंद्र में रखा गया है। डॉक्टर सिद्धार्थ के साथ संबंधों में न कोई भय है, न अपराधबोध, न वासना और न ही छल। यह संबंध स्त्री के उस गहन मानवीय पक्ष को स्पर्श करता है जो अक्सर पितृसत्तात्मक व्यवस्था में उपेक्षित रह जाता है। लेखिका के शब्दों में — "क्या यही व्यवहार मुझे प्रभावित करता चला गया?" — यह प्रश्न प्रेम के प्रति स्त्री की सहज, अवचेतन प्रतिक्रिया को दर्शाता है। वह स्पष्ट करती हैं कि वह केवल "रसोईदारिन" नहीं हैं; उनकी उपस्थिति में जो सौंदर्य है, जो गरिमा है, उसे पहचानने वाला पुरुष उनके भीतर भावनात्मक सुरक्षा और सम्मान का भाव जगाता है। यही वह क्षण है जहाँ स्त्री को लगता है कि उसका जीवन सरल और सुंदर हो सकता है, यदि संबंध आत्मा से जुड़ें, न कि केवल देह से।

विवाहित जीवन और पतिव्रता की भूमिका पर लेखिका का आत्मविश्लेषण स्त्री के दोहरे संघर्ष को उद्घाटित करता है। एक ओर वह प्रेम में आत्मा की गहराइयों तक उतरना चाहती है, तो दूसरी ओर विवाह संस्था के भीतर वह तन-समर्पण और मौन अनुकूलन की अपेक्षाओं से जूझती है। यहाँ आत्मकथा वैयक्तिक अनुभव को सामाजिक यथार्थ से जोड़ते हुए स्त्री विमर्श के मूलभूत प्रश्नों को सामने लाती है।

स्त्री जब लड़के पैदा करे तभी वह स्त्री है इस मान्यता ने भी लेखिका को बार बार परीक्षा देने के लिए मजबूर किया हर बार लड़की को ही जन्म दिया —"मेरा स्त्रीत्व लड़की

की मां होने के कारण अस्वीकृत किया जाए? अब मेरे जीवन का उद्देश्य क्या होगा? कोई मुझे मां की गरमा नहीं दे रहा मैं बच्ची से मौन बातें करती तू किस दुनिया में आ गई है? तुझे पैदा करने पर जो आतंक बढ़ रहा है मैं उससे छिपी–छिपी फिरूंगी।" पृष्ठ 92 प्रस्तुत आत्मकथांश में मैत्रेयी पुष्पा एक स्त्री के उस गहन मानसिक, सामाजिक और भावनात्मक संघर्ष को स्वर देती हैं, जो बेटी की मां बनने के "अपराधबोध" से ग्रस्त कर दिया जाता है। "मेरा स्त्रीत्व लड़की की मां होने के कारण अस्वीकृत किया जाए?" — यह प्रश्न पितृसत्ता के उस क्रूर सत्य को उजागर करता है जहाँ मातृत्व तक को स्त्री की गरिमा नहीं, बल्कि संदेह और तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता है।

बेटी के जन्म के बाद लेखिका जिस प्रकार से स्वयं को सामाजिक अस्वीकार्यता की छाया में पाती हैं, वह मातृत्व की अनुभूति को भी अपराधबोध में बदल देता है। "कोई मुझे मां की गरिमा नहीं दे रहा" — यह कथन मातृत्व की उस गरिमा के खंडन को इंगित करता है, जो समाज केवल पुत्र-जन्म से जोड़ कर देखता है। वह अपनी नवजात बच्ची से "मौन बातें" करती हैं — यह संवाद उस असहायता और भावनात्मक पीड़ा की चरम अवस्था है जहाँ बोलना संभव नहीं, केवल मौन में जीना शेष रह जाता है। तुझे पैदा करने पर जो आतंक बढ़ रहा है..." — यह वाक्य केवल एक माँ का दर्द नहीं, बल्कि भारतीय समाज की उस सामूहिक विफलता का आरोप है, जहाँ बेटी होना या उसे जन्म देना अब भी सामाजिक दबाव और हिंसा का विषय है। यह अंश स्त्री-विमर्श के उस कटु यथार्थ को प्रकट करता है जहाँ स्त्रीत्व, मातृत्व और मानवीय गरिमा — तीनों को बार-बार कसौटियों पर कसा जाता है। मैत्रेयी पुष्पा इस पीड़ा को आत्मकथा के माध्यम से सामाजिक दस्तावेज़ में बदल देती हैं।

मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा 'गुड़िया भीतर गुड़िया' केवल एक आत्म–वृत्त नहीं, बल्कि समाज के स्त्री–विरोधी दृष्टिकोण की तीव्र आलोचना है। पृष्ठ 9 का यह आत्मकथांश — "'मिसेज शर्मा' एक छलाँग में मॉडर्न बन गईं।" — सतही तौर पर एक साधारण वाक्य लगता है, किंतु इसके भीतर व्याप्त सामाजिक व्यंग्य और स्त्री की छवि के प्रति पुरुषवादी

दृष्टिकोण की परतें बहुत गहराई से उजागर होती हैं। 'मॉडर्न बनना' यहाँ केवल फैशन या पहनावे का नहीं, बल्कि स्त्री के आत्मनिर्णय, स्वायत्तता या बदलते व्यवहार का पर्याय बन जाता है — और इसी बदलाव को समाज संदेह, उपहास या अविश्वास की दृष्टि से देखता है। इस वाक्य के माध्यम से लेखिका उन सामाजिक मानकों को बेनकाब करती हैं, जो स्त्री के परिवर्तन को सहज रूप से स्वीकार नहीं करते, बल्कि उसे व्यंग्य या आशंका का विषय बना देते हैं।

वस्तुतः मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथाएँ 'कस्तूरी कुंडल बसै' और 'गुड़िया भीतर गुड़िया' हिन्दी साहित्य की स्त्री आत्मकथा परंपरा में एक अनूठा और सशक्त हस्तक्षेप हैं। ये आत्मकथाएँ केवल उनके जीवन की निजी घटनाओं का वृत्त नहीं, बल्कि भारतीय स्त्री के संघर्षों, संबंधों, अस्मिताओं और आकांक्षाओं की सामूहिक गाथा बनकर सामने आती हैं। इन आत्मकथाओं में मैत्रेयी न तो खुद को महिमामंडित करती हैं, न ही पुरुष समाज को एकतरफा खलनायक के रूप में प्रस्तुत करती हैं, बल्कि वे उस जटिल यथार्थ की शिनाख़्त करती हैं जिसमें एक स्त्री अपनी देह, मन, आत्मा और सामाजिक भूमिका के बीच टूटती-बिखरती, फिर सँभलती है।

मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा में प्रेम, मातृत्व, देह और स्त्रीत्व की पड़ताल गहरे आत्मानुभव और आलोचनात्मक दृष्टि के साथ की गई है। 'गुड़िया भीतर गुड़िया' के आत्मकथांशों में जिस आत्मीयता, भावनात्मक द्वंद्व और मौन पीड़ा को लेखिका ने स्वर दिया है, वह हिन्दी साहित्य में विरल है। "मैं सिर्फ रसोईदारिन नहीं थी...", "कोई मुझे मां की गरिमा नहीं दे रहा...", "मैं नहीं जाहिर करती भावना को, मगर मिटा भी नहीं सकती..." — जैसे कथन स्त्री के उस आत्मबोध का उद्घाटन करते हैं, जहाँ वह सामाजिक छवि और आत्मिक सत्य के बीच लगातार संघर्ष करती है।

स्त्री आत्मकथा के परिप्रेक्ष्य में मैत्रेयी की रचनात्मक दृष्टि की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे अपने अनुभवों को केवल वैयक्तिक स्तर पर सीमित नहीं रखतीं, बल्कि उन्हें

सामाजिक और सांस्कृतिक संरचनाओं से जोड़ती हैं। उनका लेखन इस बात की पुष्टि करता है कि स्त्री की पहचान केवल परिवार, विवाह, मातृत्व या प्रेम के माध्यम से नहीं, बल्कि उसकी चेतना, संवेदना और निर्णयशीलता के स्तर पर भी निर्मित होती है।

उनकी आत्मकथा में विवाह संस्था की आलोचना है, लेकिन उसमें कहीं कोई घृणा नहीं; प्रेम की स्वीकृति है, पर उसमें अंधभक्ति नहीं; मातृत्व की गरिमा है, पर उसमें केवल त्याग नहीं, अधिकार की भी माँग है। यही संतुलन उनकी आत्मकथा को न तो केवल भावुक दस्तावेज बनाता है और न ही केवल वैचारिक विमर्श। यह आत्मकथा अनुभव और विचार के समुचित समन्वय से एक ऐसी स्त्री की रचना है जो टूटकर भी बोलना नहीं छोड़ती, जो संबंधों में घुटकर भी खुद को पहचानने की कोशिश करती रहती है। इस प्रकार, मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा स्त्री आत्मकथा साहित्य में एक वैचारिक, भावनात्मक और भाषाई प्रयोग है, जो स्त्री की निजी यातनाओं को सामाजिक संदर्भ में देखने की दृष्टि प्रदान करता है। यह आत्मकथा न केवल उनके जीवन का दस्तावेज है, बल्कि हर उस स्त्री की आंतरिक यात्रा का प्रतिबिंब है, जो अपनी पहचान की खोज में सामाजिक रूढ़ियों से संघर्ष करती रही है और कर रही है।

4.1-I-iv. लगता नहीं है दिल मेरा (2019)— कृष्णा अग्निहोत्री

कृष्णा अग्निहोत्री हिंदी साहित्य की उन चुनिंदा लेखिकाओं में गिनी जाती हैं जिन्होंने स्त्री जीवन के अनुभवों को बेबाकी, आत्म-संघर्ष और वैचारिक स्पष्टता के साथ प्रस्तुत किया। उनका लेखन केवल रचनात्मक अभिव्यक्ति नहीं, बल्कि पितृसत्तात्मक समाज की मूल्य-व्यवस्था के विरुद्ध एक चेतन प्रतिरोध भी है। मध्यवर्गीय स्त्री के जीवन की विडंबनाओं, मानसिक तनावों और सामाजिक दबावों को उन्होंने जिस सच्चाई के साथ उकेरा है, वह उन्हें हिंदी की यथार्थवादी स्त्री लेखिकाओं की परंपरा में विशिष्ट स्थान प्रदान करता है।

कृष्णा अग्निहोत्री का जन्म सन् 1934 में हुआ। वे मूलतः शिक्षिका थीं और उन्होंने अपने जीवन में अनेक सामाजिक-सांस्कृतिक बदलावों का साक्षात्कार किया। उनके लेखन में आत्मानुभव की तीव्रता के साथ-साथ एक सजग सामाजिक दृष्टि भी विद्यमान रहती है। वे समाज, स्त्री, परिवार और प्रेम के जटिल अंतर्संबंधों को समझने और व्यक्त करने की विशेष क्षमता रखती थीं।

उनकी चर्चित आत्मकथा 'लगता नहीं है दिल मेरा' एक प्रामाणिक दस्तावेज़ के रूप में सामने आती है, जिसमें उन्होंने अपने जीवन के संघर्ष, विवाह, तलाक, पुनर्विवाह, प्रेम-प्रसंग, मातृत्व और समाज द्वारा लगाए गए आरोपों को अत्यंत निर्भीकता से प्रस्तुत किया है। इस आत्मकथा में लेखिका ने नारी-मन की सूक्ष्मतम संवेदनाओं को स्पर्श करते हुए, स्त्री को समाज के बनावटी बंधनों से मुक्त होने की चेतना दी है। उनकी अन्य महत्वपूर्ण कृतियों में 'और औरत मरती रही', 'तिनका-तिनके पास', 'मैं घर में रहती हूं', 'सिर्फ़ औरत नहीं', 'बंद मुट्ठी', 'स्त्री: जीवन और मृत्यु के बीच', 'लवकुश', 'पिंजरे की उड़ान', 'स्वयं को खोना नहीं है', और 'अब भी होती है बरसात' जैसी कृतियाँ शामिल हैं। इन सभी रचनाओं में उन्होंने स्त्री के विभिन्न आयामों को – उसकी संवेदना, आकांक्षा, टूटन, अस्मिता और प्रतिरोध – को गहराई से चित्रित किया है।

कृष्णा अग्निहोत्री का लेखन न तो केवल स्त्रियों के लिए है, न ही पुरुषों के विरोध में, बल्कि वह मानवीय गरिमा, आत्मसम्मान और स्वतंत्रता के पक्ष में एक सशक्त वैचारिक हस्तक्षेप है। उन्होंने आत्मकथा को केवल जीवनवृत्तांत नहीं, बल्कि सामाजिक आलोचना और अस्मिता संघर्ष का मंच बनाया। हिंदी साहित्य में उनका योगदान नारी विमर्श को एक नई दिशा देने वाला है।

हिंदी आत्मकथात्मक लेखन में स्त्री-स्वर की उपस्थिति एक महत्वपूर्ण मोड़ है, जिसने स्त्री अनुभवों को केंद्र में लाकर सामाजिक, मानसिक और भावनात्मक यथार्थों की पड़ताल को नई दृष्टि दी। इस परिप्रेक्ष्य में कृष्णा अग्निहोत्री की आत्मकथा 'लगता नहीं है दिल मेरा'

विशेष महत्व रखती है। यह रचना न केवल लेखिका के जीवन के उतार-चढ़ावों का दस्तावेज़ है, बल्कि स्त्री की आत्म-चेतना, संबंधों की जटिलता, विवाह संस्था की समीक्षा, प्रेम की स्वीकृति और मातृत्व की अनुभूतियों का गंभीर विश्लेषण भी प्रस्तुत करती है।

कृष्णा अग्निहोत्री हिन्दी साहित्य में एक सशक्त स्त्री स्वर के रूप में पहचानी जाती हैं। वे उन लेखिकाओं में हैं जिन्होंने निजी अनुभवों को लेखकीय साहस के साथ समाज के समक्ष प्रस्तुत किया। 'लगता नहीं है दिल मेरा' एक ऐसी आत्मकथा है जो आत्मस्वीकृति और सामाजिक मूल्य-चिंतन के बीच पुल बनाती है। इस कृति में लेखिका ने जीवन के विविध आयामों—विवाह, तलाक, पुनर्विवाह, प्रेम-संबंध, मातृत्व, पारिवारिक उत्तरदायित्व —को आत्मीयता और निर्भीकता से रेखांकित किया है।

वे लिखती हैं "मनुष्यता के प्रति सजग रहनेवाली मुझे अंदर तक इस समाज व शहर ने कुचला है। मैं तब भी इस शहर 'की माटी के प्रति, समाज के प्रति विनम्र कृतज्ञ हूं कि उन्होंने ही तो मेरे साहित्यिक पौधे को पनपाया है। रोज की टकराहट से मैं आंतरिक शक्ति एकत्रित 'करके लिखती आई हूं, लिख रही हूं, लेकिन इस सत्य से भी मैं इंकार नहीं कर सकती कि इस सौदाई दुनिया में जीकर मैंने उपेक्षाएं ही सहीं, अपनों से आघात झेले और अब उनकी बार-बार की पुनरावृत्ति मुझे तोड़ने लगी है। अंदर ही अंदर जैसे कुछ खंडित हो रहा है-प्रतिदिन मन उचाट हो रहा है। और कड़वा सत्य तो यही है कि यहां लगता नहीं है दिल मेरा।" पृष्ठ 350 कृष्णा अग्निहोत्री की आत्मकथा 'लगता नहीं है दिल मेरा' का यह अंश उनके भीतरी संसार, सामाजिक अनुभवों और लेखकीय संवेदना का सघन चित्र प्रस्तुत करता है। लेखिका समाज की विडंबनाओं को उजागर करते हुए स्वीकार करती हैं कि जहाँ एक ओर वही समाज और शहर उनके रचनात्मक विकास का माध्यम बने, वहीं दूसरी ओर उसी समाज ने उन्हें बार-बार कुचला और उपेक्षित किया। यह द्वैध भावभूमि स्त्री आत्मकथाओं की विशिष्ट पहचान है, जहाँ स्त्री अपने शोषक परिवेश के प्रति विरोध और कृतज्ञता, दोनों एक साथ व्यक्त करती है।

"रोज की टकराहट" से लेखिका जिस "आंतरिक शक्ति" को संचित करती हैं, वह उनके लेखन का मूल स्रोत है। परंतु "अपनों से आघात" और "खंडित होता हुआ अंतर्मन" उस मानसिक संघर्ष की ओर संकेत करता है, जो स्त्री को भीतर से तोड़ता है। अंतिम पंक्ति "यहाँ लगता नहीं है दिल मेरा" लेखिका की सामाजिक अस्वीकृति, भावनात्मक शून्यता और आत्मिक अकेलेपन का प्रतीक है। यह आत्मकथांश न केवल उनके व्यक्तिगत अनुभव की अभिव्यक्ति है, बल्कि समकालीन स्त्री-जीवन की पीड़ाओं, प्रतिरोधों और अस्मिता संघर्ष का एक ज्वलंत साहित्यिक दस्तावेज भी है।

स्त्री आत्मकथाएँ केवल निजी अनुभव नहीं, बल्कि पितृसत्तात्मक दृष्टिकोण के विरुद्ध सशक्त प्रतिरोध भी हैं, जहाँ लेखिका अपनी अस्मिता की रक्षा करते हुए साहित्यिक क्षेत्र में अपनी स्वतंत्र पहचान स्थापित करती है, ‘‘अपनी जीवनयात्रा को सफल बनानेवाली अस्मिता की लड़ाई में जूझती, पसीना बहाती इस स्त्री को उसकी साहित्यिक प्रगति धारा में बहते देख कुछ मनुष्यों केलिए ऐसा था जो अकेले रहकर तड़प-तड़पकर रक्त लिखनेवालीमहिला की हस्ती को छूकर कहना-मानना चाहते हैं कि देखा हमने कैसा पचाया, बुद्ध बनाया, नाटक रचा, हाथ मिलाया और भाग आए।’’ पृष्ठ 351-352 यह कथन एक सशक्त स्त्री-लेखिका की अस्मिता, संघर्ष और उसके विरुद्ध समाज की प्रवृत्तियों का बेधक विश्लेषण करता है।

यहाँ कृष्णा अग्निहोत्री स्वयं को एक संघर्षशील स्त्री के रूप में चित्रित करती हैं, जिसने पसीना बहाकर, तड़प-तड़पकर, अपने रक्त से लेखन की भूमि को सींचा है। यह प्रतीकात्मक भाषा लेखन की पीड़ा, संवेदना और आत्मोत्सर्ग को रेखांकित करती है। उनकी साहित्यिक उपलब्धियों को कुछ पुरुष समाज यह सहन नहीं कर पाते, इसलिए वे उनके संघर्ष को आत्मसात करने की बजाय उसे हड़पने, नियंत्रित करने और उस पर दावा जताने की प्रवृत्ति अपनाते हैं। ‘‘हाथ मिलाया और भाग आए’’ जैसी पंक्ति पुरुष-प्रधान मानसिकता की उस प्रवृत्ति को उजागर करती है, जिसमें स्त्री की प्रतिभा को ‘गाइड’ या ‘प्रेरणा’ के रूप में

दिखाकर पुरुष उसकी सफलता का भागीदार बनना चाहता है, जबकि स्त्री की आत्मसंघर्षपूर्ण यात्रा को वह नज़रअंदाज़ करता है।

कृष्णा अग्निहोत्री; स्त्री देह की सामाजिक राजनीति, पुरुष सत्ता के दोहरे आचरण और रिश्तों की विसंगतियों का तीखा और चेतनशील विश्लेषण प्रस्तुत करती हैं, जो स्त्री आत्मकथा को सामाजिक आलोचना का महत्वपूर्ण माध्यम बना देता है "विधवाओं की जवानी व रूप, जो शायद अभिशाप बन गया था, घर पर आने वाले जवान दामाद, बहनोई, अन्य पुरुष रिश्तेदार जो भी आते, उनके लिए वे खुली सड़क पर पड़ा रुचिकर पकवान थीं। दोष खानेवालों का था, पकवानों का इसमें क्या दोष? उनका रुचिकर होना तो गलत नहीं था। यह सब उस समय तो मैं समझ ही नहीं सकती थीं, इसलिए केवल सुनी बातों के आधार पर मैं किसे दोष दे सकती हूँ। हाँ जब उनका सौंदर्य स्मरण आता है तो निश्चित ही आकर्षण और भोग का प्राकृतिक संबंध समझ आने लगता है। दोष यदि था तो उन विवाहित पुरुषों का था... जो उन पर रिश्तों को अविश्वसनीय बना टूट पड़े।" पृष्ठ 16

यह अंश भारतीय समाज की स्त्री-विरोधी मानसिकता, विशेषकर विधवा स्त्रियों के प्रति दृष्टिकोण, का अत्यंत बेबाक और मार्मिक उद्घाटन करता है। यहाँ लेखिका ने स्त्री सौंदर्य और पुरुष दृष्टि के बीच सत्ता-संबंध को उजागर किया है, जहाँ विधवा स्त्रियाँ—जो समाज की दृष्टि में 'अपूर्ण' हैं—उन्हीं पुरुषों के लिए आकर्षण और भोग की वस्तु बन जाती हैं, जो उनसे रिश्तेदारी के नाम पर जुड़े होते हैं। "खुली सड़क पर पड़ा रुचिकर पकवान" जैसी उपमा समाज के क्रूर, भोगवादी दृष्टिकोण की ओर इशारा करती है, जहाँ स्त्री को एक उपभोग्य वस्तु मान लिया जाता है। लेखिका इस पूरे अनुभव को बाल्यकालीन स्मृति के रूप में दर्ज करते हुए यह स्वीकार करती हैं कि उस समय वे न तो स्थिति की जटिलता समझ सकती थीं, न ही न्यायपूर्वक किसी को दोष दे सकती थीं। परंतु जब वे सौंदर्य और भोग के सामाजिक तंतु को समझने लगती हैं, तब स्पष्ट करती हैं कि दोष सौंदर्य का नहीं, बल्कि उन पुरुषों का है जिन्होंने रिश्तों की सीमाओं को तोड़कर स्त्री के शरीर को भोग की वस्तु बना डाला।

“औरत की अभावग्रस्त जिंदगी ने ही उनमें यह सोच भर दी थी कि औरत बेकार प्राणी है। उसके जीने का कोई उद्देश्य नहीं है। केवल घर व किसी तरह भी पति के साथ निभाना ही उसका वास्तविक महत्त्व है।” पृष्ठ 26 लेखिका यह स्पष्ट करती हैं कि स्त्री के भीतर जो हीनताबोध और आत्महीनता का भाव है, वह उसके व्यक्तिगत दोष का नहीं, बल्कि उस सामाजिक व्यवस्था का परिणाम है जिसने उसे निरंतर अभाव, उपेक्षा और निरर्थकता का अनुभव कराया है। "औरत बेकार प्राणी है" — यह सोच स्वयं स्त्री में पनपी हुई है, जो पितृसत्तात्मक संरचना की सबसे गहरी और खतरनाक पैठ को दर्शाती है। लेखिका यह इंगित करती हैं कि स्त्री स्वयं अपने जीवन के उद्देश्य को केवल पति-परायणता और घर-गृहस्थी में सीमित मानने लगती है। यही सामाजिक गुलामी उसे अपने अस्तित्व की सार्थकता से वंचित करती है।

“झूठी-मक्कार बनी हुई स्त्री आज मैं ही छत से कूद जाता हूँ। और वे कूदने का नाटक करने लगे। जब मैं उनका पैर पकड़ती, वे मुझे उसी लात से। मारते, इस पर भी उन्हें चैन वहीं मिलता तो उन्होंने पुलिस के डंडे से मुझे मारना प्रारंभ किया। मैं भागती हुई नीचे से गुजर सेठ के बंगले में छुप गई। भाभी ने मुझे देखा तो अंदर कर लिया। अग्निहोत्रीजी भरपूर चिल्लाए, ‘इसे बाहर करिए। वे वेश्या है, करप्ट है, यार-दोस्तों से इश्क लड़ाती है।” पृष्ठ 90 कृष्णा अग्निहोत्री ने जिस आत्मानुभूत यथार्थ को शब्द दिया है, वह केवल उनके निजी जीवन का अनुभव न होकर सामूहिक स्त्री-पीड़ा का सामाजिक संस्करण है, जिसमें पुरुषसत्ता अपनी वर्चस्ववादी मानसिकता के माध्यम से स्त्री की अस्मिता को कुचलने का प्रयास करती है।

अग्निहोत्री जी द्वारा आत्महत्या की धमकी देना और फिर मारपीट करना, एक भावनात्मक और शारीरिक हिंसा के चक्र को दर्शाता है, जो स्त्री को दोषी ठहराकर मानसिक रूप से तोड़ने की पद्धति है। लेखिका द्वारा पैर पकड़ने पर लात मारना केवल क्रूरता नहीं, बल्कि स्त्री की याचक अवस्था का अपमानभी है। इस मारपीट के बाद उनका सेठ के बंगले में छिपना यह दर्शाता है कि समाज में स्त्री के लिए निजता, सुरक्षा और सम्मान का कोई

स्थायी स्थान नहीं बचता। सबसे गहरी और पीड़ादायक बात अग्निहोत्री जी द्वारा सार्वजनिक रूप से चरित्र हनन है—"वह वेश्या है, करप्ट है"—जो पुरुष द्वारा अपनी हिंसा को वैध ठहराने की पुरानी परंपरा का हिस्सा है। यह अंश स्पष्ट करता है कि स्त्री जब भी विरोध करती है, या अपनी अस्मिता बचाने की कोशिश करती है, उसे चरित्रहीन घोषित कर समाज से बहिष्कृत करने की कोशिश की जाती है।

"मुझे दुश्मन मानकर मेरे प्रति परिवारवाले घृणा का व्यवहार करते, उपहास उड़ाते, नुक्ता-चीनी होती व खंडवा के कई परिवारों में मुझे एक चरित्रहीन, भ्रष्ट स्त्री के रूप में प्रचारित किया जाता।" पृष्ठ 227 लेखिका बताती हैं कि जब उन्होंने पारिवारिक या वैवाहिक जीवन में अन्याय के विरुद्ध आवाज़ उठाई, तो स्वयं के परिवार ने ही उन्हें "दुश्मन" मानकर उनके विरुद्ध घृणा और उपहास का वातावरण रच दिया। नारी की असहमति को समाज अक्सर उसके चरित्र से जोड़ता है। खंडवा जैसे छोटे नगरों में उन्हें "चरित्रहीन" और "भ्रष्ट" प्रचारित करना यह दर्शाता है कि स्त्री की सामाजिक छवि पर सबसे पहला हमला उसके नैतिक आचरण को लेकर होता है। यह मानसिकता पितृसत्ता की गहरी जड़ें दिखाती है, जहाँ स्त्री को आज़ादी नहीं, बदनामी मिलती है।

कृष्णा अग्निहोत्री की आत्मकथा 'लगता नहीं है दिल मेरा' हिंदी स्त्री आत्मकथात्मक लेखन की उन विशिष्ट कृतियों में सम्मिलित है, जो केवल एक निजी जीवन की कथा नहीं, बल्कि एक संपूर्ण स्त्री समाज की पीड़ा, प्रतिरोध और आत्मसंघर्ष का गहरा पाठ प्रस्तुत करती है। यह आत्मकथा स्त्री की उस ज़मीनी सच्चाई को उजागर करती है, जो पारिवारिक, सामाजिक और मानसिक स्तर पर उसे निरंतर अपमानित, कुचला और सीमित करती रही है।

इस आत्मकथा में लेखिका का स्वर आत्म-करुणा का नहीं, अपितु आत्म-साक्षात्कार और सच को बेधड़क कहने की ताकत का है। वे विवाह संस्था की कृत्रिमता, पारिवारिक हिंसा, पुरुषों की दमनकारी सोच, रिश्तों की विडंबनाएँ, स्त्री के प्रति समाज की चरित्र-निर्माण प्रक्रिया, विधवाओं के सौंदर्य को लेकर समाज की दृष्टि और स्त्री की स्वतंत्रता को

कुचलने वाले मूल्यों पर बेबाकी से चोट करती हैं। वह लिखती हैं कि किस प्रकार पति द्वारा आत्महत्या की धमकी, शारीरिक प्रताड़ना और सार्वजनिक अपमान का सामना करते हुए उन्हें रिश्तों की सच्चाई और समाज की क्रूरता का बोध हुआ। कृष्णा अग्निहोत्री की भाषा में जो मार्मिकता है, वह केवल भावनात्मक नहीं, बल्कि चेतनात्मक स्तर पर स्त्री अस्मिता को आकार देती है। वे समाज को यह स्वीकारने पर विवश करती हैं कि स्त्री की लेखकीय सफलता उसकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता और मानसिक दृढ़ता का परिणाम होती है, न कि किसी पुरुष की कृपा या समर्थन का।

इस आत्मकथा का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि इसमें लेखिका ने अपने जीवन के सबसे संवेदनशील और विवादास्पद पक्षों को भी बिना लाग-लपेट के प्रस्तुत किया है—चाहे वह प्रेम-संबंध हों, तलाक हो या पुनर्विवाह। उनके अनुभव और विश्लेषण यह दिखाते हैं कि स्त्री आत्मकथाएँ न केवल भावनात्मक उद्घाटन हैं, बल्कि वे सामाजिक संरचनाओं का विश्लेषण और उनके विरुद्ध सांस्कृतिक प्रतिरोध का साधन भी हैं। इस प्रकार 'लगता नहीं है दिल मेरा' एक ऐसी स्त्री की आत्मकथा है, जो अपने अनुभवों से न केवल अपने युग का दस्तावेज़ बनाती है, बल्कि आने वाली पीढ़ियों को भी यह सिखाती है कि अस्मिता की लड़ाई अंततः कलम और चेतना से ही लड़ी जाती है। यह आत्मकथा स्त्री विमर्श को धार देने वाली एक वैचारिक एवं साहित्यिक उपलब्धि है।

4.1-I-v. और और औरत (2021)— कृष्णा अग्निहोत्री

'और और औरत' कृष्णा अग्निहोत्री की आत्मकथा है, जो एक स्त्री के मानसिक, सामाजिक और पारिवारिक संघर्षों का मार्मिक दस्तावेज़ है। यह आत्मकथा एक ऐसी स्त्री की आत्मस्वीकृति है, जिसे परिवार ने उपेक्षा, तिरस्कार और संदेह की दृष्टि से देखा। लेखिका ने स्त्री अस्मिता, पारिवारिक जकड़नों और सामाजिक दुविधाओं को बेहद ईमानदारी से उजागर

किया है। यह रचना स्त्री के भीतर टूटन और बाहर की यंत्रणाओं के बीच उसकी पहचान की तलाश को सामने लाती है। 'और और औरत' नारी चेतना की व्यथा और साहस का एक संवेदनशील और सशक्त चित्रण है।

वे लिखती हैं "मैंने तो बस वही सब लिखना चाहा जो मेरी व्यथा है, जो भीतर से मुझे शनैः-शनैः समाप्त करना चाहती रही। किसी फैशन या प्रसिद्धि के लिए नहीं लिखी।" पृष्ठ 11 यह कथन कृष्णा अग्निहोत्री की आत्मकथा *'और और औरत'* की आत्मस्वीकृति का मूल स्वर है, जहाँ लेखिका स्पष्ट करती हैं कि उनका लेखन किसी बाह्य प्रलोभन, साहित्यिक फैशन या ख्याति की लालसा से प्रेरित नहीं है, बल्कि यह एक आंतरिक पीड़ा की अभिव्यक्ति है। यह पीड़ा वर्षों तक उनके भीतर धीरे-धीरे उन्हें क्षीण करती रही, और लेखन उस वेदना से मुक्ति का माध्यम बना। इस स्वीकारोक्ति से आत्मकथा की विश्वसनीयता और संवेदनात्मक प्रामाणिकता प्रमाणित होती है। यह स्त्री आत्मकथा को आत्मप्रकाशन नहीं, बल्कि आत्म-उद्धार और आत्म-प्रत्यय का माध्यम बनाती है।

एक संवेदनशील स्त्री के भीतर पलते अव्यक्त दर्द, असंतोष और संबंधहीनता की त्रासदी को उजागर करता कृष्णा कहती हैं "प्यार का गहरा विश्वास ही नारी को पुरुष के प्रति समर्पित करता है। न मुझे किसी की प्रतीला थी न पत्यर में फूल खिलने की कोई उम्मीद थी। न अंधेरे दालान में पूप के आने की संभावना इसलिए में अनेकों रिश्तों के खालीपन में डूबी निराशा की चट्टानों में भी यदा-कदा प्रताप से बात करके खुश हो जाती।" पृष्ठ 78 यह अंश स्त्री की भावनात्मक असुरक्षा, संबंधों के रिक्तपन और आत्मिक अकेलेपन की गहन अभिव्यक्ति है। लेखिका स्पष्ट करती हैं कि स्त्री का समर्पण प्रेम की पूर्ण आस्था पर टिका होता है, न कि सामाजिक मजबूरी या समझौते पर। लेकिन जब यह आस्था टूट जाती है—न संबंधों में प्रतीक्षा शेष रहती है, न प्रेम में कोई फूल खिलता है—तो स्त्री भीतर ही भीतर खालीपन से भर जाती है। ऐसे में वह कभी-कभी किसी सहानुभूतिपूर्ण संवाद, जैसे प्रताप से बात कर लेने में भी संक्षिप्त सुख तलाशती है।

आगे वे कहती हैं "कई लोगों ने मेरे रिश्तेदारों को मेरी आत्मकथा के उदाहरण देकर भड़काया। उन्होंने मुझे चरित्रहीन तक कहा, तब मुझे आभास हुआ कि सत्य कितना कठोर है और कठोरता को ग्रहण करना कितनी दारुण व्यथा है। जो गुनाह मैंने किए ही नहीं उन्हीं के लिए मुझ पर पत्थर क्यों फेंके जाएं। मुझे उनके लिए घायल करना कितना अन्याय है।" कृष्णा अग्निहोत्री का यह बयान उस सच्चाई का बयान है, जो स्त्री लेखन की सबसे बड़ी चुनौती बनकर उभरती है— सत्य को कहने की कीमत। जब लेखिका ने अपने जीवन की वास्तविकता, भीतर की टीस और सामाजिक-वैवाहिक विसंगतियों को निर्भीकता से व्यक्त किया, तो समाज ने उसे चरित्रहीनता के कटघरे में खड़ा कर दिया। यह अनुभव बताता है कि स्त्री जब अपने सच को सार्वजनिक करती है, तो वह केवल आलोचना नहीं, बल्कि मानसिक और सामाजिक प्रताड़ना का भी शिकार बनती है। लेखिका के भीतर यह पीड़ा गहरी होती जाती है कि जिन अपराधों को उसने कभी किया ही नहीं, उनकी सज़ा भी उसे ही दी जा रही है। यह अंश आत्मकथात्मक लेखन में स्त्री की ईमानदारी, साहस और उसके विरुद्ध समाज की कठोरता को उजागर करता है। सत्य केवल लेखकीय कर्म नहीं, बल्कि स्त्री के लिए आत्मबलिदान और सामाजिक बहिष्कार की जोखिम भी बन जाता है।

कृष्णा अग्निहोत्री मानती हैं कि जब कोई स्त्री अपने अनुभवों के आधार पर संबंधों की सच्चाई सामने लाती है, तो समाज को चाहिए कि वह उसके कसैलेपन को भी समझे, न कि मात्र उसे नैतिकता के पैमाने पर तौलकर खारिज कर दे।"जब स्त्री-पुरुष के सच्चे संबंधों का खुलासा एवं उनके दोष हमारे किसी अनुभव के निचोड़ हैं तो उसके कसैलेपन को तो समझें।" पृष्ठ159 यह कथन आत्मकथात्मक लेखन की प्रामाणिकता और उस साहस का संकेत देता है, जिससे एक स्त्री अपने जीवन के कटु यथार्थों को शब्द देती है। यहाँ लेखिका यह आग्रह करती हैं कि जो अनुभव वे साझा कर रही हैं, वे न तो कल्पना हैं, न अपवाद, बल्कि रिश्तों की बुनियादी टूटन और असमानताओं का प्रतिबिंब हैं। स्त्री-पुरुष संबंधों में छिपे दोषों की स्वीकारोक्ति यदि कसैली लगती है, तो उसका उद्देश्य आरोप नहीं, बल्कि

सच को उजागर करना और बदलाव की दिशा में संवाद शुरू करना है। यह कथन स्त्री लेखन को संवेदनात्मक ईमानदारी और सामाजिक साहस का दस्तावेज़ बनाता है।

वस्तुतः 'और और औरत' कृष्णा अग्निहोत्री द्वारा रचित एक प्रखर, संवेदनशील और विद्रोही आत्मकथा है, जो हिंदी स्त्री आत्मकथाओं की परंपरा में एक सशक्त दस्तावेज़ के रूप में उभरती है। यह रचना एक ऐसी स्त्री की व्यथा-कथा है, जो अपने पारिवारिक, सामाजिक और मानसिक संघर्षों से गुजरते हुए आत्मबोध और अस्मिता की खोज करती है। यह आत्मकथा लेखिका के जीवन की उन्हीं अनुभूत सच्चाइयों को व्यक्त करती है जिन्हें समाज स्वीकारने से कतराता है।

4.1-I-vi. कितने शहरों में कितनी बार (2010)— ममता कालिया

ममता कालिया हिंदी साहित्य की एक प्रमुख और सशक्त स्त्री स्वर वाली लेखिका हैं, जिनका जन्म 2 नवंबर 1940 को उत्तर प्रदेश के वृंदावन (मथुरा) में हुआ। उनके पिता सरकारी अधिकारी थे, जिनकी पोस्टिंग विभिन्न नगरों में होने के कारण ममता कालिया ने मथुरा, गाजियाबाद, दिल्ली, इंदौर, पुणे, इलाहाबाद और कोलकाता जैसे अनेक नगरों में जीवन व्यतीत किया। उन्होंने दिल्ली विश्वविद्यालय से अंग्रेज़ी साहित्य में एम.ए. किया और बाद में वहीं अध्यापन कार्य से अपने करियर की शुरुआत की। बाद में वे इलाहाबाद के एक कॉलेज में प्राचार्या भी रहीं। उनके पति प्रसिद्ध लेखक रवींद्र कालिया थे, जिनके साथ उनका वैचारिक और रचनात्मक संबंध भी गहरा था।

ममता कालिया का साहित्यिक अवदान बहुआयामी है। वे नई कहानी आंदोलन से जुड़ी रहीं और उन्होंने विशेष रूप से शहरी मध्यवर्गीय स्त्री की मानसिकता, संघर्ष, अस्मिता और यथार्थ को केंद्र में रखकर लेखन किया। उनकी भाषा सहज, व्यंग्यात्मक और संवादधर्मी है, जिसमें सामाजिक विडंबनाओं और पितृसत्तात्मक संरचनाओं के प्रति तीखा दृष्टिकोण

दिखाई देता है। उनके प्रमुख उपन्यासों में बेघर, दौड़, कल्चर और नैना वाली सड़क प्रमुख हैं, वहीं कहानी संग्रहों में बेखबर, खुला आसमान, छुटकारा उल्लेखनीय हैं। उन्होंने निबंध और व्यंग्य में भी उत्कृष्ट लेखन किया, जिनमें 'तेजी से बदलता दृश्य' और 'बिना दरवाजे की कोठरी' विशेष रूप से सराहे गए।

उनकी आत्मकथा कितने शहरों में कितनी बार हिंदी स्त्री आत्मकथा लेखन की एक महत्वपूर्ण कृति मानी जाती है, जिसमें उन्होंने अपने जीवन के बहुरूपी अनुभवों, नगरों के भूगोल, पारिवारिक संबंधों, साहित्यिक हलचलों और स्त्री अस्मिता के संघर्षों को अत्यंत संवेदनशीलता और बौद्धिकता के साथ प्रस्तुत किया है। उन्हें उनके साहित्यिक योगदान के लिए व्यास सम्मान, महादेवी वर्मा सम्मान सहित अनेक प्रतिष्ठित पुरस्कारों से सम्मानित किया गया है। ममता कालिया का लेखन समकालीन हिंदी साहित्य में स्त्री दृष्टिकोण, यथार्थबोध और सामाजिक आलोचना के लिए एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

ममता कालिया की आत्मकथा एक ऐसी जीवंत यात्रा है जिसमें उनके जीवन के विविध पड़ाव—मथुरा, नागपुर, पुणे, इंदौर, दिल्ली, मुंबई, इलाहाबाद और कोलकाता—के सामाजिक, सांस्कृतिक, भौगोलिक और साहित्यिक परिवेश का गहन चित्रण मिलता है। इन शहरों में लेखिका की उपस्थिति मात्र भौगोलिक नहीं, बल्कि उनकी संवेदनात्मक चेतना का हिस्सा बन जाती है।

विशेष रूप से इलाहाबाद उनकी स्मृतियों में सबसे अधिक रचा-बसा है, जहाँ उन्होंने एक लंबा समय व्यतीत किया और साहित्यिक-सांस्कृतिक गतिविधियों में सक्रिय भूमिका निभाई। मथुरा में बचपन की लोरी-सी स्मृतियाँ, संयुक्त परिवार का विघटन, दादी-दादा का स्नेह, और सामाजिक बदलावों की छाप गहराई से उभरी है। दिल्ली और इलाहाबाद विश्वविद्यालय के शिक्षकीय जीवन ने उनके दृष्टिकोण में अनुशासन, तटस्थता और व्यापकता की भावना भर दी। उन्होंने 1947 और 1984 के सांप्रदायिक दंगों की त्रासदी और आस्था के खंडन को भी आत्मकथा में संवेदनात्मक रूप से उकेरा है। आत्मकथा में अनेक वरिष्ठ

साहित्यकारों की स्मृतियाँ और समकालीन साहित्यिक परिवेश के बिम्ब भी स्पष्ट हैं। लेखिका पर पिता के विद्वान व्यक्तित्व का प्रभाव उनके वैचारिक विकास में मुख्य भूमिका निभाता है।

वे अपनी आत्मकथा में लिखती हैं "मथुरा में रहनेवाले जानते हैं कि उस मिट्टी के कण-कण में साहित्य बसा है, कहीं कथा-कहानी तो कहीं कविता। मथुरा के लोग बातों के रसिया हैं। कृष्ण काव्य में सुरदास के अलावा मथुरा के जन-जन ने अपनी कल्पना का जो रस उसमें उड़ेला है उसी पर यह काव्य टिका हुआ है। मथुरा-वृन्दावन के मन्दिरों में सगुण भक्ति को अतिरेक बालकृष्ण और छैलबिहारी की ऐसी लीलाएँ रचता है कि वे एक नहीं अनेक शताब्दियों के महानायक कहे जा सकते हैं। मथुरा जनपद में धर्म, भक्ति, इतिहास, किंवदन्ती और कल्पना इस तरह घुल-मिल गई हैं कि जब आप किसी से बात करते हैं तो यह नहीं पता चल सकता कि उसमें यथार्थ, श्रुति और स्मृति की मिकदार क्या है।" पृष्ठ13 ममता कालिया की आत्मकथा में मथुरा केवल जन्मस्थान नहीं, बल्कि सांस्कृतिक संवेदना और साहित्यिक विरासत का जीवंत प्रतीक बनकर उभरता है। लेखिका मथुरा की भूमि को कथा-कविता की ऊर्जा से सिंचित मानती हैं, जहाँ जन-जन की कल्पना कृष्ण काव्य में समाहित है। वृन्दावन के मंदिरों की लीलाएँ, भक्ति और इतिहास की गूँज के साथ, धार्मिक प्रतीक और लोकश्रुति को गहन साहित्यिकता में परिवर्तित कर देती हैं। मथुरा के संवादों में यथार्थ, किंवदंती और स्मृति की इस घुलनशीलता को लेखिका संस्कृति की मौलिक विशिष्टता के रूप में रेखांकित करती हैं।

ममता कालिया की आत्मकथा में पारिवारिक संरचना, लैंगिक विभाजन और सामाजिक व्यवहार की झलक गहरे स्तर पर दिखाई देती है, "मामा घर हो या दादा घर मैंने तब देखा कि कि स्त्रियों और पुरुषों में मेलजोल या मुहत जैसा भाव दिख पाना कठिन था। ज्यादातर पुरुष अपना वक्त पुरुषों में बिताते और महिलाएँ, बच्चों और महिलाओं में।" पृष्ठ 16 "दूसरी तरफ घर में पापा थे जो हम दोनों बहनों से कहते रहते, "जो भी काम करो उसमें शिखर पर रहो। माउंट एवरेस्ट पर सिर्फ एक के लिए जगह होती है, इससे ज़्यादा नहीं। यह

भूल जाओ कि तुम लड़की हो।" पृष्ठ 32 "पापा कहते 'बैठे होंगे अज्ञेय कितनी नावों में कितनी बार हम तो रहे हैं कितने शहरों में कितनी बार।' बचपन में पापा के तबादलों ने हमें भारत दर्शन करवाया, बड़े होने पर जिन्दगी की ठोकरों ने घाट-घाट का पानी पिल्लवा दिया।"पृष्ठ 17

मामा-घर और दादा-घर के अनुभवों से वह उस पितृसत्तात्मक व्यवस्था को पहचानती हैं जहाँ स्त्री-पुरुष का सहज संवाद न के बराबर था। स्त्रियाँ आपस में सीमित थीं, पुरुषों की दुनिया अलग थी। इसके विपरीत उनके पिता एक प्रगतिशील सोच के प्रतिनिधि के रूप में सामने आते हैं, जो बेटियों से अपेक्षा करते हैं कि वे जीवन के हर क्षेत्र में सर्वोच्च स्थान प्राप्त करें, स्त्री होने की सीमाओं को नकारते हुए। यह दोहरी सामाजिक संरचना लेखिका के व्यक्तित्व और दृष्टिकोण के विकास में निर्णायक भूमिका निभाती है। साथ ही, पिता के तबादलों से जुड़ा "कितने शहरों में कितनी बार" का कथन, लेखिका के बंजारे जीवन और बहुव्यापी अनुभवों का प्रतीक बन जाता है, जो उनकी आत्मकथा को एक व्यापक सामाजिक-सांस्कृतिक दस्तावेज में बदल देता है।

ममता कालिया की आत्मकथा विमर्श को दार्शनिक एवं वैचारिक धरातल पर विस्तृत करती है। आज़ाद भारत के सातवें दशक में जहाँ नवीनता और प्रयोगधर्मिता को सामाजिक स्वीकृति मिल रही थी, वहीं अस्तित्ववाद की विचारधारा लेखकों और बुद्धिजीवियों के लिए प्रेरणास्रोत बनी। "आजाद भारत के सातवें दशक में नवीनता और प्रयोगधर्मिता का पर्याप्त सम्मान था। इसमें यूरोप से आया अस्तित्ववाद भी शामिल हो गया था। किकेगार्द के सिद्धान्तों ने पहली बार प्रबुद्ध वर्ग का ध्यान इस ओर खींचा कि सभ्यता के विकास में महज औद्योगिक और वैज्ञानिक प्रगति ही पर्याप्त नहीं है, मनुष्य के मन, मस्तिष्क, आस्था और अस्तित्व को महत्त्व देना भी उतना ही आवश्यक है। लेखकों, कलाकारों, बुद्धिजीवियों को यह विचारधारा आकर्षक लगी क्योंकि इसमें व्यक्ति मन और व्यक्ति स्वातन्त्र्य की स्पेस थी। किन्तु बहुत जल्द इसका भी एक प्रतिपक्ष खड़ा हो गया। प्रतिपक्ष में

सन्देह, अनास्था, आशंका और निराशा पर जोर दिया जाने लगा। किकेंगार्द के बरक्स सार्ज और कामू खड़े हो गए। सिमोन द बोबुआ ने अस्तित्ववाद का नारीवादी पक्ष सामने रख, समूचे बौद्धिक जगत को झकझोर दिया।" पृष्ठ 91

ममता कालिया की आत्मकथा का यह अंश उनके वैचारिक और बौद्धिक विकास की जटिलता को उद्घाटित करता है। उस दौर में यूरोपीय अस्तित्ववाद ने साहित्यिक और बौद्धिक हलकों में गहरी पैठ बनाई। किकेगार्द के सिद्धांतों ने लेखकों और कलाकारों को यह सोचने को प्रेरित किया कि सभ्यता की प्रगति केवल भौतिक और वैज्ञानिक उन्नति से नहीं, बल्कि व्यक्ति की चेतना, आस्था और अस्तित्व के सम्मान से भी संभव है।

लेखिका इस वैचारिक प्रवाह को केवल अवलोकन नहीं, बल्कि आत्मसात करती हैं। सात्र, कामू और सिमोन द बोउवार जैसे विचारकों के संदर्भ आत्मकथा में यह संकेत देते हैं कि लेखिका स्त्री के मानसिक, सामाजिक और बौद्धिक अस्तित्व को समकालीन विमर्श से जोड़ती हैं। सिमोन द बोउवार द्वारा अस्तित्ववाद के नारीवादी पक्ष को प्रस्तुत किया जाना ममता कालिया की दृष्टि में स्त्री के स्वतंत्र विचार और आत्मनिर्णय की संभावना को सशक्त बनाता है। यह अंश यह दर्शाता है कि ममता की आत्मकथा केवल स्मृतियों का संकलन नहीं, बल्कि समय, समाज और दर्शन के गहन अंतर्संबंधों का विश्लेषण भी है।

ममता कालिया की आत्मकथा 'कितने शहरों में कितनी बार' स्त्री-आत्मकथात्मक लेखन की परंपरा में एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है, जो न केवल एक स्त्री की वैयक्तिक यात्रा का ब्योरा प्रस्तुत करती है, बल्कि उस सामाजिक, सांस्कृतिक और बौद्धिक यथार्थ को भी रेखांकित करती है, जिसमें वह यात्रा संभव हुई। यह आत्मकथा नारी जीवन की अनुभूतियों, विडंबनाओं, आकांक्षाओं और संघर्षों का आत्मस्वीकृतिपरक आख्यान है। लेखिका का अनुभव-संसार अनेक नगरों में फैला है—मथुरा, गाजियाबाद, इंदौर, पुणे, दिल्ली, इलाहाबाद, मुंबई, कोलकाता जैसे शहरों की सामाजिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक

विविधताओं को उन्होंने अपनी चेतना में समेटा है और उसे अपनी भाषा में यथार्थ संवेदना के साथ व्यक्त किया है।

इन नगरों की स्मृतियाँ केवल स्थान विशेष की नहीं हैं, बल्कि वे लेखिका के आत्मविकास, दृष्टिपरिवर्तन और विचार-परिपक्वता की मंज़िलें हैं। मथुरा की साहित्यिक और भक्ति-संस्कृति, इंदौर का ऐतिहासिक गौरव, गाजियाबाद के विभाजनकालीन अनुभव, दिल्ली और इलाहाबाद की बौद्धिक और साहित्यिक हलचलों ने लेखिका के व्यक्तित्व को गहराई दी है। इलाहाबाद में उनका दीर्घकालिक प्रवास, वहाँ का साहित्यिक वातावरण, विश्वविद्यालय की भूमिका, और समकालीन रचनाकारों के साथ जुड़ाव ने उन्हें उस विमर्श का हिस्सा बनाया जो हिंदी साहित्य में स्त्री-वाणी को उभरने का अवसर देता है।

आत्मकथा में लेखिका ने पारिवारिक संरचना और पितृसत्ता के प्रभाव को भी संवेदनशीलता से उकेरा है। पितृसत्तात्मक समाज में स्त्रियों की भूमिका सीमित थी—मामा और दादा घर में स्त्रियाँ पुरुषों से अलग-थलग, बच्चों में सिमटी थीं। किंतु उनके पिता ने एक प्रगतिशील सोच के साथ बेटियों को जीवन में शिखर तक पहुँचने के लिए प्रेरित किया। यह दोहरी सामाजिक संरचना लेखिका की दृष्टि को प्रश्नाकुल बनाती है और यही दृष्टि स्त्री-विमर्श की बुनियाद रखती है।

ममता कालिया की आत्मकथा में एक और विशिष्ट पक्ष दार्शनिक एवं बौद्धिक विचारधाराओं से उनका जुड़ाव है। वे अस्तित्ववाद, विशेषतः सिमोन द बोउवार के नारीवादी दृष्टिकोण को आत्मसात कर, स्त्री चेतना को केवल सामाजिक या भावनात्मक धरातल पर नहीं, बल्कि वैचारिक एवं आत्मचिंतन के स्तर पर भी अभिव्यक्त करती हैं। यह आत्मकथा एक ऐसा लेखन है जो स्त्री को केवल एक जीवनदृष्टि में सीमित नहीं करता, बल्कि उसे बौद्धिक विमर्शों से जोड़ते हुए इतिहास, संस्कृति और साहित्य के समग्र वितान में स्थापित करता है।

अंततः, 'कितने शहरों में कितनी बार' स्त्री आत्मकथात्मक लेखन की परंपरा में एक सशक्त और विचारोत्तेजक रचना है, जिसमें लेखिका का अनुभव बहुआयामी होते हुए भी एक केंद्रित चेतना की ओर उन्मुख रहता है—एक ऐसी चेतना, जो स्त्री को इतिहास और भूगोल से जोड़ती है, किंतु उसे विचार और आत्मस्वतंत्रता के शिखर तक भी ले जाती है। इस दृष्टि से यह आत्मकथा स्त्री-विमर्श, आत्मबोध और साहित्यिक बौद्धिकता का उत्कृष्ट उदाहरण है।

हिंदी की समकालीन स्त्री आत्मकथाएँ जैसे—प्रभा खेतान की 'अन्या से अनन्या', मन्नू भंडारी की 'एक कहानी यह भी', मत्रैयी पुष्पा की 'कस्तूरी कुंडल बसे', कृष्णा अग्निहोत्री की 'लगता नहीं दिल मेरा' और ममता कालिया की 'कितने शहरों में कितनी बार'—स्त्री जीवन की विविध परतों को उघाड़ते हुए आत्मबोध, अस्मिता और सामाजिक विडंबनाओं के गहरे चित्र प्रस्तुत करती हैं। ये आत्मकथाएँ न केवल लेखिकाओं के व्यक्तिगत अनुभवों का दस्तावेज़ हैं, बल्कि वे अपने समय, समाज और संस्कृति के स्त्री संबंधी मूल्यों, संघर्षों और अंतर्विरोधों को भी उजागर करती हैं।

प्रभा खेतान की आत्मकथा 'अन्या से अनन्या' स्त्री के भावनात्मक एवं यौनिक आत्मबोध की स्पष्ट एवं साहसी अभिव्यक्ति है। प्रभा सामाजिक वर्जनाओं को तोड़ते हुए पुरुष-वर्चस्ववादी संबंधों में स्त्री की स्वतंत्र चेतना की तलाश करती हैं। वहीं मन्नू भंडारी'एक कहानी यह भी' में लेखिका और पत्नी की दोहरी भूमिकाओं के तनाव को बहुत सूक्ष्मता से व्यक्त करती हैं। राजेन्द्र यादव से उनके संबंध लेखन की स्वतंत्रता और स्त्री की निजता के द्वंद्व को उद्घाटित करते हैं। मत्रैयी पुष्पा की 'कस्तूरी कुंडल बसे' ग्रामीण पृष्ठभूमि, स्त्री-श्रम, जाति और लैंगिक भेदभाव के बीच आत्मसम्मान की संघर्षगाथा है। वह स्त्री की ज़मीन से जुड़ी चेतना को स्वर देती हैं जो लोक और भाषा दोनों को पुनर्परिभाषित करती है। कृष्णा अग्निहोत्री की आत्मकथा 'लगता नहीं दिल मेरा' स्त्री की उपेक्षा, पारिवारिक विषमताओं और आत्मघातीय संवेदना का चित्र है जिसमें वह सामाजिक अस्वीकार्यता के बीच अपने अस्तित्व को खोजती हैं।

ममता कालिया की 'कितने शहरों में कितनी बार' आत्मकथा एक शिक्षित, संस्कृतिवान स्त्री की बौद्धिक यात्रा है, जो अनेक नगरों, सामाजिक संदर्भों और वैचारिक विमर्शों से गुजरती हुई स्त्री के बहुआयामी व्यक्तित्व को उभारती है। अस्तित्ववाद, नारीवाद, साहित्यिक चेतना और व्यक्तिगत अनुभवों का संयोजन इसे एक गंभीर स्त्री-दस्तावेज़ बनाता है।

इन सभी आत्मकथाओं में 'स्व' की तलाश, स्त्री अस्मिता का पुनराविष्कार और समाज के साथ मुठभेड़ एक साझा धागे की तरह उपस्थित हैं। ये आत्मकथाएँ स्त्री की चुप्पी को भाषिक स्वर देती हैं, जहां वह सिर्फ पाठक से संवाद नहीं करती, बल्कि अपने समय, परिवार, पुरुष और व्यवस्था से भी एक विचारशील टकराव करती है। इनका महत्व महज साहित्यिक नहीं, सामाजिक परिवर्तनकारी दृष्टि से भी है।

आधार ग्रंथ—

1. अन्या से अनन्या, प्रभा खेतान; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण : 2016
2. एक कहानी है यह भी, मन्नू भंडारी ; राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली संस्करण : 2016
3. कस्तूरी कुंडल बसै, मैत्रेयी पुष्पा; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण : 2017
4. गुड़िया भीतर गुड़िया, मैत्रेयी पुष्पा; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण : 2014
5. लगता नहीं दिल मेरा, कृष्णा अग्निहोत्री; सामायिक प्रकाशन, दिल्ली, सं : 2019
6. और… और… औरत, कृष्णा अग्निहोत्री; सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली : 202
7. कितने शहरों में कितनी बार, ममता कालिया; राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं. : 2010

4.1

हिंदी की प्रमुख स्त्री-आत्मकथाओं का विश्लेषण— II

‘आत्मकथा’ केवल किसी व्यक्ति की जीवन यात्रा का विवरण नहीं होती, बल्कि वह समय, समाज और सत्ता की संरचनाओं से गहराई से जुड़ा आत्म-साक्षात्कार होती है। जब यह लेखन एक स्त्री के अनुभवों से जन्म लेता है, तो वह केवल निजी अनुभव का दस्तावेज न रहकर सामाजिक और सांस्कृतिक प्रतिरोध का माध्यम बन जाता है। स्त्री आत्मकथाएँ साहित्य में एक नयी प्रवृत्ति के रूप में उभर कर आई हैं, जिन्होंने वर्षों से थोपे गए मौन को तोड़ने का साहस किया है।

पितृसत्तात्मक समाज ने स्त्री की अनुभूतियों को धर्म, रीति और परंपराओं की दीवारों में बंद करने का प्रयास किया, किंतु आत्मकथा लेखन उस बंदीकरण के विरुद्ध एक सशक्त स्वर बनकर उभरा है। यह लेखन स्त्री की उस ‘अन्यथा’ आवाज़ को स्वर देता है, जिसे समाज ने सदियों से दबाए रखा। आत्मकथात्मक स्वर में पीड़ा, प्रतिरोध, विद्रोह, आत्मबोध और प्रश्न सब समाहित होते हैं।

हिंदी की प्रमुख आत्मकथाओं का विश्लेषण इस प्रकार है—

4.1.II.i आरोह-अवरोह (2022)— सुषम बेदी

सुषम बेदी का जन्म 1 जुलाई 1945 को पंजाब के फिरोजपुर में हुआ। उन्होंने दिल्ली विश्वविद्यालय से हिन्दी में एम.ए. और एम.फिल करने के पश्चात् 1979 में पीएच.डी. की उपाधि प्राप्त की। प्रारम्भ में दिल्ली और चंडीगढ़ विश्वविद्यालयों में अध्यापन कार्य किया, फिर न्यूयॉर्क स्थित कोलंबिया विश्वविद्यालय में हिन्दी भाषा और साहित्य की प्रोफेसर बनीं। 20 मार्च 2020 को उनका निधन न्यूयॉर्क में हुआ।

सुषम बेदी एक बहुआयामी साहित्यकार थीं—वे उपन्यासकार, कथाकार, नाटककार, कवयित्री, आलोचक और अनुवादक थीं। उन्होंने प्रवासी अनुभवों, सांस्कृतिक संकटों, स्त्री अस्मिता और आत्मसंघर्ष जैसे विषयों पर गहन लेखन किया। उनके उपन्यास हवन, लौटना, कतरा–दर–कतरा, इतर और गाथा अमरबेल की विशेष रूप से चर्चित हैं। उनकी कहानियाँ जैसे चिड़िया और चील, तीसरी आँख आदि प्रवासी भारतीयों के मानसिक और सामाजिक द्वंद्व को उजागर करती हैं।

उनकी भाषा में अनुभव की गहराई, सांस्कृतिक चेतना और मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की सूक्ष्मता मिलती है। वे हिंदी को विश्व मंच पर प्रतिष्ठित करने वाली प्रमुख प्रवासी लेखिका थीं। उन्हें केंद्रीय हिंदी संस्थान का 'मोटूरी सत्यनारायण सम्मान', उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान का 'प्रवासी साहित्य भूषण' तथा साहित्य अकादमी द्वारा विशेष सम्मान प्राप्त हुआ। सुषम बेदी का साहित्य भारतीयता और वैश्विकता के बीच की जटिलताओं का कलात्मक दस्तावेज है, जो प्रवासी संवेदना को सजीवता प्रदान करता है। उनका योगदान हिंदी साहित्य की समकालीन प्रवृत्तियों को वैश्विक परिप्रेक्ष्य में विश्लेषित करने में महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

'आरोह-अवरोह' सुषम बेदी की आत्मकथात्मक रचना है, जो उनके जीवन के अनुभवों, मानसिक द्वंद्वों और प्रवासी चेतना को अभिव्यक्ति देती है। यह आत्मकथा केवल व्यक्तिगत जीवन-यात्रा का दस्तावेज नहीं है, बल्कि इसमें एक प्रवासी भारतीय स्त्री की अस्मिता, सामाजिक जड़ताओं और सांस्कृतिक विस्थापन के अनुभवों का समावेश है। सुषम बेदी अमेरिका में रहते हुए भी भारतीयता की जड़ों से जुड़ी रहीं, परंतु पश्चिमी जीवनशैली और भारतीय परंपराओं के बीच द्वंद्व उनकी अनुभूतियों में स्पष्ट रूप से व्यक्त होता है।

'आरोह-अवरोह' में उन्होंने स्त्री के मानसिक उतार-चढ़ाव, पारिवारिक दायित्वों, वैवाहिक संबंधों की जटिलताओं तथा एक स्वायत्त अस्तित्व की खोज को आत्मस्वीकृति के साथ प्रस्तुत किया है। भाषा में सहजता, आत्मीयता और वैचारिक गहराई इस आत्मकथा को

विशिष्ट बनाते हैं। सुषम बेदी की दृष्टि न केवल नारी जीवन को समझने की है, बल्कि वे सांस्कृतिक पहचान, पराएपन की पीड़ा और आत्मनिर्माण की प्रक्रिया को भी गहराई से उद्घाटित करती हैं। यह आत्मकथा भारतीय स्त्री विमर्श को वैश्विक संदर्भ देती है और स्त्री को एक सीमाओं से परे सोचनेवाली आत्मा के रूप में प्रस्तुत करती है।

वे लिखती हैं कि "आज तक मैं दिल्ली को ही अपना घर कहती हूँ जबकि जब मैं दिल्ली रहने के लिए आई तो सोलहवां बरस लगा हुआ था। दिल्ली के बाद शायद मां की प्रार्थनाओं के परिणामस्वरूप पिता का तबादला कहीं और नहीं हुआ। वहीं उन्होंने घर बनवाया और उसी नये बने घर से मेरी शादी हुई और शादी के बाद फिर से मुझे दिल्ली से बहुत दूर असम-बंगाल चले जाना था। मेरे मन में दिल्ली छोड़ने की सख्त उदासी और नए की खोज का अदम्य उत्साह एकसाथ थे।" पृष्ठ18 उपरोक्त आत्मकथांश सुषम बेदी की प्रवासी चेतना, स्त्री अनुभव और सांस्कृतिक जुड़ाव के द्वंद्व को उजागर करता है। लेखिका दिल्ली को मात्र एक भौगोलिक स्थान नहीं, बल्कि स्मृति, संबंध और आत्मीयता से जुड़ा एक मानसिक 'घर' मानती हैं। किशोरावस्था में दिल्ली आना, वहीं स्थायित्व पाना, घर बसना और उसी परिवेश से विवाह के लिए विदा होना—ये सभी जीवन की महत्वपूर्ण घटनाएँ हैं जो स्त्री के आत्मबोध को गहराई प्रदान करती हैं।

दिल्ली यहाँ स्त्री की जड़ों का प्रतीक है, जबकि विवाहोपरांत असम-बंगाल की यात्रा उस उखड़न को दर्शाती है जो स्त्रियों को विवाह के बाद अपनी जानी-पहचानी सांस्कृतिक भूमि से दूर ले जाती है। "दिल्ली छोड़ने की सख्त उदासी" जहाँ जड़ों से कटने की पीड़ा है, वहीं "नए की खोज का अदम्य उत्साह" एक आत्मनिर्भर, जिज्ञासु और परिवर्तनशील स्त्री की पहचान को रेखांकित करता है। यह कथन स्त्री जीवन के उन सूक्ष्म भावनात्मक पक्षों को उद्घाटित करता है, जहाँ स्मृति, स्थान और संबंध मिलकर उसकी अस्मिता का निर्माण करते हैं। यह अनुभव एक सामान्य सामाजिक परिस्थिति के भीतर छिपे स्त्री-मन के गहरे विमर्श को उद्घाटित करता है।

सुषम बेदी की आत्मकथा न केवल प्रवासी चेतना का दस्तावेज है, बल्कि जीवन की विसंगतियों में अर्थ और पहचान की तलाश में लगी स्त्री की वैचारिक यात्रा का भी सशक्त प्रतीक है। वे लिखती हैं कि "हम सिर्फ घर नहीं खोज रहे हैं। हम अपने जीवन की असंगति और विसंगतियों से जूझ रहे हैं और खोज रहे हैं एक समंजन। तभी हम लगातार विरोधी संस्कृतियों, जीवन शैलियों के बीच थपेड़े खाते चरित्रों के जीवन की उलझने सुलझाते रहते हैं, उन विसंगतियों के बीच संगति खोजने की कोशिश करते हैं।" पृष्ठ 22 उपरोक्त कथन सुषम बेदी की सांस्कृतिक चेतना, प्रवासी अनुभव और स्त्री मन की गहराइयों को अत्यंत प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त करता है। यहाँ "घर" एक भौतिक संरचना नहीं, बल्कि मानसिक, सांस्कृतिक और भावनात्मक स्थायित्व का प्रतीक बनकर उभरता है। लेखिका स्पष्ट करती हैं कि वे केवल निवास-स्थान की तलाश में नहीं हैं, बल्कि अपने जीवन की असंगतियों और विरोधाभासों के भीतर एक गहरे संतुलन की खोज में हैं।

प्रवासी जीवन की जटिलताएँ जहाँ एक ओर मातृ-संस्कृति की स्मृतियाँ हैं, वहीं दूसरी ओर नई सांस्कृतिक परिस्थितियों की चुनौती—एक सतत द्वंद्व रचती हैं। इसी द्वंद्व के बीच "विरोधी संस्कृतियों और जीवन शैलियों" के बीच जूझता हुआ व्यक्ति अपने भीतर 'समंजन' की आकांक्षा करता है। यह कथन विशेष रूप से स्त्री जीवन की उस जटिलता को भी रेखांकित करता है, जहाँ वह पारिवारिक, सामाजिक और सांस्कृतिक अपेक्षाओं के बीच अपनी अस्मिता की संगति खोजने का प्रयास करती है।

स्त्री के संदर्भ में यह कथन और भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है, क्योंकि स्त्री ही सांस्कृतिक मान्यताओं की वाहक और संरक्षक मानी जाती है। "देखा जाए। राजनैतिक स्वाधीनता मिलने के बावजूद सांस्कृतिक औपनिवेशिकता से तो आज तक मुक्त हुए भी नहीं। बीच में ही डोलते रहते हैं या तो पक्के हिन्दुत्वा या फिर एकदम से नास्तिक, या तो एकदम हर धर्म-परम्परा का तिरस्कार, उसा निराकरण या एकदम अपनापा और हर तरह की प्राचीन परम्परा का महिमागः जैसे कोई सन्तुलित या मध्यमार्ग तो है ही नहीं।" 26 यह कथन सुषम बेदी के

गहन वैचारिक विवेक, सांस्कृतिक विश्लेषण और आत्मनिष्ठ दृष्टिकोण को उजागर करता है। साथ ही, यह विचार— भारतीय समाज की उस द्वैतपूर्ण मानसिकता की आलोचना करता है जो राजनीतिक स्वतंत्रता के बाद भी सांस्कृतिक औपनिवेशिकता से ग्रस्त है। लेखिका ने यहाँ भारतीय चेतना की उस अस्थिरता को रेखांकित किया है, जहाँ व्यक्ति या तो कट्टर धार्मिकता की ओर झुक जाता है या फिर पूरी तरह धर्म और परंपरा का तिरस्कार करने लगता है।

यह विचार आत्मकथा में केवल व्यक्तिगत चिंता न होकर, व्यापक सांस्कृतिक विमर्श को जन्म देता है। सुषम बेदी जिस "मध्यमार्ग" की अनुपस्थिति की ओर संकेत करती हैं, वह एक विवेकशील, विवेचनात्मक दृष्टिकोण की आवश्यकता को इंगित करता है, जो आधुनिकता और परंपरा के बीच संतुलन साध सके। यह असंतुलन प्रवासी जीवन में और अधिक तीव्र हो उठता है, जहाँ मूल संस्कृति और ग्रहण की गई नई संस्कृति के बीच की खाई गहरी होती जाती है।

आगे वे लिखती हैं, "दूसरी ओर यह भी सच है कि यहां से जाकर भारत में जाते ही बाहरी रूप-रंग और भाषा या रिश्तेदारी की वजह से अपनापन एकदम से मिल जाता है। हमारा अमेरिका-इंगलैंड से जुड़ा होना भारत में बसे लोगों का हमारे प्रति कौतुहल भी जगाता है। उनका हमसे जुड़ना एक तरह से एक बड़ी दुनिया से दुनिया के केन्द्र से जुड़ने-जानने की कही या अनकही चाह होती है।" पृष्ठ 25-26 यहाँ सुषम बेदी का चिंतन दोहरे सांस्कृतिक अनुभवों की सूक्ष्म पड़ताल प्रस्तुत करता है, जिसमें प्रवासी जीवन की जटिलताएँ, संबंधों की संरचना और पहचान की राजनीति सम्मिलित हैं। लेखिका यह स्पष्ट करती हैं कि विदेश में रहने के बावजूद जब वे भारत लौटती हैं, तो उनके रूप, भाषा और रिश्तेदारियों के कारण एक सहज "अपनापन" उन्हें घेर लेता है। यह अपनापन केवल भावनात्मक नहीं, बल्कि सांस्कृतिक और सामाजिक मान्यता का भी प्रतीक है। इस अनुभूति के भीतर एक और महत्त्वपूर्ण विमर्श अंतर्निहित है—प्रवासी भारतीयों को लेकर भारतवासियों की कौतूहल मिश्रित जिज्ञासा। अमेरिका या इंग्लैंड से जुड़ा होना भारत में आज भी एक विशेष सामाजिक

पूंजी बन चुका है। यह 'बड़ी दुनिया' से जुड़ने की आकांक्षा, कहीं न कहीं उपनिवेशवाद की उस सांस्कृतिक हीनता की स्मृति को भी पुनर्स्थापित करती है, जिसमें पश्चिम से जुड़ाव आधुनिकता, उन्नति और सम्मान का पर्याय बन जाता है।

सुषम बेदी का लेखन— केवल स्त्री-जीवन तक सीमित न रखकर उसे एक विचारशील, ऐतिहासिक और दार्शनिक विमर्श में बदल देता है, जहाँ सत्ता, इतिहास और मनुष्य के बीच 'सच' की खोज एक जटिल यात्रा बन जाती है। यह स्त्री की दृष्टि से रचा गया राजनीतिक चेतना का वैचारिक आख्यान है, जो आत्मकथा को एक विश्लेषणात्मक दस्तावेज में रूपांतरित करता है। "सच को पकड़ने की कोशिश ही गलत है। अपने आदर्श यानी कि ज्यों-के-त्यों रूप में सत्य जितना भी आकर्षक हो, ज्यों ही अपने यथार्थ या व्यवहार रूप में प्रगट होता है, कुछ और हो जाता है। जैसे रूस का ही मसला ले लिया जाए। कितनी उम्मीदे बन्धाई थीं 1917 की क्रांति ने लगता था कि यह एक जगह है जहां इन्सानी न्याय और समता का राज होगा पर हो सका? कुछ लोगों के हाथ में आके सारा का सारा सच तामाशाही राज में बदल गया यानी कि जिस सामंती शक्ति को खत्म करने के लिए क्रांति का प्रश्न लिया गया था, वही प्रथा एक आधुनिक रूप में तानाशाही और साम्राज्यवाद का नया अवतार लेकर पैदा हुई। इस बीच सच बेचारे का क्या हुआ, बता सकता है कोई! अब अपने भारत में ही देख लें। आजादी हमारा सच थी। उसके लिए कितने ही बलिदान हुए। कितनी लड़ाइयां लड़ी गयीं पर जब हाथ में आ गयी तो जो उसका अर्थ हम मानकर चले थे, वह अर्थ मिला? क्या आम जनता के दुख दूर हुए? खुशहाली और सम्पन्नता आई? बड़ी-बड़ी बातों की डोरों से जिस आजादी को हमने अपनी ओर खींचा, उसने बंटवारे की आग, गरीबी, बेकारी, भुखमरी, भ्रष्टाचार और साम्प्रदायिकता तथा वर्ग भेदभाव का नमक मिला कर ही तो दिया। फिर खरा सच कहां मिला हरों वचनों में झूठ ही झूठ की मिलावट।" पृष्ठ213 यह आत्मकथांश सुषम बेदी की वैचारिक प्रौढ़ता, ऐतिहासिक दृष्टि और सामाजिक-राजनीतिक सच को समझने की तीव्र अंतर्दृष्टि का प्रमाण है। लेखिका 'सत्य' को एक स्थायी, निरपेक्ष

मूल्य मानने की बजाय उसे समय, व्यवस्था और सत्ता की स्थितियों में बदलते हुए देखती हैं। वे मानती हैं कि आदर्शवादी सत्यों का व्यवहारिक धरातल पर उतरते ही विकृति की आशंका उत्पन्न हो जाती है। रूस की क्रांति और भारत की स्वतंत्रता—दोनों ऐतिहासिक प्रसंगों के उदाहरण देकर वे इस बात की पुष्टि करती हैं कि जिन सत्यों के लिए संघर्ष हुआ, जिनका स्वप्न देखा गया, वे सत्ता के हाथों में जाकर राजनीतिक तामाशा बन गए।

इस आत्मकथांश में "सच" को एक बेचारा कहना, उसकी नियति पर करुणा व्यक्त करना नहीं, बल्कि सत्ता और व्यवस्था द्वारा सत्यों के शोषण का राजनीतिक-दार्शनिक व्यंग्य है। लेखिका भारत की स्वतंत्रता को एक आदर्श सत्य मानते हुए यह प्रश्न उठाती हैं कि क्या इस स्वतंत्रता ने वास्तविक रूप से आम जनता के दुखों को दूर किया? उत्तरस्वरूप वे गरीबी, भुखमरी, भ्रष्टाचार और वर्गभेद जैसे यथार्थों की ओर संकेत करती हैं।

आगे वे लिखती हैं “औरत के प्रति मेरा नजरिया शायद बाहर रहने की वजह से कुछ अलग ढंग से विकसित हुआ है। यहां दो बातें गौरतलब हैं। एक तो मुझ पर अमेरिकी नारीवाद का असर और दूसरा कि मैं कई सालों से चूंकि विदेश में हूँ, इसलिए भारत की 21वीं सदी की बदलती हुई नारी को मैंने नहीं उठाया। मेरी नारियां आठवें दशक में बाहर आनेवाली भारतीय नारियों में कैद हो गई हैं। मेरे औरत के जीवन को लेकर उठाए सवाल भारत के लेखकों से कुछ अलग हैं।यूं तो भारत की महिला लेखिकाएँ अब सिर्फ रोमांटिक विषयों पर ही नहीं लिख रहीं। समाज की वास्तविकता के हर पहलू पर उनकी नजर है।” पृष्ठ 231 यह आत्मकथांश सुषम बेदी की स्त्री-दृष्टि, लेखकीय स्वायत्तता और वैश्विक संदर्भ में विकसित नारी विमर्श को सूक्ष्मता से प्रतिबिंबित करता है। वे स्पष्ट करती हैं कि उनका नारी के प्रति दृष्टिकोण केवल भारतीय सामाजिक संदर्भ में नहीं, बल्कि अमेरिका की नारीवादी चेतना और प्रवासी अनुभवों के साझा प्रभाव से निर्मित हुआ है। इससे उनके लेखन की स्त्रियाँ पारंपरिक भारतीय स्त्री की छवि से भिन्न हैं—वे प्रवासी जीवन के संघर्ष, जटिलता और सांस्कृतिक द्वंद्व को जीती हैं।

लेखिका यह भी स्वीकार करती हैं कि भारत में उभरती नई स्त्री—जो 21वीं सदी की सामाजिक-सांस्कृतिक चुनौतियों का सामना कर रही है—उसका प्रत्यक्ष अनुभव उन्हें नहीं है। इस कारण उनकी स्त्रियाँ अधिकतर 1970 और 80 के दशक की प्रवासी भारतीय स्त्रियों के अनुभवों तक सीमित हैं। यह आत्मस्वीकृति लेखिका की ईमानदार आलोचना-बोध का संकेत है।

साथ ही, वे भारतीय महिला लेखिकाओं के लेखन को सराहती हैं कि वे अब केवल रोमांटिक विषयों तक सीमित नहीं, बल्कि सामाजिक यथार्थ के विविध पक्षों को साहित्य में समाहित कर रही हैं। यह कथन सुषम बेदी को वैश्विक और स्थानीय स्त्री-विमर्श के मध्य सेतु के रूप में प्रस्तुत करता है—जहाँ अनुभव की विशिष्टता, सांस्कृतिक दूरी और लेखकीय दृष्टिकोण का अंतर सहजता से प्रकट होता है।

वस्तुतः सुषम बेदी की आत्मकथा 'आरोह-अवरोह' स्त्री-जीवन के उस गहरे अंतःसंसार की पड़ताल है, जिसमें प्रवास, सांस्कृतिक विस्थापन, स्त्री अस्मिता, आत्मसंघर्ष और द्वंद्व का भावपूर्ण समन्वय उपस्थित है। यह आत्मकथा न केवल एक लेखिका की जीवन-यात्रा का व्यक्तिगत वृत्तांत है, बल्कि भारतीय स्त्री के वैश्विक अनुभवों को आवाज़ देती एक वैचारिक कथा है। इस कृति में सुषम बेदी ने जिस प्रकार स्त्री की संवेदना, उसकी मनोस्थिति, सामाजिक स्थितियाँ और प्रवासी अनुभवों को आत्मसाक्ष्य के रूप में प्रस्तुत किया है, वह हिंदी स्त्री आत्मकथाओं को एक नई भौगोलिक और बौद्धिक परिधि प्रदान करता है।

प्रवासी चेतना इस आत्मकथा का केंद्रीय संवेदनात्मक स्रोत है। दिल्ली से अमेरिका तक की यात्रा केवल भौगोलिक नहीं, बल्कि एक सांस्कृतिक, मानसिक और आत्मिक विस्थापन का अनुभव है। दिल्ली को "घर" के रूप में स्मरण करना, फिर विवाहोपरांत असम-बंगाल की ओर प्रस्थान, और अंततः अमेरिका में बसना — यह सब स्त्री जीवन की उन अवस्थाओं को प्रतिध्वनित करता है जो 'घर' की परंपरागत अवधारणा को चुनौती देती हैं।

“दिल्ली छोड़ने की सख्त उदासी और नए की खोज का अदम्य उत्साह” आत्मकथा में स्त्री मन के द्वंद्व को उजागर करता है, जो स्मृति और आकांक्षा, जड़ों और पंखों के बीच झूलता रहता है।

सुषम बेदी की दृष्टि सामाजिक-सांस्कृतिक और राजनीतिक यथार्थ के प्रति अत्यंत सजग है। वे भारतीय स्वतंत्रता को एक ‘सत्य’ मानकर उसकी विफलताओं की आलोचना करती हैं — यह बताते हुए कि जिन आदर्शों की प्राप्ति के लिए संघर्ष हुआ, वे सत्ताओं के हाथों कैसे विकृत हो गए। वे “सच” को सत्ता द्वारा प्रयुक्त और छला गया मूल्य मानती हैं, जो व्यवहार में उतरते ही अपना स्वरूप खो देता है। यह दृष्टिकोण आत्मकथा को विशुद्ध स्त्रीविमर्श से आगे ले जाकर राजनीतिक आत्मचेतना का भी दस्तावेज बनाता है।

सुषम बेदी की नारी दृष्टि विशेष रूप से प्रवासी स्त्रियों की समस्याओं और अनुभवों से निर्मित है। वे स्वीकार करती हैं कि उनकी स्त्रियाँ आठवें दशक की भारतीय प्रवासी स्त्रियाँ हैं, जिन्होंने परंपरा और आधुनिकता के दो ध्रुवों के बीच अस्मिता की जटिल लड़ाई लड़ी। वे अमेरिकी नारीवाद से प्रभावित हैं, परंतु उनकी दृष्टि भारतीय सामाजिक संरचना से पूरी तरह विच्छिन्न नहीं। वे इस बात को रेखांकित करती हैं कि भारतीय महिला लेखिकाएँ अब केवल भावुक प्रेम या पारंपरिक विषयों तक सीमित नहीं, बल्कि समाज के बहुआयामी यथार्थ को लेखन में जगह दे रही हैं।

संक्षेपतः , 'आरोह-अवरोह' एक ऐसी स्त्री की आत्मकथा है, जो सीमाओं को लांघती है — भौगोलिक भी, मानसिक भी और वैचारिक भी। यह आत्मकथा प्रवासी स्त्री के अनुभवों, सांस्कृतिक असमंजस, पहचान की खोज और जीवन के सत्य की जटिलताओं को जिस गहराई और ईमानदारी से प्रस्तुत करती है, वह हिंदी आत्मकथात्मक साहित्य में एक मूल्यवान योगदान है। स्त्री आत्मकथाओं के परिप्रेक्ष्य में सुषम बेदी की यह रचना भारतीयता और वैश्विकता के बीच पुल बनाकर स्त्री विमर्श को एक नई दिशा प्रदान करती है।

हिंदी की स्त्री आत्मकथाएँ केवल व्यक्तिगत अनुभवों का दस्तावेज नहीं होतीं, बल्कि वे उस सामाजिक, सांस्कृतिक और वैचारिक ढांचे की पड़ताल भी करती हैं, जिसमें स्त्री का अस्तित्व आकार पाता है। सुषम बेदी की 'आरोह-अवरोह', चंद्रकिरण सौनरेक्सा की 'पिंजरे की मैना' कुसुम अं'जो कहा नहीं गया', शीला झुनझुनवाला की 'कुछ कही कुछ अनकही' और निर्मला जैन की 'जमाने में हम' — ये सभी आत्मकथाएं अपने-अपने संदर्भों में स्त्री चेतना के विकास, संघर्ष और आत्मबोध की विविध छवियाँ प्रस्तुत करती हैं।

सुषम बेदी की 'आरोह-अवरोह' एक प्रवासी स्त्री की दोहरी पहचान, अस्तित्व-संकट और सांस्कृतिक द्वंद्व की कथा है। इसमें आत्मसंघर्ष की वह यात्रा है जिसमें लेखिका भाषा, भूगोल और मनःस्थिति के स्तर पर लगातार जूझती हैं। यह आत्मकथा केवल स्मृति लेखन नहीं बल्कि अंतर-सांस्कृतिक संवाद की एक सशक्त अभिव्यक्ति है। 'पिंजरे की मैना' में चंद्रकिरण सौनरेक्सा पारंपरिक स्त्री भूमिका की बेड़ियों को चुनौती देती हैं। यह आत्मकथा उस स्त्री की वाणी है जो एक लेखक, शिक्षक और स्त्री के रूप में अपने अधिकारों के लिए लगातार प्रश्न उठाती है। "मैना" की प्रतीकात्मकता स्त्री की सीमित उड़ान को मार्मिक ढंग से चित्रित करती है।

4.1.II.ii. पिंजरे की मैना (2022)— चंद्रकिरण सौनरेक्सा

चंद्रकिरण सौनरेक्सा का जन्म 19 अक्टूबर 1920 को नौशहरा (पेशावर) में हुआ। उन्होंने बचपन से ही साहित्य के प्रति रुचि विकसित की और मात्र 11 वर्ष की उम्र में उनकी पहली कहानी प्रकाशित हुई। विवाह के बाद वे लखनऊ में रहीं और आकाशवाणी में स्क्रिप्ट लेखिका व संपादक के रूप में 23 वर्षों तक कार्यरत रहीं। साथ ही उन्होंने 'पायनियर' समाचार पत्र में भी सह-सम्पादक की भूमिका निभाई। वे हिंदी, उर्दू, गुजराती, बंगला और गुरुमुखी भाषाओं की ज्ञाता थीं।

उनका साहित्य मुख्यतः स्त्री-जीवन की यथार्थवादी पड़ताल करता है। उन्होंने उपन्यास, कहानी, आत्मकथा, रेडियो नाटक और बाल साहित्य के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान दिया। पिंजरे की मैना उनकी आत्मकथा है, जिसमें उन्होंने घरेलू स्त्री की घुटन, पीड़ा और मानसिक द्वंद्व को गहराई से चित्रित किया। उनकी अन्य प्रमुख कृतियाँ हैं – चन्दन चाँदनी, वंचिता, हिरनी, आदमखोर आदि।

उनकी भाषा सरल, प्रवाहमयी और अनुभूतिजन्य है। उन्हें अनेक सम्मानों से नवाजा गया, जिनमें सारस्वत सम्मान, सुभद्राकुमारी चौहान पदक तथा हिंदी अकादमी द्वारा 'बीसवीं सदी की सर्वश्रेष्ठ महिला कथाकार' का सम्मान प्रमुख हैं। 18 मई 2009 को उनका निधन हुआ। चंद्रकिरण सौनरेक्सा का लेखन स्त्री चेतना की प्रखर प्रतिनिधि आवाज है।

चंद्रकिरण सौनरेक्सा हिंदी साहित्य में आत्मकथात्मक लेखन की एक सशक्त और स्वाभिमानी आवाज़ हैं, जिनका जीवन और लेखन भारतीय समाज के सांस्कृतिक, राजनीतिक और स्त्रीवादी विमर्श से गहराई से जुड़ा हुआ है। उनका जन्म एक आर्यसमाजी परिवार में हुआ था, जिसने उनके व्यक्तित्व को एक स्वतंत्र सोच और आत्मविश्लेषण की दृष्टि दी। बाल्यकाल में उन्हें जो मुक्त वातावरण मिला, वह न केवल उनके स्वभाव को स्वतंत्रता की ओर उन्मुख करता है, बल्कि उनके भीतर जिज्ञासा और आत्मविकास की तीव्र अभिलाषा भी जगाता है। औपचारिक शिक्षा का अभाव उनके आत्मविकास में बाधक नहीं बना; उन्होंने बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय, शरतचंद्र, रवीन्द्रनाथ टैगोर और प्रेमचंद जैसे साहित्यिक स्रोतों से बौद्धिक पोषण प्राप्त किया।

माँ की असामयिक मृत्यु और उसके कुछ वर्षों बाद पिता का निधन उनके जीवन में एक ऐसा मोड़ लेकर आता है जहाँ वे अपने पारिवारिक-सामाजिक परिवेश से कट-सी जाती हैं। अब उनका जीवन भाइयों के घर की सीमाओं और परंपराओं से बँध जाता है, जहाँ पहले जैसी मानसिक स्वतंत्रता उन्हें नहीं मिलती। यह वैयक्तिक अनुभव ही उनकी आत्मकथा 'पिंजरे की मैना' के संवेदनशील और आत्ममंथनशील स्वरूप की नींव रखता है।

स्वदेशी आंदोलन के प्रभाव और आर्यसमाजी मूल्यों के चलते उन्होंने अल्पवय में ही खादी पहनना, चरखा चलाना और देशभक्ति से ओतप्रोत गीत लिखना शुरू किया। यह युग उनके भीतर की लेखिका को भी आकार देता है, जो निजी दुखों और सामाजिक यथार्थों को गहरे स्तर पर आत्मसात करती है। आत्मकथा उनके लिए केवल एक जीवन वृत्तांत नहीं, बल्कि आत्मबोध, स्त्री चेतना और समाज-संस्कारों से टकराने की प्रक्रिया है।

'पिंजरे की मैना' इस संघर्षशील और आत्मप्रकाशित स्त्री की कथा है, जो सामाजिक चौखटों में रहते हुए भी आत्म-अभिव्यक्ति की राह बनाती है। चंद्रकिरण सौनरेक्सा की आत्मकथा की पृष्ठभूमि इसी जीवन-संघर्ष, स्वदेशी चेतना, और स्त्री अस्मिता की त्रयी से निर्मित होती है, जहाँ निजी जीवन के घाव सार्वजनिक विमर्श का हिस्सा बनते हैं।

चंद्रकिरण सौनरेक्सा की आत्मकथा 'पिंजरे की मैना' न केवल उनके जीवन के अनुभवों का लेखाजोखा है, बल्कि आत्मकथा के स्वरूप, उद्देश्य और मर्यादा पर लेखिका की एक स्पष्ट और विचारशील दृष्टि भी प्रस्तुत करती है। ऊपर उद्धृत वक्तव्य में वे आत्मकथा लेखन की प्रकृति को लेकर जो विचार रखती हैं, वह उनकी साहित्यिक दृष्टि, लेखकीय ईमानदारी और आत्मानुशासन को दर्शाता है।"आत्मकथा को यदि प्रतिदिन का रोजनामचा बना लिया जाए, तो उसके विस्तार का कोई अन्त न रहेगा और मैंने विस्तार को किसी साहित्यिक कृति की महानता का मानदंड नहीं माना। हमेशा की तरह बिना किसी लाग-लपेट के, सीधी-सच्ची, दिल से निकली बात को दिल तक पहुँचाने की कोशिश की है। बस, इतना सा अन्तर मेरी कृतियों और इस आत्मकथा में है कि वे जगबीती थीं और यह आपबीती है।" 358

वे आत्मकथा को रोजनामचे में परिवर्तित करने के पक्ष में नहीं हैं, क्योंकि उनके अनुसार विस्तार अपने-आप में किसी साहित्यिक कृति की महानता का मापदंड नहीं हो सकता। यह विचार आत्मकथात्मक लेखन के उस प्रचलित ढांचे को चुनौती देता है, जिसमें लंबी, घटनाओं से भरी आत्मकथाएँ ही 'महत्वपूर्ण' मानी जाती हैं। सौनरेक्सा संक्षिप्तता,

सच्चाई और संवेदनशीलता को प्राथमिकता देती हैं। उनका कहना—"दिल से निकली बात को दिल तक पहुँचाने की कोशिश की है"—लेखन के प्रति उनकी आत्मीय और पारदर्शी प्रतिबद्धता का परिचायक है। वे अपने लेखन और आत्मकथा के बीच जो भेद स्थापित करती हैं—"वे जगबीती थीं और यह आपबीती है"—वह केवल विषय का नहीं, आत्मसंलिप्ति और संवेदना की तीव्रता का अंतर है। 'पिंजरे की मैना' उनके भीतर की स्त्री, लेखक और व्यक्ति की वह कथा है, जो बाहर के समाज से टकराकर भी भीतर की सच्चाई को नहीं खोती। यह वक्तव्य आत्मकथा को आत्मप्रदर्शन के बजाय आत्मबोध की प्रक्रिया में रूपांतरित करता है।

अपनी आत्मकथा में वे अपने हिंदी प्रेम के बारे उल्लिखित करती हुई कहती है—"मैं न कोई प्रसिद्ध नेता हूँ, न अभिनेता; मैं न कभी स्वतंत्रता संग्राम में जेल गई, न जुलूस में डंडे खाए, और न मैं किसी देश-प्रसिद्ध प्रतिभा की सन्तान हूँ, जिसने कोई ताजमहल या कोणार्क का मन्दिर बनवाया हो। हाँ, मैं हिन्दी भाषा की एक समर्पिता लेखिका अवश्य हूँ, जो भारत की सबसे अधिक बोली जाने वाली भाषा है। इस भाषा के वृन्दावन में असंख्य लेखक हैं। उन्हीं में से एक गिनती मेरी भी है। यही मेरी पहचान है।" पृष्ठ15 यह उद्धरण स्त्री आत्मकथाओं में 'विशिष्टता' की पारंपरिक अवधारणा को तोड़ता है। लेखिका स्पष्ट करती हैं कि वे न तो कोई राजनेता हैं, न स्वतंत्रता संग्राम सेनानी और न ही किसी विख्यात व्यक्तित्व की संतान, फिर भी उनकी पहचान है—एक समर्पित हिंदी लेखिका के रूप में। यह वक्तव्य स्त्री लेखन के वैकल्पिक स्वर को रेखांकित करता है, जो समाज के हाशिये पर खड़ी स्त्री को भी आत्मकथा लिखने का नैतिक अधिकार देता है।

इस कथन में स्त्री अस्मिता और लेखकीय स्वाभिमान की झलक है। लेखिका 'सामान्य' होते हुए भी हिंदी साहित्य की 'वृन्दावनी परंपरा' का हिस्सा बनने को ही अपना गौरव मानती हैं। उनका आत्मबोध किसी सार्वजनिक आंदोलन से नहीं, बल्कि भाषा और लेखन के माध्यम से विकसित होता है। स्त्री आत्मकथा के संदर्भ में यह स्वीकारोक्ति सिद्ध करती है कि नारी जीवन के अनुभव—चाहे वे ऐतिहासिक घटनाओं से जुड़े न हों—अपने आप

में मूल्यवान हैं। लेखिका की यह विनम्र लेकिन आत्मविश्वासी अभिव्यक्ति आत्मकथा को एक लोकतांत्रिक, संवेदनशील और समावेशी विधा का आयाम प्रदान करती है।

धार्मिक अनुभवों और सामाजिक जटिलताओं की तीखी समझ को सामने लाती हुई वे कहती हैं, "देखो भाई! मेरे माँ-बाप सनातनी थे। सो जन्म के संस्कारवश सनातनी हूँ। पति आर्यसमाजी हैं, सो मुझे आर्यसमाजी तो होना ही पड़ेगा।" समाज को चन्दा देती थीं। पढ़ी-लिखी न होने पर भी 'ओम भुर्भवः स्वः' 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' जैसे कुछ श्लोक उन्हें कंठस्थ थे। हर रविवार को दो-चार आर्यसमाजी महिलाओं के साथ बैठकर हवन करा देतीं। प्रभातफेरी में भी हिस्सा लेतीं। बाबूजी आर्यसमाजी थे, पर वे समाज के जलसों में शायद ही कभी गए हों। उनका कहना था कि आर्यसमाजी भी कम ढोंगी नहीं। सहभोज में पत्तल में रखी पूरी-कचौड़ी, हलवा खा लेंगे, पर उड़द की दाल छोड़ देंगें। अगर कोई शुद्धि करा कर हिन्दू बन भी जाए तो उसे कोई अपनी बेटी नहीं देगा।" 51 यहाँ लेखिका धर्म और पंथ के बीच झूलती एक स्त्री की स्थिति को रेखांकित करती हैं, जिसे जन्म से सनातनी होने का संस्कार मिला, लेकिन विवाह के उपरांत आ र्यसमाज का अनुयायी होना पड़ा। यह द्वंद्व केवल धार्मिक पहचान का नहीं, बल्कि स्त्री की आत्मनिर्णयहीनता और सामाजिक अनुकूलन की विवशता का भी प्रतीक है।

यह एक स्त्री की गूंजती हुई आवाज़ है, जो धर्म और पंथ के बीच झूलती अपनी पहचान को सहज रूप में अभिव्यक्त करती है। न वह धार्मिक स्वतंत्रता का दावा करती है, न विद्रोह का प्रदर्शन—बल्कि वह अपने जीवन की उस सच्चाई को स्वीकार करती है, जहाँ धर्म और पंथ उसके व्यक्तिगत चुनाव नहीं, बल्कि सामाजिक और पारिवारिक स्थितियों से निर्धारित होते हैं। जन्म से सनातनी संस्कार मिले, विवाह के बाद आर्यसमाजी पहचान ओढ़नी पड़ी—यही उसकी धार्मिक स्थिति है।

लेखिका की माँ, भले ही औपचारिक शिक्षा से वंचित थीं, पर धार्मिक कर्मकांडों में उनकी आस्था सक्रिय थी। वे 'ओम् भुर्भुवः स्वः' और 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' जैसे श्लोकों का

उच्चारण करतीं, हवन करातीं, प्रभात फेरियों में भाग लेतीं—यह सब एक धार्मिक स्त्री की भूमिका को दर्शाता है, जो परंपरा और श्रद्धा से संचालित होती है। वहीं दूसरी ओर, लेखिका के पिता की दृष्टि आर्यसमाज की आंतरिक विसंगतियों पर थी। उनका यह कहना —"आर्यसमाजी भी कम ढोंगी नहीं"—धार्मिक पाखंड पर एक स्पष्ट और निर्भीक टिप्पणी है। वे सहभोज की अपवित्रताओं, जातिगत भेदभाव और शुद्धिकरण के खोखलेपन को पहचानते थे।

परिवार की पितृसत्ता के विषय में वे कहती हैं — "क्या इस तरह की गाली खाने के लिए ही मैं इस परिवार को चलाने के लिए खुद को तिल-तिल कर खपा रही हूँ? तीन वर्ष के विवाहित जीवन के बाद कोई विश्वास का आधार नहीं बन पाया अब तक, तो आगे क्या आशा हो सकती है? एक साधारण प्रशंसा-पत्र हमारे बीच इतनी घिनौनी गाली बन कर खड़ा हो सकता है- विश्वास नहीं होता था, पर एक कड़वा सच था, मैंने ऐसे व्यक्ति का साथ चुन लिया था, जो शक के चश्मे से ही सब कुछ देखता है वरना जिस व्यक्ति को मैंने आँख से नहीं देखा (अमृतराय को) केवल सम्पादक के नाते पत्र-व्यवहार किया, उसी का नाम लेकर ऐसी गाली? छिः! कभी कोई सन्तुलित सामान्य व्यक्ति नहीं देता। बस, अब और नहीं बढ़ने दूँगी।" पृष्ठ 191 यह आत्मकथांश लेखिका चंद्रकिरण सौनरेक्सा के वैवाहिक जीवन के उस क्षण का उद्घाटन करता है, जब एक स्त्री अपने अस्तित्व, श्रम और निष्ठा के बावजूद केवल संदेह की दृष्टि से देखी जाती है। यह स्त्री का वह भीतरी संवाद है, जहाँ वह आत्मग्लानि, अपमान और टूटे हुए विश्वास के क्षणों में स्वयं से प्रश्न करती है।

'क्या इस तरह की गाली खाने के लिए ही मैं इस परिवार को चलाने के लिए खुद को तिल-तिल कर खपा रही हूँ?' यह वाक्य अकेले नहीं खड़ा, बल्कि समूचे पितृसत्तात्मक व्यवस्था पर सवाल उठाता है। लेखिका ने जिस संबंध को विश्वास और समानता की आशा में जिया, वह संदेह, हीनता और अपमान में बदल गया। एक सामान्य साहित्यिक पत्राचार पर संदेह और गाली—यह केवल विवाह संबंधों में विश्वास की कमी नहीं, बल्कि स्त्री की

बौद्धिक स्वतंत्रता को भी संकुचित करने वाला सामाजिक दृष्टिकोण है। यहाँ लेखिका कोई क्रांतिकारी नारा नहीं लगाती, बल्कि अपने ही भीतर से निकलती निर्णय की आवाज़ देती है —"बस, अब और नहीं बढ़ने दूँगी।" यह वाक्य उस स्त्री चेतना का प्रतीक है जो आत्मदया से उठकर आत्मसम्मान की ओर अग्रसर होती है। 'पिंजरे की मैना' का यह क्षण न केवल व्यक्तिगत पीड़ा का दस्तावेज है, बल्कि हिंदी स्त्री आत्मकथाओं में स्त्री की भावनात्मक स्वाधीनता और मानसिक साहस का उद्घोष भी है।

उन्होंने जीवन की कठिनाइयों और असफलताओं के बावजूद उसे आधे भरे गिलास की तरह सकारात्मक दृष्टिकोण से देखा। यह दृष्टिकोण उनके आत्मबल, संतुलित सोच और व्यवहारिक जीवन-दर्शन का प्रतीक है। साहित्यकार के रूप में उन्हें भले ही अपेक्षित यश न मिला हो, पर एक माँ के रूप में संतान-संस्कारों और उनके आत्मनिर्माण पर उन्हें गहरा गर्व है। वे स्पष्ट करती हैं कि उनकी संतानें जीवन में जो कुछ भी बनी हैं, वह किसी सिफ़ारिश, शॉर्टकट या अनैतिक साधन से नहीं, बल्कि शिक्षा, परिश्रम और सद्बुद्धि से संभव हुआ है। यही नारी जीवन की पूर्णता और आत्मसंतोष का चरम क्षण है। "मैंने जीवन को आधे भरे गिलास की तरह हमेशा सकारात्मक दृष्टि से देखा है। मेरी साधना-तपस्या चाहे एक साहित्यकार के रूप में मेरी अपनी वजहों से यश के कगार तक न पहुँची हो, पर एक माँ के रूप में फलीभूत हुई है। भगवान की कृपा से मेरी सन्तानें अपने देश की स्थिति के अनुसार सम्पन्न हैं। अपनी शिक्षा, श्रम व सद्बुद्धि के कारण ही वे वहाँ पहुँची हैं ब्लैक मार्केट, शॉर्ट-कट या घटिया सिफ़ारिश के बल पर नहीं। सब कर्तव्यनिष्ठ हैं माता-पिता का वृद्धावस्था में पूरा ध्यान रखते हैं-एक माँ को और क्या चाहिए?" 358

वे इस सफलता को किसी अनुचित साधन का परिणाम नहीं, बल्कि शिक्षा, श्रम और सद्बुद्धि का फल मानती हैं। संतानें न केवल सामाजिक रूप से प्रतिष्ठित हैं, बल्कि अपने माता-पिता की सेवा और देखभाल में भी समर्पित हैं। यह अंश मातृत्व की परिपूर्णता, जीवन

के संतुलित मूल्यांकन और पारिवारिक आत्मसंतोष की भावना को व्यक्त करता है। लेखिका के लिए यही सबसे बड़ा पुरस्कार है—कर्तव्यनिष्ठ संतानें और आत्मिक तृप्ति।

चंद्रकिरण सौनरेक्सा की आत्मकथा 'पिंजरे की मैना' का यह आत्मस्वीकृति-पूर्ण अंश लेखिका के जीवन-दर्शन, आत्मबोध और लेखकीय ईमानदारी का गहरा परिचायक है। वे स्वयं को जन्मजात आस्तिक मानती हैं और स्वीकार करती हैं कि नास्तिकता को जीना केवल वैचारिक असहमति नहीं, बल्कि साहस और गहन ईमानदारी की मांग करता है—जो उनके भीतर नहीं है। यह विनम्र स्वीकारोक्ति उनके आत्मविश्लेषण की पारदर्शिता को दर्शाती है।

"मैं जन्म से आस्तिक हूँ, आज भी कोई परिवर्तन नहीं आया है। नास्तिक होने और उस विश्वास के साथ जीने के लिए बहुत बड़े साहस व ईमानदारी की जरूरत होती है। वह मुझमें इस जन्म में तो नहीं है। अगला जन्म हो तो उसमें भी होगी, यह विश्वास नहीं है। जीवन में आशा-निराशा, खोना-पाना, सफलता असफलता सबके साथ संलग्न है; मैं कोई अपवाद नहीं हूँ। आत्मकथा का केवल एक उद्देश्य होता है-अपनी जीवन-यात्रा का निष्पक्ष दर्शक की तरह पुनरावलोकन करना। पिंजरे की मैना उसी का फल है।" पृष्ठ358 वे सफलता-असफलता, आशा-निराशा, प्राप्ति और क्षति को वे जीवन का स्वाभाविक हिस्सा मानती हैं, अपने अनुभवों को कोई विशिष्ट या असाधारण रूप नहीं देतीं। आत्मकथा को वे आत्मप्रदर्शन नहीं, बल्कि 'निष्पक्ष दर्शक की तरह जीवन-यात्रा के पुनरावलोकन' की प्रक्रिया मानती हैं। यही सोच 'पिंजरे की मैना' को एक संवेदनशील, ईमानदार और विचारशील आत्मकथा में रूपांतरित करती है।

4.1.II.iii. जो कहा नहीं गया (2019)— कुसुम अंसल

डॉ. कुसुम अंसल का जन्म 1 अगस्त 1940 को अलीगढ़, उत्तर प्रदेश में हुआ। उन्होंने अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय से मनोविज्ञान में स्नातकोत्तर और पंजाब विश्वविद्यालय से

हिंदी उपन्यासों में महानगरीय बोध पर शोध कर पीएच.डी. की उपाधि प्राप्त की। वे दिल्ली की साहित्यिक गतिविधियों में सक्रिय रही हैं और 'संवाद' नामक साहित्यिक मंच की संस्थापक भी हैं।

कुसुम अंसल का साहित्य विविध विधाओं में फैला है—उपन्यास, आत्मकथा, कहानी, कविता, नाटक और यात्रा-वृत्तांत। उन्होंने 'जो कहा नहीं गया' नामक आत्मकथा के माध्यम से स्त्री जीवन की अनकही अनुभूतियों को स्वर दिया। उनके उपन्यास 'एक और पंचवटी', 'नींव का पत्थर', 'खामोशी की गूंज' और 'उदास आंखें' में महानगरीय स्त्री की अस्मिता, रिश्तों की जटिलता और मानसिक द्वंद्वों का सशक्त चित्रण मिलता है।

उनकी रचनाओं में उच्चवर्गीय स्त्री की वैभवपूर्ण परंतु रिक्त आंतरिक दुनिया को गहराई से उकेरा गया है। कई रचनाएँ नाट्यरूपांतर और टीवी धारावाहिकों के माध्यम से भी प्रसारित हुई हैं। उन्हें हिंदी अकादमी, महादेवी वर्मा सम्मान, तथा अंतरराष्ट्रीय पुरस्कारों से नवाजा गया है। कुसुम अंसल ने आधुनिक हिंदी साहित्य में स्त्री विमर्श को आत्मीय और संवेदनशील अभिव्यक्ति प्रदान की है। उनका साहित्य भाव, विचार और शिल्प की दृष्टि से अत्यंत समृद्ध है।

कुसुम अंसल की आत्मकथा 'जो कहा नहीं गया' एक संवेदनशील, विचारोत्तेजक और गहरे आत्मबोध से युक्त स्त्री-स्वर है, जो भारतीय समाज में एक मध्यवर्गीय स्त्री के भीतर उठते द्वंद्व, उसके अनुभवों, विडंबनाओं और अस्तित्व की लड़ाइयों को उजागर करती है। इस आत्मकथा की पृष्ठभूमि भारतीय समाज की वह संरचना है, जिसमें स्त्री को पारिवारिक, सामाजिक और वैचारिक दायरे में सीमित करके देखा जाता रहा है।

'जो कहा नहीं गया' का शीर्षक ही संकेत करता है कि यह रचना उन अनुभूतियों, आघातों और मनःस्थितियों का लेखा-जोखा है जो अक्सर शब्दों में नहीं आ पाते—न सामाजिक संवाद में, न पारिवारिक रिश्तों में, और न साहित्यिक विमर्श में। यह आत्मकथा

केवल व्यक्तिगत जीवन का वृत्तांत नहीं, बल्कि उस सामूहिक स्त्री अनुभव का दस्तावेज़ है, जो पीढ़ियों से अनकहा रह गया है।

इस आत्मकथा की पृष्ठभूमि में लेखक का निजी संघर्ष, स्त्री चेतना का उदय, लेखकीय पहचान की तलाश और एक संवेदनशील महिला के रूप में समाज से संवाद की तीव्र आकांक्षा मौजूद है। कुसुम अंसल की यह रचना हिंदी स्त्री आत्मकथाओं के परिदृश्य में एक मील का पत्थर है, क्योंकि यह अपने समय, समाज और जेंडर संरचनाओं की आलोचनात्मक पड़ताल करती है। यह आत्मकथा न केवल यथार्थ का आईना है, बल्कि स्त्री मुक्ति और आत्मस्वीकृति की यात्रा का दस्तावेज़ भी है।

वे कहती हैं "समृद्धि हर कोने को अपने उजाले से ज्योतित किये थी-पर अवश्य ही मुझमें कुछ कमी होगी, तभी तो मेरा परिवेश उससे अछूता रह गया था-मेरे परिवेश में कुछ भी बड़ा या विशाल नहीं था मोटर गाड़ियाँ, घोड़ा गाड़ी सब होने पर भी अधिकतर पैदल, अकेले स्कूल जाना होता था। स्कूल दूर नहीं था पर उस बड़े गेट से निकलता मेरा अपनापन सिकुड़कर और छोटा हो जाता और सड़क के किनारे चुपचाप चलता बेहद अकेला होता जाता था।" पृष्ठ 16

—यहाँ लेखिका ने समृद्धि और अकेलेपन के विरोधाभास को अपनी आत्मानुभूति के माध्यम से प्रस्तुत किया है। भौतिक वैभव की उपस्थिति के बावजूद लेखिका का "परिवेश उससे अछूता" रह जाना यह संकेत करता है कि स्त्री के लिए बाह्य समृद्धि तब तक निरर्थक है जब तक उसका आंतरिक संसार सम्मान, अपनापन और आत्मीयता से परिपूर्ण न हो। स्कूल का निकट होना भौगोलिक सुविधा का संकेत है, किंतु "गेट से निकलता मेरा अपनापन सिकुड़कर और छोटा हो जाता" जैसे भाव आत्मपरक पीड़ा को रेखांकित करते हैं। यह अंश बाल्यावस्था के अकेलेपन, असुरक्षा और स्त्री होने की अनकही अनुभूति को दर्शाता है, जहाँ लेखिका समाज की भौतिक प्रगति के बावजूद अपने मानसिक और भावनात्मक विकास के लिए उपेक्षित अनुभव करती है।

'जो कहा नहीं गया' में कुसुम अंसल स्त्री जीवन में निर्णयहीनता और भावनात्मक असुरक्षा की उस गूढ़ पीड़ा को व्यक्त करती हैं, जो पारिवारिक निर्णयों में उसकी अनुपस्थिति के रूप में सामने आती है। "अतीत की परतों में दबी फुसफुसाहटें" स्मृति की उन अव्यक्त ध्वनियों का प्रतीक हैं जो स्त्री के मानस में दबे हुए दुःख, विस्थापन और अस्तित्वहीनता की पुनरावृत्ति करती हैं। "अतीत की परतों में दबी पुरानी-धुरानी फुसफुसाहटें जाने क्यों फिर मेरे आस-पास मँडराने लगीं। बातों के बुलबुले फिर फैलने लगे। पता चला मेरे पिता ने चाहा है कि मैं अलीगढ़ लौट आऊँ-पता नहीं कब छः साल बीत गये थे और मैं बड़ी हो चुकी थी। अम्माजी और पापा तैयार नहीं थे-पर पापा की दलील थी कि 'आपकी बेटी आ गई है, अब आप मेरी बेटी लौटा दें'। मुझे लौटना था और मैं लौटा दी गई। मैं क्या चाहती थी" पृष्ठ 23 यह अंश स्त्री के अपने "चाहने" और "अन्य के निर्णयों" के बीच की दूरी को रेखांकित करता है। "मुझे लौटना था और मैं लौटा दी गई"—इस पंक्ति में लेखिका की निष्क्रियता नहीं, बल्कि उसे 'वस्तु' की तरह लौटाए जाने की पीड़ा मुखर होती है। पिता का संवाद—"अब आप मेरी बेटी लौटा दें"—स्त्री को स्वत्वहीन समझने वाली पितृसत्तात्मक सोच का प्रतिनिधि वक्तव्य है, जिसमें पुत्री एक स्वायत्त व्यक्ति नहीं, बल्कि संबंधों में हस्तांतरित की जानेवाली संपत्ति बन जाती है।

स्त्री की आत्मचेतना और आत्मस्वीकृति के संकट को अत्यंत मार्मिकता के साथ अभिव्यक्त करती हुई व कहती हैं कि "मेरा अपनापन इतना छोटा हो गया था, इतना धूमिल-सा हो गया था कि मैं मजबूर होकर अपने ही अस्तित्व से कतराने लगी थी।" पृष्ठ 25 उनकी नज़र में, यहाँ अपनापन केवल बाह्य स्वीकृति या संबंधों की उपस्थिति नहीं, बल्कि अपने अस्तित्व के प्रति आत्म-संवेदनशीलता का बिंब है। जब लेखिका कहती हैं कि "मैं अपने ही अस्तित्व से कतराने लगी थी", तो यह स्त्री अस्मिता के विघटन का बिंदु बन जाता है, जहाँ वह स्वयं को अपने भीतर ही अस्वीकार करने लगती है। यह स्थिति तब उत्पन्न होती है जब सामाजिक-सांस्कृतिक ढाँचा स्त्री को निरंतर सीमाओं, तिरस्कार या अदृश्यता के घेरे में रखता

है। यह वाक्य स्त्री आत्मकथाओं की उस विशिष्ट प्रवृत्ति का प्रतीक है, जहाँ लेखकाएँ नायिकाएँ नहीं, बल्कि अपनी अस्मिता की संघर्षशील यात्राएँ बन जाती हैं।

कुसुम अंसल अपनी आत्मकथा 'जो कहा नहीं गया' में कहती हैं कि स्त्री का जीवन केवल अनुभवों का समुच्चय नहीं, बल्कि एक निरंतर प्रश्न और प्रतिप्रश्न की यात्रा है, जो भीतर से उसे झकझोरती रहती है। वह उन स्त्रियों की ओर से बोलती हैं जिनकी आवाज़ें समाज के सन्नाटे में दबा दी गईं। "मुझे एक बात बहुत कचोटती, जुल्म उन्हीं को क्यों सहना होता है जो बेकसूर होते हैं? कभी-कभी मेरे भीतर एक उन्माद उफनने लगता, मेरे अन्दर की युवती मुझसे श्वास-श्वास पूछती, 'मैं कौन हूँ?' धड़कन धड़कन पूछत्ती, 'मैं कौन हूँ?' पर साकेत के बन्द परिवेश में मेरे सवाल कमरों की ठहरी हुई हवाओं में लटककर रह जाते, जैसे फाँसी पर लटका हुआ कोई मृत शरीर और एक भुतहा सन्नाटा वहाँ फैल जाता। मेरे मन ने अनुभव किया, सन्नाटे के खालीपन को यदि मनुष्य चाहे तो एक परिपूर्णता से भर सकता है, जैसे मन्दिर का सन्नाटा भक्ति को उकसाता है- और हम वहाँ श्रद्धा के दीप जला लेते हैं। मुझे लगा सन्नाटा एक परितृप्तिय भी है जो अपने परिवेश में बहुत कुछ देने की सामर्थ्य रखती है... और तब पहली बार अनुभव हुआ कि सन्नाटे के अर्थ बदल रहे हैं। मन भी अवस्थाएँ बदल रहा था और शरीर भी।" पृष्ठ 27

उपरोक्त अंश उस भीतरी उथल-पुथल को अभिव्यक्त करता है, जिसमें लेखिका अपने होने की पहचान की गहरी छटपटाहट से गुजरती हैं। "मैं कौन हूँ?"—यह प्रश्न यहाँ केवल आत्मविमर्श नहीं, बल्कि एक स्त्री की अस्मिता की जिजीविषा है, जो पितृसत्तात्मक परिवेश में दमित होती रही है। साकेत का "बन्द परिवेश" उस सामाजिक ढांचे का रूपक है जहाँ स्त्री के प्रश्नों को न उत्तर मिलता है, न जगह।

फिर भी, लेखिका सन्नाटे को केवल पीड़ा के रूप में नहीं, बल्कि आत्मबोध की एक संभावनाशील स्थिति के रूप में देखती हैं। "सन्नाटा एक परितृप्ति भी है"—यह वाक्य उनके भीतर के बदलाव का संकेत देता है, जहाँ वह निष्क्रिय शिकार से एक सजग साधक की ओर

बढ़ती हैं। सन्नाटे का यह पुनर्पाठ स्त्री आत्मकथाओं में चेतना के उन्नयन की विशिष्ट प्रवृत्ति को दर्शाता है, जहाँ आंतरिक टूटन से आत्मनिर्माण की यात्रा शुरू होती है। यह अंश आत्मकथात्मक लेखन को विशुद्ध अस्तित्ववादी विमर्श से जोड़ता है, और बताता है कि स्त्री का संघर्ष केवल बाह्य नहीं, बल्कि आत्म की भीतरी परतों में भी होता है।

कुसुम अंसल कहती हैं कि स्त्री होने के अर्थ को समझने की प्रक्रिया केवल बाह्य संघर्ष नहीं, बल्कि आंतरिक द्वंद्व और अस्वीकार की तीव्र यात्रा है। वह अपने समय और परिवेश से टकराते हुए अपनी अस्मिता को बचाने की सतत कोशिश करती हैं, "एक मध्यवर्गीय, रूढ़िवादी परिवार का जैसा संकुचित जीवन होता है वह मेरे समानान्तर चलता रहा, मैं भरसक एक दूरी बरत कर उसे अपने ऊपर छा जाने से रोकती रही। मेरे भीतर की चेतना उसे जब तक बन पड़ा, अस्वीकार करती रही पर उस समय का सच वही था- परिणामस्वरूप पुनः एक निराशाजनक घुटन मेरे परिवेश में धुएँ-सी फैलने लगी। मेरा दाम्पत्य एक घिसे हुए तयशुदा रास्ते पर चलने लगा, जो मुझे स्वीकार नहीं था। सुशील चाहते, में बदल जाऊँ, आम स्त्रियों की तरह खुश रहूँ, परन्तु प्रेमी एक-दूसरे के लिए वस्तु नहीं हो सकते, और अपने लिए वस्तु हो जाना मुझे कतई स्वीकार नहीं था।" पृष्ठ54 उपरोक्त अंश एक विवाहित स्त्री की उस मानसिक स्थिति को सामने लाता है, जहाँ वह सामाजिक-सांस्कृतिक रूढ़ियों के दबाव से घिरी होती है, परंतु भीतर से निरंतर उसे अस्वीकार करती रहती है। "मैं भरसक एक दूरी बरत कर उसे अपने ऊपर छा जाने से रोकती रही"—यह कथन स्त्री की चेतन असहमति का स्वर है, जो आत्मसमर्पण के बजाय आत्मरक्षा को चुनता है।

लेखिका का दाम्पत्य एक तयशुदा सामाजिक पटकथा पर चलता है, जो व्यक्तिगत प्रेम और आत्मीयता के बगैर होता है। वह स्पष्ट करती हैं कि "प्रेमी एक-दूसरे के लिए वस्तु नहीं हो सकते"—यह वाक्य पितृसत्तात्मक संबंधों में स्त्री को उपभोग की वस्तु मानने वाली मानसिकता का तीव्र प्रतिवाद है। यह अंश स्त्री आत्मकथाओं में आत्मबोध और संबंधों की पुनर्व्याख्या की उस प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करता है, जहाँ स्त्री अपने अधिकारों, चाहतों और

अस्वीकारों को स्पष्ट रूप से सामने रखती है। यह न केवल व्यक्तिगत असंतोष का दस्तावेज़ है, बल्कि स्त्री स्वायत्तता के विचार को साहित्यिक रूप से प्रतिष्ठित करने का एक सशक्त प्रयास भी है।

कुसुम अंसल 'जो कहा नहीं गया' में कहती हैं कि लेखन केवल सौंदर्यबोध या कल्पना नहीं, बल्कि जीवन की उन अनकही सच्चाइयों को भी उजागर करने का माध्यम है, जिन्हें समाज प्रायः अनदेखा कर देता है। वह अपने व्यक्तिगत अनुभवों के माध्यम से स्त्री की दैहिक, मानसिक और भावनात्मक यातना को स्वर देती हैं। "मेरे चारों ओर जो भी लोग हैं, वह सद्व्यवहार करते हैं, सामान्य मनुष्य हैं, परन्तु मेरे पति के क्रूर व्यवहार ने, मेरे भीतर के समूचे प्रेम को दुर्बल ही नहीं किया है, सोख भी लिया है, मेंक्रूर और चिड़चिड़ी हो गई हूँ। मैं उस महान लेखक की इच्छानुसार सोलह बार गर्भवती हुई, तेरह जीवित, और तीन मृत बच्चों को जन्म दिया। वह मनुष्य नहीं ऐनीमल-मैन है। वह अपने लेखन से सारे संसार को प्रेम की शिक्षा देता है। परन्तु मुझे कष्टों और पीड़ाओं के समुद्र में धकेल देता है। भगवान मुझे इस विक्षिप्त मनुष्य के प्रेम से मुक्त होने और इसकी पगली इच्छाओं से छुटकारा दिलाने में मेरी सहायता करें।"पृष्ठ 200

यह आत्मकथांश स्त्री की उस विवशता को उजागर करता है, जहाँ वह एक प्रतिष्ठित लेखक की पत्नी होते हुए भी अपने अधिकार, प्रेम और मानवीयता से वंचित रहती है। 'सोलह बार गर्भवती हुई'—यह वाक्य केवल दैहिक उत्पीड़न का नहीं, बल्कि स्त्री को प्रजनन की मशीन समझने वाली मानसिकता का भयावह चित्र है। यहाँ लेखिका का आरोप कि 'वह मनुष्य नहीं ऐनीमल-मैन है', स्त्री के साथ हुए अमानवीय व्यवहार पर एक आक्रोशपूर्ण प्रतिक्रिया है। इस अंश में लेखिका का स्वर भावुक नहीं, बल्कि प्रतिरोधात्मक है। वह न केवल अपनी असह्य वेदना को प्रकट करती हैं, बल्कि धार्मिक आस्था और आंतरिक बल के माध्यम से इस उत्पीड़न से मुक्ति की प्रार्थना भी करती हैं। यह आत्मकथ्य

स्त्री विमर्श में पाखंडी प्रेम, पुरुष सत्तात्मक दंभ, और स्त्री की चुप वेदनाओं की तीखी आलोचना बनकर उभरता है।

कुसुम अंसल कहती हैं कि स्त्री केवल एक सामाजिक भूमिका नहीं निभाती, बल्कि उसका अपना एक स्वत्व, आकांक्षा और उद्देश्य होता है, जो अक्सर पारिवारिक संरचना में विस्मृत कर दिया जाता है। वह अपनी माँ के माध्यम से उन असंख्य स्त्रियों की पीड़ा को स्वर देती हैं, जिनका अस्तित्व त्याग और चुप्पी में लुप्त हो जाता है, "माँ का स्त्री होना, माँ का माँ होना ऐसा रहा, सारी उम्र जैसे था ही नहीं, उनका अस्तित्व पथिंग्रनैस के गहरे धुएँ में कहीं लोप हो गया, उनके चित्र की तरह। पर क्यों? कौन-सी बाध्यता थी, कौन-सी मजबूरी जो इतने पुख्ता पुरुष को, जिसे पूर्ण पुरुष की श्रेणी में खड़ा किया जा सकता था, इस स्थिति तक धकेल विशेष का क्या हुआ, ऐसा नहीं था जो बलिदान नहीं हुआ? उसकी स्वतंत्रता, उसका शारीरिक सुख, उसका अपना निज का ध्येय, अपनी कुछ बन पाने की ललक-प्रतिफल मिला, घोर अकेलापन, सन्नाटा, चुप रह जाने की सजा।" पृष्ठ 201

उपरोक्त अंश स्त्री अस्मिता के पूर्ण विखंडन का चित्रण है। लेखिका की माँ "माँ" होकर भी जीवन भर उपेक्षित रहीं—नारीत्व, मातृत्व और व्यक्तित्व, तीनों ही स्तरों पर। "उनका अस्तित्व पथिंग्रनैस के गहरे धुएँ में लोप हो गया"—यहाँ पथिंग्रनैस जैसे शब्द का प्रयोग अंग्रेज़ी के "nothingness" का हिंदी अनुवादात्मक प्रयोग है, जो अस्तित्ववादी शून्यता को दर्शाता है।

लेखिका प्रश्न उठाती हैं कि ऐसी क्या विवशता थी जिसने एक सक्षम, पूर्ण पुरुष को भी एक स्त्री की आकांक्षाओं को पूर्णतः अनदेखा कर देने में संकोच नहीं करने दिया? माँ का "बलिदान" केवल दैहिक या पारिवारिक नहीं था, वह उसकी आत्मा, आकांक्षा और स्वप्नों का भी परित्याग था। लेखिका कहती हैं कि बदले में उन्हें मिला—अकेलापन, सन्नाटा और चुप्पी की सज़ा।

यह आत्मकथांश स्त्री विमर्श में उस अनकही पीड़ा की ओर संकेत करता है, जो सदियों से माँओं के जीवन में इतिहास के परदे के पीछे दबी रही। यह एक पीढ़ी की चेतना का पुनर्लेखन है, जहाँ बेटी माँ की चुप्पी को पढ़ने और उस पर आवाज़ उठाने का नैतिक साहस दिखाती है। यही आत्मकथाएँ स्त्री को इतिहास में पुनः लिखने का माध्यम बनती हैं —इस बार उसके दृष्टिकोण से, उसकी भाषा में।

4.1.II.iv. कुछ कही कुछ अनकही (2001)— शीला झुनझुनवाला

शीला झुनझुनवाला का जन्म 6 जनवरी 1927 को कानपुर में हुआ। उन्होंने क्राइस्ट चर्च कॉलेज से बी.ए. और डीएवी कॉलेज, कानपुर से अर्थशास्त्र में एम.ए. तथा शिक्षण में एल.टी. की उपाधि प्राप्त की। प्रारंभ में वे एक कॉलेज में अर्थशास्त्र की प्रवक्ता रहीं, लेकिन उनका रुझान लेखन और पत्रकारिता की ओर था। वे हिंदी पत्रकारिता की प्रमुख महिला हस्ती रहीं। उन्होंने 'धर्मयुग', 'साप्ताहिक हिंदुस्तान', 'कादंबिनी', 'अंगजा' जैसी प्रतिष्ठित पत्रिकाओं में संपादकीय भूमिका निभाई। साथ ही अंग्रेजी की पत्रिका 'मनी मैटर्स' की कार्यकारी संपादक भी रहीं। उनका संपादन कार्य स्त्री-संवेदना, समकालीन मुद्दों और सांस्कृतिक विमर्शों से समृद्ध रहा।

साहित्यिक रूप से वे उपन्यास, कहानियाँ, संस्मरण, बाल साहित्य और यात्रा-वृत्तांत जैसी विधाओं में सक्रिय रहीं। उनकी प्रमुख कृतियाँ हैं: कोने वाला कमरा, अर्थ चक्र, सिने सितारों के अनछुए प्रसंग, इंदिरा जी की कहानी, कुछ कही कुछ अनकही आदि। उन्हें पत्रकारिता और साहित्य के क्षेत्र में 'पद्मश्री' (1991), 'गणेश शंकर विद्यार्थी पुरस्कार', 'पत्रकारिता भूषण', 'मातृश्री सम्मान' सहित कई पुरस्कार प्राप्त हुए। शीला झुनझुनवाला का लेखन और संपादन कार्य हिंदी साहित्य और पत्रकारिता को एक नई दिशा देने वाला रहा है, विशेषकर महिलाओं की दृष्टि से।

शीला झुनझुनवाला अपनी आत्मकथा 'कुछ कही कुछ अनकही' में कहती हैं कि स्त्री होना केवल एक जैविक स्थिति नहीं, बल्कि सामाजिक असमानताओं से निरंतर जूझते रहने का अनुभव है। वह अपने जीवन के माध्यम से उस चेतना को स्वर देती हैं जो स्त्री को चुप्पी, सहनशीलता और समर्पण की परंपरागत सीमाओं को तोड़ने की प्रेरणा देती है। "लड़की होने की विवशता के क्षणों में मैंने एक खास बात अपने अंदर महसूस की कि अन्याय, अत्याचार, अनाचार, शोषण और दासता न तो मैं सहूंगी और न उनके सामने कभी समर्पण करूँगी।" पृष्ठ 23 उपरोक्त आत्मकथांश उस आत्मबल और आंतरिक प्रतिरोध का उद्घोष है, जो एक लड़की होने के बावजूद लेखिका ने अपने भीतर संजोया।

'अन्याय, अत्याचार, अनाचार, शोषण और दासता' जैसे शब्द यहाँ केवल सामाजिक स्थितियों का उल्लेख नहीं हैं, बल्कि एक ऐसे मानसिक भूगोल का संकेत हैं जिसमें स्त्रियों को परंपरागत रूप से ढाला गया है। लेकिन लेखिका का यह संकल्प—"न तो मैं सहूंगी और न समर्पण करूँगी"—स्त्री अस्मिता की उस नई चेतना का द्योतक है, जो व्यक्तिगत अनुभवों से जन्म लेकर सामाजिक प्रतिरोध का स्वर बन जाती है। यह आत्मकथ्य स्त्री आत्मकथाओं की उस प्रवृत्ति को पुष्ट करता है, जहाँ स्त्री अपने अनुभवों को केवल पीड़ा के रूप में नहीं, बल्कि सिद्धांत, प्रतिरोध और परिवर्तन के उपकरण के रूप में प्रस्तुत करती है। यह उद्घोष एक स्त्री की निजता को उसके आत्मबल से जोड़ता है—और बताता है कि चुप्पी अब उसकी नियति नहीं, बल्कि परिवर्तन की पूर्वपीठिका है।

जीवन के अनुभव केवल मानसिक संघर्षों तक सीमित नहीं, बल्कि भाषा, संस्कृति और सामाजिक धारणाओं से जुड़ी अनेक रोचक विडंबनाओं से भी जुड़े होते हैं। "नासिक स्टेशन पर सरोज मिली तो ठाकुर को देखकर बड़े आश्चर्य से बोली, 'अरे, हमारे जीजाजी तो बड़े सुदर्शन हैं। हम तो सोचे थे कि झुनझुनवाला कोई मोटे-ताजे, हाथों में बड़े-बड़े रोयेंवाले व्यक्ति होंगे! असल में, उसने इन्हें पारसी समझ रखा था क्योंकि बंबई में पारसियों के नाम के आगे उनके व्यापार के अनुसार 'वाला' शब्द लगाते हैं जैसे, बाटलीवाला, मोतीवाला

आदि। राजस्थान में झुंझनू एक जगह है जहां के वैश्य परिवार अधिकतर वहां के नाम के साथ 'वाला' लगाते हैं। इस प्रकार वास्तव में, सही शब्द झुंझनूवाला बनता है, जो कालांतर में झुनझुनवाला हो गया।" पृष्ठ *106*

उपरोक्त आत्मकथांश एक हल्के, हास्यरस से युक्त प्रसंग के माध्यम से सांस्कृतिक भ्रम और पहचान की सामाजिक व्याख्या प्रस्तुत करता है। सरोज द्वारा "झुनझुनवाला" नाम को पारसी संदर्भ में समझना बंबई की स्थानीय भाषिक-सांस्कृतिक समझ का प्रतीक है, जहाँ 'वाला' शब्द किसी व्यापार या पहचान से जुड़ता है—जैसे बाटलीवाला, मेहता वगैरह। लेकिन लेखिका इस भ्रम को स्पष्ट करते हुए बताती हैं कि झुनझुनवाला शब्द की उत्पत्ति झुंझनूवाला से हुई है, जो राजस्थान के झुंझनू नगर से जुड़ा हुआ है और व्यापारिक वैश्य समुदाय में सामान्यतः प्रचलित है।

वे कहती हैं कि स्त्री जीवन में प्रेरणा के कुछ शब्द दीर्घकालीन मार्गदर्शन की तरह काम करते हैं—भले ही वे उस समय तुरंत न समझ आएँ, पर जीवन के कठिन मोड़ों पर वे भीतर से आवाज़ बनकर उभरते हैं।"परिस्थितियों के आगे घुटने टेकने के लिए तुम नहीं बनी हो, जीवन में कुछ बनकर दिखाना। एक व्यर्थ यात्रा का प्रतीक मात्र बनकर नहीं रह जाना। ' उस दिन तो उनकी बात समझ में नहीं आई, परंतु बाद के जीवन में बहुत बार उनके ये वाक्य मेरे दिल और दिमाग पर हथौड़ियों की तरह चोट करते रहे।" पृष्ठ19 लेखिका अपने जीवन के एक ऐसे निर्णायक क्षण का स्मरण करती हैं, जहाँ उन्हें किसी आत्मीय व्यक्ति ने साहस और आत्मनिर्माण की प्रेरणा दी। 'परिस्थितियों के आगे घुटने टेकने के लिए तुम नहीं बनी हो' —यह वाक्य न केवल आत्मबल का संचार करता है, बल्कि स्त्री के लिए पारंपरिक रूप से निर्धारित दमनकारी नियति को अस्वीकार करने की प्रेरणा भी देता है। हालाँकि उस समय यह कथन लेखिका को स्पष्ट नहीं होता, पर "बाद के जीवन में... हथौड़ियों की तरह चोट करते रहे" यह पंक्ति इस बात को रेखांकित करती है कि जीवन में कुछ विचार समय के साथ अपना अर्थ और प्रभाव बदलते हैं— वे चेतना में गहराई से बैठ जाते हैं और निर्णयों को

दिशा देने लगते हैं। यह कथन स्त्री आत्मकथाओं में संघर्षशील चेतना और प्रेरणा के बीज की भूमिका को उजागर करता है। यह दर्शाता है कि स्त्री जब भीतर से टूटने लगती है, तब वही शब्द, वही स्मृतियाँ उसे नया संबल देती हैं। इस प्रकार आत्मकथा केवल अतीत का दस्तावेज़ नहीं, बल्कि प्रेरणा और प्रतिरोध की आवाज़ भी बन जाती है।

शीला झुनझुनवाला कहती हैं कि लड़की होना एक ऐसा सामाजिक अनुभव है, जिसमें व्यक्ति जन्म से ही असमानता, नियंत्रण और दोहरे मानदंडों का बोझ उठाने को विवश होता है। यह आत्मकथांश एक स्त्री की उस सघन पीड़ा और असंतोष का सजीव चित्रण है, जो पितृसत्तात्मक सोच की बेड़ियों में जन्मते ही उसके चारों ओर कस दी जाती हैं। ‘‘लड़की होना मानो जंजीरों में जकड़े रहना। लड़के और लड़की एक रेखा के दो छोर लड़कों पर सारा प्यार-दुलार लुटाया जाए, वह पढ़ें नहीं तो टीचर रखा जाए। मैं नहीं पहूं तो किसी को कोई वास्ता नहीं। क्या फायदा ज्यादा पढ़-लिखकर। आखिर, मुझे तो चूल्हा ही झोंकना है। लड़कों की आवारागर्दी और सौ खून माफ और मुझे इन बंधनों में जकड़कर रखना कि यहां नहीं जाना, वहां नहीं जाना। इतनी रुकावटें कि दो कदम भी कहीं आगे बढ़े तो साथ में एक भाई को लेकर जाओ, चाहे वह उम्र में मुझसे दस साल छोटा ही क्यों न हो। समय पड़ने पर वह क्या मेरी रक्षा करेगा? मुझे ही उसे संभालना पड़ेगा।’’ पृष्ठ22

‘लड़की होना मानो जंजीरों में जकड़े रहना’ —यह पंक्ति केवल प्रतीक नहीं, बल्कि भारतीय मध्यवर्गीय समाज में स्त्री के लिए बनाई गई सीमाओं का यथार्थ बिंब है। जहां लड़कों को स्वतंत्रता, लाड़, और अवसर सहज रूप से मिलते हैं, वहीं लड़की के हिस्से में उपेक्षा, संकोच और संकुचन आता है। शिक्षा जैसे मौलिक अधिकार में भी भेदभाव स्पष्ट है —‘मैं नहीं पढ़ूं तो किसी को कोई वास्ता नहीं’, जबकि लड़कों के लिए विशेष संसाधन जुटाए जाते हैं।

लेखिका के अनुभव दर्शाते हैं कि यह भेदभाव केवल बाहरी नहीं, बल्कि मानसिक उत्पीड़न का कारण भी बनता है। भाई, भले ही छोटा हो, लेकिन "संरक्षक" की भूमिका में

बैठा दिया जाता है, जबकि व्यावहारिक रूप से बहन को ही उसकी जिम्मेदारी निभानी होती है। यह अंश स्त्री विमर्श में दुर्लक्षित लैंगिक सत्ता-व्यवस्था की तीखी आलोचना करता है, जहाँ शक्ति, निर्णय और स्वतंत्रता का अधिकार केवल एक लिंग विशेष तक सीमित रखा गया है।

शीला झुनझुनवाला कहती हैं कि भारत में स्त्रियों को संवैधानिक रूप से समान अधिकार भले ही मिले हों, परंतु व्यवहारिक जीवन में वह समानता आज भी अधूरी, सीमित और बहुधा प्रतीकात्मक ही रह गई है "हमारे देश में हमने नया संविधान बनाया और स्त्रियों को बराबर का हक दिया, मगर वह तो कानून में है, व्यवहार में वह कहां, कितना आता है, यह मुझे पता नहीं, बल्कि बहुत कम आता मालूम पड़ता है। क्योंकि, कारोबार तो सारा पुरुष के हाथ में रहता है और इसलिए जहां देखो, वहां पुरुष की महत्ता बढ़ाई गई है और स्त्री की महत्ता कम की गई है। मुझे तो ऐसा लग रहा है कि स्त्री को 'अबला' कहकर सचमुच में अबला बना दिया गया है और इसी के जोर पर पुरुष उससे काम लेता रहा है।" पृष्ठ 237 यह आत्मकथांश एक सजग, यथार्थवादी दृष्टिकोण से भारतीय सामाजिक ढांचे की लैंगिक असमानता की आलोचना करता है।

लेखिका द्वारा व्यक्त किया गया अनुभव स्पष्ट करता है कि संवैधानिक अधिकार और सामाजिक यथार्थ के बीच एक गहरी खाई विद्यमान है। वह कहती हैं, "कारोबार तो सारा पुरुष के हाथ में रहता है"—यह पंक्ति उस सामाजिक सत्ता-संरचना की ओर संकेत करती है जहाँ निर्णय, संसाधन और नियंत्रण पुरुषों के अधीन रहते हैं, और स्त्रियों को गौण भूमिका में सीमित कर दिया जाता है।

'अबला कहकर सचमुच में अबला बना दिया गया' —यह वाक्य पितृसत्ता द्वारा गढ़ी गई भाषिक और मानसिक रणनीतियों की आलोचना है, जो स्त्री को दुर्बल, निर्भर और उपयोगी वस्तु के रूप में स्थापित करने के लिए उपयोग की जाती रही हैं। लेखिका यह रेखांकित करती हैं कि पुरुष महत्ता का निर्माण स्त्री की विमुक्ति को बाधित करके करता है,

और यह असमानता केवल पारिवारिक नहीं, सामाजिक और संस्थागत स्तरों पर भी विद्यमान है।

शीला झुनझुनवाला की आत्मकथा 'कुछ कही कुछ अनकही' एक मध्यवर्गीय भारतीय स्त्री के जीवनानुभवों, संघर्षों और चेतनात्मक विकास की मार्मिक अभिव्यक्ति है। यह आत्मकथा सामाजिक संरचनाओं के भीतर स्त्री की उपस्थिति, उसकी भूमिका, सीमाएँ और उसके भीतर जन्म लेती चेतना को उजागर करती है। लेखिका अपने जीवन के माध्यम से एक स्त्री की उस यात्रा को चित्रित करती हैं, जो परंपरा, पितृसत्ता, सामाजिक अपेक्षाओं और अपने भीतर के द्वंद्वों से गुजरते हुए आत्मबोध तक पहुँचती है।

इस आत्मकथा की भाषा सरल, आत्मीय और आत्मसंवादी है, जो लेखिका के अनुभवों को गहराई से पाठक तक पहुँचाती है। इसमें स्त्री जीवन के विविध पक्षों—शैक्षणिक उपेक्षा, लैंगिक भेदभाव, पारिवारिक दमन, दांपत्य विसंगतियाँ, और सामाजिक दोहरापन—की सूक्ष्मता से पड़ताल की गई है। लेखिका अपनी कथा को केवल घटनाओं तक सीमित नहीं रखतीं, बल्कि अनुभवों के भीतर छिपे अर्थ और प्रभाव को भी विश्लेषण की भंगिमा में सामने लाती हैं।

यह आत्मकथा स्त्री विमर्श की उस दिशा को आगे बढ़ाती है, जहाँ स्त्री केवल पीड़िता नहीं, अपितु एक आत्मस्वतंत्र और आत्ममूल्यांकन करती हुई सत्ता बनकर उभरती है। लेखिका अपने जीवन के माध्यम से यह स्पष्ट करती हैं कि संवैधानिक समानता तब तक सार्थक नहीं हो सकती जब तक सामाजिक व्यवहार और मानसिक संरचना में स्त्री को स्वीकृति, सम्मान और स्वतंत्रता न दी जाए। लेखिका का दृष्टिकोण अनुभवजन्य होने के साथ-साथ वैचारिक रूप से भी सशक्त है। वे अपने भीतर की बेचैनी, असंतोष और विद्रोह को एक रचनात्मक प्रतिरोध में रूपांतरित करती हैं। आत्मकथा का स्वर कभी आत्मालोचनात्मक, कभी विद्रोही और कभी गहन दार्शनिक भी हो जाता है, जो इसे केवल आत्मवृत्तांत न बनाकर सामाजिक और वैचारिक दस्तावेज़ बना देता है।

वस्तुतः 'कुछ कही कुछ अनकही' आत्मकथा विधा में स्त्री दृष्टि की सजग उपस्थिति का सशक्त उदाहरण है। यह कृति नारी जीवन के माध्यम से उस व्यापक सामाजिक यथार्थ को उद्घाटित करती है जो अब भी स्त्री की स्वतंत्रता, अस्मिता और अधिकारों को सीमित करता है। इस आत्मकथा का महत्व इसी में निहित है कि यह कहने के साथ-साथ उन अनकहे पहलुओं की भी पहचान कराती है, जिन्हें लंबे समय तक समाज ने अनदेखा किया।

4.1.II.v. जमाने में हम (2016)— निर्मला जैन

निर्मला जैन का जन्म अक्टूबर 1932 में दिल्ली में हुआ। प्रारंभिक संघर्षों के बावजूद उन्होंने दिल्ली विश्वविद्यालय से एम.ए., पीएच.डी. और डी.लिट्. की उपाधियाँ प्राप्त कीं। उन्होंने कथक नृत्य की शिक्षा भी ली, किंतु उनका झुकाव साहित्य की ओर अधिक था। वे लेडी श्रीराम कॉलेज और बाद में दिल्ली विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में अध्यापन कार्य से जुड़ी रहीं। 1981 से 1984 तक वे विभागाध्यक्ष रहीं।

निर्मला जैन हिंदी की पहली प्रमुख महिला आलोचक मानी जाती हैं, जिन्होंने साहित्यिक आलोचना में स्त्री-दृष्टिकोण और मूल्यधारित विवेचना को स्थान दिलाया। उन्होंने आधुनिक हिंदी काव्य में रूपविधाएँ, पाश्चात्य साहित्य चिंतन, कथा समय में तीन हमसफ़र, रस सिद्धांत और सौंदर्यशास्त्र, आधुनिक साहित्य: मूल्य और मूल्यांकन जैसी आलोचनात्मक कृतियाँ लिखीं। उनकी आत्मकथा 'जमाने में हम' और संस्मरण 'दिल्ली: शहर दर शहर' भी चर्चित रही।

उन्हें साहित्य अकादमी अनुवाद पुरस्कार, रामचंद्र शुक्ल सम्मान, सुब्रह्मण्यम भारती सम्मान, जे.सी. जोशी शब्द साधक शिखर सम्मान सहित अनेक पुरस्कार मिले।निर्मला जैन का लेखन गंभीर, तार्किक और वैचारिक दृष्टि से समृद्ध रहा है। उन्होंने आलोचना के पुरुषप्रधान क्षेत्र में अपनी स्वतंत्र पहचान बनाई और हिंदी साहित्य को वैचारिक गहराई दी। उनका निधन 15 अप्रैल 2025 को हुआ।

निर्मला जैन की आत्मकथा 'जमाने में हम' एक विचारशील और बौद्धिक स्त्री की आत्मप्रवंचनात्मक यात्रा है, जिसमें निजी अनुभव, सामाजिक यथार्थ और साहित्यिक जीवन का गहन समन्वय दिखाई देता है। यह आत्मकथा हिंदी साहित्य-जगत की एक प्रतिष्ठित आलोचक, शिक्षिका और विदुषी महिला की आत्मस्वीकृति के साथ-साथ, उस दौर के सामाजिक-सांस्कृतिक विमर्शों का प्रामाणिक दस्तावेज़ भी बनती है।

निर्मला जैन नारी अस्मिता, बौद्धिक स्वाधीनता और आत्मसंघर्ष को अत्यंत संयत, संतुलित और गहन दृष्टि से प्रस्तुत करती हैं। आत्मकथा में नाटकीयता या भावुकता के स्थान पर विवेक, आत्मालोचना और तर्क की प्रधानता है। वे एक शिक्षिका, एक आलोचक और एक स्त्री—तीनों भूमिकाओं को एक साथ जीती हैं, और इन भूमिकाओं से जुड़े अंतर्विरोधों, अपेक्षाओं तथा सीमाओं को सजीव रूप में उकेरती हैं।

'जमाने में हम' केवल एक स्त्री की आत्मकथा नहीं है, यह अपने समय, समाज और साहित्यिक संसार की भी सामाजिक-सांस्कृतिक पड़ताल है। निर्मला जैन की भाषा साफ, सधी हुई और विचारशील है, जिसमें आत्मगौरव के साथ आत्मनम्रता भी है। यह आत्मकथा उन स्त्रियों के लिए एक प्रेरक दस्तावेज़ है जो पारंपरिक समाज में रहते हुए भी अपनी बौद्धिकता, स्वतंत्र सोच और आत्मसम्मान को बनाए रखने की कोशिश करती हैं। 'जमाने में हम' हिंदी स्त्री आत्मकथा-लेखन की एक गरिमामयी उपलब्धि है, जो अपने आत्मबोध से आगे बढ़कर सामाजिक चेतना का निर्माण करती है।

निर्मला जैन अपनी आत्मकथा 'जमाने में हम' में कहती हैं कि जीवन के कुछ क्षण व्यक्ति की स्मृति में समय से परे स्थायी पीड़ा के रूप में अंकित हो जाते हैं "घर अन्धकार की छाया में डूब गया। जो जहाँ था, वहीं जमीन पर लुढ़क गया। उस सन्नाटे को सिर्फ एक आवाज बीच-बीच में रह-रहकर भंग करती थी-उस नन्ही बच्ची की आवाज – जिसने अपने पिता को ठीक-ठीक पहचानने से पहले ही खो दिया था..." पृष्ठ 46 उपरोक्त आत्मकथांश पिता की मृत्यु से उत्पन्न उस गहरे शोक और सन्नाटे का चित्र है, जिसमें एक बच्ची न केवल

अपने अभिभावक को खो देती है, बल्कि सुरक्षा, स्नेह और पहचान की बुनियाद भी दरक जाती है।

'घर अंधकार की छाया में डूब गया' यह वाक्य केवल शोक का नहीं, बल्कि पूरे पारिवारिक संतुलन के बिखराव का संकेत देता है। बच्ची की मासूम आवाज़, जो बार-बार उस मौन को भंग करती है, पीड़ा और असहायता की करुण प्रतिध्वनि बन जाती है। वह अपने पिता को ठीक-ठीक पहचान भी नहीं पाई थी, और तभी उन्हें सदा के लिए खो दिया। यह कथन आत्मकथा में भावनात्मक शून्यता और स्मृतिगत असुरक्षा की पृष्ठभूमि निर्मित करता है, जो बाद के जीवन में लेखिका की आत्मचेतना और वैचारिक दृष्टि को आकार देती है। यहाँ निजी दुःख केवल व्यक्तिगत अनुभव न रहकर, सामाजिक-सांस्कृतिक पीड़ा की व्यापक अभिव्यक्ति बन जाता है।

निर्मला जैन कहती हैं कि पिता की मृत्यु के बाद उनकी माँ ने अपने जीवन को पूरी तरह संतानों की परवरिश और शिक्षा के लिए समर्पित कर दिया। "माँ को एक ही बात की धुन कि बिना बाप की उनकी सन्तति की शिक्षा में कोई बाधा न आए। वे जैसे-तैसे गुजारा करके बच्चों को अपने पैरों पर खड़ा होने लायक बना दें। सारा ध्यान बड़े बेटे पर।" पृष्ठ 49 यह आत्मकथांश एक स्त्री की मातृत्व-संवेदना, संघर्षशीलता और त्यागमयी भूमिका को गहराई से चित्रित करता है।

माँ का लक्ष्य स्पष्ट था—'बिना बाप की उनकी सन्तति की शिक्षा में कोई बाधा न आए।' यह वाक्य उनके भीतर निहित दृढ़ नारी संकल्प का परिचायक है। वे कठिन आर्थिक परिस्थितियों में भी हार नहीं मानतीं, बल्कि सीमित साधनों के भीतर अपने बच्चों के भविष्य को गढ़ने में जुट जाती हैं। लेकिन साथ ही, यह अंश पितृसत्तात्मक पारिवारिक ढांचे की ओर भी संकेत करता है, जहाँ संसाधनों और आशाओं का केंद्र 'बड़े बेटे' तक सीमित रहता है, और बेटियाँ अपेक्षाकृत गौण बनी रहती हैं।

निर्मला जैन माँ की संघर्षशीलता, आत्मबल और पारिवारिक समर्पण का मार्मिक चित्र प्रस्तुत करती हैं। वे कहती हैं कि पति की मृत्यु के बाद जब परिस्थितियाँ प्रतिकूल हो गईं, तो उन्होंने पारंपरिक स्त्री मर्यादाओं में रहते हुए आर्थिक स्वावलंबन का मार्ग खोजा। "इस कठिन परिस्थिति में माँ को और रास्ता नजर नहीं आया तो उन्होंने घर बैठे मंजूरी का सहारा लिया। वे खुदरा दुकानदारों के लिए पुराने अखवारों की थैलियाँ बनाने लगीं। खुलकर यह काम कर नहीं सकती थीं। .....गृहस्थी के रोजमर्रा के खचों में भी उनका हाथ खिचा रहने लगा था। यह तो हम महसूस करने लगे थे, पर इसके कारण और इसके निदान के सम्भावित रास्तों की समझ हमें नहीं थी। माँ।" पृष्ठ54 माँ अपनी प्रतिष्ठा और सामाजिक सीमाओं को ध्यान में रखते हुए परोक्ष माध्यमों से काम करती हैं, घर की स्त्रियों को थैलियाँ बनाने का जिम्मा देती हैं, पटरियों पर चित्रकारी करती हैं, और सिलाई जैसे घरेलू कामों से आय का स्रोत जुटाती हैं। यह श्रम केवल आर्थिक आत्मनिर्भरता के लिए नहीं, बल्कि बच्चों की शिक्षा, सुरक्षा और बचपन की सहजता बनाए रखने के लिए है। लेखिका स्वीकार करती हैं कि वे इस संघर्ष के अर्थ नहीं समझती थीं, पर माँ के काम में सहभागी बनने का बालसुलभ प्रयास अवश्य करती थीं।

वे कहती हैं कि स्त्री के जीवन में विवाह और ससुराल का अनुभव केवल पारिवारिक नहीं, बल्कि सामाजिक मूल्यांकन और मानसिक परीक्षा की प्रक्रिया भी होता है।"जिन्दगी अपनी जब इस शक्ल से गुज़री...दिल्ली वापसी जिन हालात में हो रही थी, वह बहुत सुखद नहीं थे। माँ सन्तुष्ट थीं कि बेटी ससुराल से राजी-खुशी लौट रही थी, पर जिस बज देहात से मेरा पाला पड़ा था, उसकी बाकी घरवालों को ठीक-ठीक जानकारी नहीं थी। तरह-तरह की अटकलों से भरे मन से प्रतीक्षा कुछ इस भाव से हो रही थी कि 'न जाने बिचारी पर क्या गुजर रही होगी !' उनकी आशंका को झुठलाते हुए जब मैं स्वस्थ शरीर और मन से मायके लौटी तो सबने राहत की साँस ली।" पृष्ठ 74 लेखिका जिस "बज देहात" से लौट रही थीं, उसके संदर्भ में मायके वालों के मन में अनेक अटकलें थीं—यह संकेत करता है कि स्त्री की

वैवाहिक स्थिति को लेकर समाज में कितनी आशंकाएँ और संवेदनशीलता जुड़ी होती हैं। "न जाने बिचारी पर क्या गुजर रही होगी"—यह मानसिकता स्त्री को एक दया की दृष्टि से देखने का सामाजिक दृष्टिकोण है, जो उसके संघर्षों को पूर्वग्रहों से आंकता है। लेकिन लेखिका अपनी स्थिति को ऐसी सहानुभूति में बदलने नहीं देतीं। "स्वस्थ शरीर और मन से मायके लौटी"—यह वक्तव्य न केवल उनकी मानसिक दृढ़ता को दर्शाता है, बल्कि इस बात का प्रमाण भी है कि स्त्री कठिन परिस्थितियों का सामना भी गरिमा और आत्मबल के साथ कर सकती है।

आगे वे कहती हैं कि उनका साहित्यिक जीवन केवल पठन-पाठन या शिक्षण तक सीमित नहीं था, बल्कि वह साहित्यिक गतिविधियों, संवादों और विचार-विनिमय से सक्रिय रूप से जुड़ा हुआ एक जीवंत अनुभव था। "साहित्यकर्मियों की यह पीढ़ी नए रचनाकारों की थी। इनकी सोहबत का सबसे बड़ा लाभ यह हुआ कि साहित्य की नई प्रवृत्तियों, रचनाओं और गतिविधियों से मेरा जीवन्त सम्पर्क बना रहा। यह बात अलग है कि विश्वविद्यालय के शैक्षिक तंत्र में भी मेरी संलग्नता कम नहीं हुई। अकादमिक कार्यक्रमों के सिलसिले से शहर के सभी प्रतिष्ठित रचनाकारों से मेरे अच्छे-भले सम्बन्ध कायम हो गए। इनमें राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त के अलावा, कवि नरेन्द्र शर्मा, दिनकर जी, भवानीप्रसाद मिश्र, जैनेन्द्र जी जैसे तमाम नाम शामिल थे। डॉ. लक्ष्मीनारायण लाल, डॉ. महीप सिंह आदि से परिचय विश्वविद्यालय के द्वारा आयोजित कार्यक्रमों के बीच हुआ। कुल मिलाकर साहित्यिक-शैक्षिक जीवन की एक लय बन गई।" 157 उपरोक्त अंश में वे उस समकालीन साहित्यिक परिवेश का चित्र प्रस्तुत करती हैं, जिसमें वे नई रचनात्मक ऊर्जा और बौद्धिक विमर्श के बीच सशक्त उपस्थिति दर्ज कराती हैं।

वे बताती हैं कि साहित्यकर्मियों की नई पीढ़ी के साथ उनका निरंतर संपर्क बना रहा, जिससे वे समकालीन साहित्य की प्रवृत्तियों और विचारों से आत्मसात होती रहीं। यह संपर्क केवल निजी नहीं था, बल्कि विश्वविद्यालय के अकादमिक परिवेश के माध्यम से भी अनेक

प्रतिष्ठित साहित्यकारों से उनका गहरा संवाद स्थापित हुआ। यह स्थिति उन्हें साहित्य और शिक्षा के मध्य एक संवादी पुल के रूप में प्रस्तुत करती है। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त, नरेन्द्र शर्मा, दिनकर, भवानीप्रसाद मिश्र, जैनेन्द्र जैसे साहित्यकारों का उल्लेख उनके अनुभव को ऐतिहासिक और कालजयी बनाता है। यह कथन इस बात का प्रमाण है कि निर्मला जैन का साहित्यिक जीवन सक्रिय, संवादधर्मी और वैचारिक दृष्टि से संपन्न रहा, जिसने उनकी आलोचना-दृष्टि और शिक्षकीय भूमिका दोनों को गहराई दी।

निर्मला जैन विश्वविद्यालय से संबंधित एक क़िस्सा बताते हुए कहती हैं कि उनका जीवन केवल पारिवारिक और शैक्षणिक अनुभवों तक सीमित नहीं रहा, बल्कि वह हिंदी साहित्य के महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्वों और संस्थानों से सक्रिय रूप से जुड़ा रहा।"इधर में दिल्ली विश्वविद्यालय के दक्षिण परिसर में रीडर-पद पर नियुक्त हो गई और उधर नामवर जी ने जोधपुर विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के प्रोफेसर-अध्यक्ष का दायित्व सम्हाला। जब वे दिल्ली से जोधपुर के लिए रवाना हुए तो हवाई अड्डे पर उन्हें विदा करने के लिए मैं, जैन साहब और भारतभूषण अग्रवाल— तीन ही व्यक्ति थे। दरअसल निकटता तो उनकी मेरे सभी मित्रों से थी, पर भारत जी से अतिरिक्त सम्पर्क इस कारण रहने लगा था कि भारत जी अपने शोध-प्रबन्ध के विषय पर उनसे अक्सर विचार-विमर्श किया करते थे।" पृष्ठ ,190

यह अंश साहित्यिक संबंधों के उस आत्मीय पक्ष को उजागर करता है, जहाँ विद्वान आपसी मित्रता, बौद्धिक आदान-प्रदान और व्यक्तिगत सरोकारों से एक-दूसरे के जीवन का हिस्सा बनते हैं। लेखिका नामवर सिंह के जोधपुर प्रस्थान का वर्णन करते हुए उनकी और भारतभूषण अग्रवाल के बीच चल रहे बौद्धिक संवाद का उल्लेख करती हैं, जो उनके आत्मीय संपर्क की पृष्ठभूमि को रेखांकित करता है। यह प्रसंग इस बात का संकेतक है कि निर्मला जैन न केवल एक गंभीर शिक्षाविद् और आलोचक थीं, बल्कि हिंदी साहित्य के जीवंत सांस्कृतिक-वैचारिक परिप्रेक्ष्य की भी सक्रिय साक्षी रहीं। उनका जीवन और लेखन दोनों ही

उस संवादशीलता और सहभागिता से समृद्ध हैं, जो साहित्यिक आत्मकथाओं को एक ऐतिहासिक और सामाजिक दस्तावेज़ का स्वरूप प्रदान करते हैं।

इस तरह, हिंदी की स्त्री आत्मकथाएँ—जैसे प्रभा खेतान की 'अन्या से अनन्या', मन्नू भंडारी की 'एक कहानी यह भी', कुसुम अंसल की 'जो कहा नहीं गया', शीला झुनझुनवाला की 'कुछ कही कुछ अनकही', निर्मला जैन की 'जमाने में हम'—केवल वैयक्तिक जीवन की घटनाओं का संकलन नहीं हैं, बल्कि वे भारतीय समाज में स्त्री के अनुभवों, संघर्षों, अस्मिता और चेतना का दस्तावेज बनती हैं। इन आत्मकथाओं में स्त्री-जीवन के उन पक्षों को वाणी दी गई है जो परंपरागत साहित्य में लंबे समय तक उपेक्षित या विकृत रूप में प्रस्तुत होते रहे।

इन आत्मकथाओं में स्त्रियाँ सामाजिक संरचना, दांपत्य संस्था, परिवार और साहित्यिक/बौद्धिक दुनिया में अपने लिए स्थान तलाशती दिखाई देती हैं। प्रभा खेतान जैसी स्त्री आत्मचेतना के साथ कहती हैं कि उनकी मुक्ति सिर्फ सामाजिक सीमाओं से नहीं, बल्कि मानसिक और भावनात्मक गुलामी से भी होनी चाहिए। मन्नू भंडारी एक लेखिका होने के साथ-साथ पत्नी, माँ और सामाजिक व्यक्ति की भूमिका के अंतर्द्वंद्व को व्यक्त करती हैं, जहाँ लेखन और स्त्रीत्व के बीच का तनाव स्पष्ट रूप से उभरता है।

कुसुम अंसल की लेखनी में आत्मसंदेह, अकेलापन और सामाजिक अस्वीकार की पीड़ा है, लेकिन उसके भीतर आत्मचिंतन और आत्मस्वीकृति की प्रक्रिया भी है। वहीं शीला झुनझुनवाला की आत्मकथा में एक मध्यवर्गीय लड़की की दमनकारी पारिवारिक संरचना से संघर्ष की मार्मिक यात्रा मिलती है, जो बचपन से लेकर विवाह, मातृत्व और समाज की अपेक्षाओं तक फैली हुई है। वे स्पष्ट कहती हैं कि अन्याय को सहना और चुप रहना उन्हें स्वीकार नहीं।

निर्मला जैन की 'जमाने में हम' आत्मकथा अपेक्षाकृत शांत, विवेकशील और विचारप्रधान है, जो स्त्री के बौद्धिक आत्मविश्वास को रेखांकित करती है। वे साहित्यिक दुनिया में संवाद, संपर्क और लेखकीय गरिमा के साथ अपनी उपस्थिति दर्ज कराती हैं। इन

सभी आत्मकथाओं का साझा स्वर है—स्वतः के अस्तित्व की खोज। इन लेखिकाओं ने आत्मकथा को सिर्फ एक विधा नहीं, बल्कि स्त्री विमर्श के प्रतिरोधी औज़ार की तरह प्रयुक्त किया है। आत्मकथाओं में वर्णित व्यक्तिगत अनुभव दरअसल सामूहिक स्त्री यथार्थ की प्रतिनिधि अभिव्यक्तियाँ हैं, जो हिंदी साहित्य को नारी दृष्टि और सामाजिक न्याय की नई दृष्टि प्रदान करती हैं।

आधार ग्रंथ—

1. आरोह–अवरोह, सुषम वेदी; सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली : संस्करण 2022
2. पिंजरे की मैना, चंद्र किरण सौनरेक्सा; पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण : 2022
3. कुछ कहीं कुछ अनकही, शीला झुनझुनवाला, डी.पी. झुनझुनवाला दिल्ली, सं.: 2001
4. जमाने में हम, निर्मला जैन; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण : 2016

4.2

हिंदी की स्त्री-आत्मकथाओं से संबंधित स्त्री-विमर्श की दिशा

पिछले कुछ दशकों में स्त्री-विमर्श ने सृजनात्मक क्षेत्र के साथ-साथ 'वैचारिकी' में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। स्त्री-विमर्श की वैचारिक पृष्ठभूमि— आधुनिक पश्चिमी विचारधारा; विशेषकर फ्रांसीसी, अमेरिकी और ब्रिटिश नारीवादी आंदोलनों से जुड़ी हुई है। हालाँकि "स्त्री विमर्श का आंदोलन पश्चिम से आया कि भारत में जन्मा यह चिंता या चिंतन का विषय नहीं है।"*1 सिमोन द बोउवार की रचना 'दी सेकंड सेक्स' (1949) ने यह उद्घाटित किया कि स्त्री की सामाजिक स्थिति 'पैदायशी' नहीं, बल्कि एक सांस्कृतिक निर्माण है—'स्त्री पैदा नहीं होती, बना दी जाती है।' मिशेल फूको के 'पावर रिलेशन' सिद्धांत और जैक्स देरिदा के 'विखंडनवाद' ने स्त्री विमर्श को गहराई दी, जिसमें स्त्री को एक 'अन्य' के रूप में समझते हुए पितृसत्ता की पूर्वाग्रह ग्रसित भाषिक और वैचारिक संरचनाओं पर सवाल खड़े किए गए।

हिंदी साहित्य में स्त्री-विमर्श का विकास— सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक संघर्षों की पृष्ठभूमि में हुआ। "विमर्श गम्भीर है, सूचनापरक भी है। ऐतिहासिक है और सामयिक भी है।"2 प्रो. गिरीश रस्तोगी कहते हैं कि, "स्त्री विमर्श एक नाजुक और गम्भीर विषय है। इसे लेकर दो दशकों से अलग वैचारिकता बन रही है। इसमें कई बातें एक साथ आती हैं। एक तरफ चिन्तन है जिसे वैचारिक दर्शन या सैद्धान्तिक लेखन कह सकते हैं। दूसरी तरफ नारी चेतना का सारा प्रसंग है, नारी संगठन या नारीवादी आन्दोलन है। वह एक बिल्कुल अलग स्तर पर एक चीज है, जो बहुत पहले से चली आ रही है। तीसरे स्तर पर वह लेखन है, जहाँ रचनाकार क्या सोचता है, क्या करता है, किस तरह भाषा से अपनी बात कह लेता है। रचनाकार अपने लेवल पर अपनी तरह से सोचता है और कहता है। ये धरातल स्त्री को अलग-अलग तरह से केन्द्रित करते हैं। उनके अनुभव भी भिन्न होते हैं।"*3

प्रारंभिक साहित्य में स्त्री की छवि सीमित और परम आदर्शवादी थी, किंतु आधुनिक युग में वह यथार्थ से जुड़ी हुई और प्रतिरोधात्मक स्वरूप से भरी हुई दिखी। हालाँकि आज भी स्त्री-समर्थता के क़िस्से गए जाते हैं। इस विषय में आलोचक अरविंद जैन का कहना है कि, "स्त्री-संदर्भ में झूठ की इस संरचना को तोड़ना इतना आसान है भी नहीं। विखंडन-प्रक्रिया के जरिए भी इस मिथक को हम इतनी जल्दी अनावृत नहीं कर पाएँगे। स्त्री-विरोधी वाक्यों और इन विशेषणों से हमारे शास्त्र भरे पड़े हैं। इन जुमलों को सुनना और झेलना औरत की नियति रही है। सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक संस्थाओं के माध्यम से पुरुषवर्ग की सुदृढ़ता और ठस्सेपन पर भला किसे शक होगा! कारण, पितृसत्ता की इस वैचारिक व्यवस्था का इतिहास बड़ा प्राचीन है जो अपनी प्रामाणिकता और मूल्यों का आधिपत्य बनाए रखने की कोशिश में सामूहिक जनमानस का नियंत्रण करता रहा है।"*4 अब; इक्कीसवीं शताब्दी में आत्मकथा, डायरी, ब्लॉग और विभिन्न सोशल मीडिया माध्यमों से यह विमर्श सशक्त, बहुस्तरीय और पितृसत्ता को चुनौती देने वाला वैचारिक आंदोलन बन चुका है।

स्त्री-विमर्श न केवल स्त्री-पुरुष के आपसी संबंधों को 'साहित्यिक कैन्वस' प्रदान करता है बल्कि 'साहित्यिक अवधारणाओं' को भी नया कलेवर प्रदान करता आ रहा है। आधुनिक सैद्धांतिकी की कई ऐसी अवधारणाएँ/विमर्श हैं जो स्त्री-विमर्श से साहचर्यिक रूप में जुड़ी हुई हैं। फिर चाहे वो— विखंडनवाद हो, संरचनावाद-उत्तर संरचनावाद हो, आधुनिकता-उत्तर आधुनिकतावाद हो, अंतर-पाठीयता हो अंतर-अनुशासनिकता— सभी के द्वारा स्त्री-विमर्श को एक नई दिशा मिली है।

इसी के बरक़्स प्रसिद्ध आलोचक सुधीश पचौरी सैद्धांतिकी की समीक्षा हितवादी नज़रिए से करते हुए कहते हैं कि, "ईगलटन मानते हैं कि सभी तरह की सिद्धान्तिकी हितवादी है, सत्तावादी है। 'लिटरेरी थियरी : एन इंट्रोडक्शन' में ईगलटन बताते हैं, ज्ञान कभी मूल्य निरपेक्ष नहीं होता। 'फंक्शन ऑफ क्रिटिसिज्म' में टैरी ईगलटन कहते हैं कि साहित्यिक समीक्षा का एक अपराध यह रहा है कि वह स्वयं अपनी निहित राजनीति के प्रति असचेत रही

है। साहित्य की सिद्धान्तिकी की आलोचना इसलिए नहीं होनी चाहिए कि वे राजनीतिक हैं, बल्कि इसलिए होनी चाहिए कि जाने-अनजाने वे जिसे तकनीकी, स्वयं उपस्थित, वैज्ञानिक, सार्वभौमिक मूल्य सिद्धान्त कहती हैं, उसके प्रति अंधी होती हैं। इस बात को आसानी से देखा जा सकता है कि वे किसी न किसी समूह के हित का साधन करती हैं। ईगलटन के लिए आलोचना की प्रकृति अनिवार्यतया राजनीतिक ही है। राजनीतिक यानी सामाजिक जीवन को संगठित।"*5

अर्थात् टैरी ईगलटन यह स्पष्ट करते हैं कि साहित्यिक सिद्धान्त हमेशा किसी न किसी सामाजिक या राजनीतिक उद्देश्य से प्रेरित होते हैं। वे यह मानते हैं कि आलोचना की प्रक्रिया मूल्य-निरपेक्ष नहीं हो सकती, क्योंकि उसका आधार ही किसी विशेष विचारधारा या वर्ग के हितों से जुड़ा होता है। ईगलटन की दृष्टि में साहित्यिक समीक्षा को केवल तकनीकी या वैज्ञानिक दृष्टि से नहीं देखा जा सकता, क्योंकि वह अनजाने में भी किसी सत्ता संरचना को समर्थन देती है। पचौरी इस विचार को रेखांकित करते हैं कि समीक्षा का कार्य मात्र सौंदर्यबोध तक सीमित न होकर सामाजिक जीवन की संरचना में हस्तक्षेप करने वाला एक सक्रिय कर्म है। अतः साहित्यिक आलोचना को उसकी निहित राजनीति और वर्ग-हितों के आलोक में देखा जाना आवश्यक है।

इसी वर्गहित में निहित स्त्री-विमर्श पर आधारित स्त्री-साहित्य या विशेषकर स्त्री-आत्मकथाओं में एक प्रमुख बिंदु 'सम्बन्धों का ईकोटोन' है, जहाँ पर 'स्त्री' और 'पुरुष' — 'The Self' and 'the Other' की भूमिका में होते हैं। 'स्व' और 'अन्य' की इस भूमिका ने स्त्री-विमर्श के दिशा निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। साथ ही, स्त्री-विमर्श के परिप्रेक्ष्यों को नए आयामों तक पहुँचाने में भी योगदान दिया है।

इस 'The Self and the Other' का सिद्धांत को स्त्री-विमर्श और स्त्री-आत्मकथाओं के परिप्रेक्ष्य में समझने के लिए इसकी सैद्धांतिकी को समझना होगा—

- G.W.F. Hegel ने पहली बार 'Self and the Other' के सम्बंध की बुनावट को master-slave dialectic के रूप में पेश किया।
- Jacques Lacan ने मनोविश्लेषण में इसका उपयोग किया और बताया कि —बच्चा 'स्व' की पहचान करता है जब वह दर्पण में अपनी छवि को 'दूसरे' के रूप में देखता है। यह उसकी कामना है और लाकां मानता भी है कि "कामना; अभाव का पुनर्जीवन है।"*6
- Edward Said ने इसे अपने प्रसिद्ध ग्रंथ 'Orientalism' (1978) में लागू किया और उपनिवेशवाद के संदर्भ में 'वाइट मैन बर्डन' की थ्योरी को समझाते हुए बताया कि— पश्चिम ने पूर्व को "दूसरा" (Other) मानकर खुद को श्रेष्ठ ठहराया। सुधीश पचौरी लिखते हैं कि, "एडवर्ड सईद का सबसे बड़ा काम 'ओरियंटलिज्म है। उनका मानना है कि 'पूरब' की परिकल्पना एक निष्क्रिय प्रक्रिया थी जिसे बाद में पश्चिमी विमर्श ने बनाया। 'पूरब' कहीं नहीं है। वह पश्चिमी इतिहास के विमर्श ने बनाया है और वही है। पश्चिम द्वारा निर्मित 'ओरियंटलिज्म' नए किस्म का सांस्कृतिक रूपक है। यह अधीनता का रूपक है। पूरब की उपेक्षा के बारे में कहना इसलिए व्यर्थ है। सार्थक है तो पूरब से प्रतिरोधी विमर्श बनाना और प्रतिरोधी से भिड़ाना है। इसलिए लेखक सिर्फ लिखता नहीं है। वह किसी न किसी लेखन या विमर्श के खिलाफ ही लिखता है। यह एक नैतिक स्थिति है जो 'ओरयिंटलिज्म' में व्यापी हुई है।"*7
- Simone de Beauvoir ने स्त्री को पीड़ित 'the Other' के रूप में देखा—जहाँ पुरुष स्वतत्वाधिकारी 'Self' है।

वस्तुतः 'The Self and the Other' एक ऐसा ढाँचा है जो यह समझने में मदद करता है कि सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक पहचान कैसे बनती है, और कैसे सत्ता-ढाँचे 'दूसरे' को निर्माण करके 'स्व' को स्थापित करते हैं। यह विचार विमर्शों में स्वतंत्रता, अस्मिता, हाशियाकरण और प्रतिरोध की जटिलताओं को उजागर करता है।

सांस्कृतिक-अध्ययन के जानकार अविनीश प्रकाश सिंह का इस विषय में मानना है कि, 'The Self' और 'The Other'— दो समानांतर पक्षों के मध्य का जटिल-संवाद है। 'सेल्फ़' एक ऐसा टर्म है जो 'निज' की विशिष्टताओं को किसी 'ग़ैर' की भिन्नताओं के सामने पुष्टता के साथ लेकर मौज़ूद होता है। 'सेल्फ़' वस्तुत: बहुस्तरीय है।

इसी संदर्भ से, स्त्री-विमर्श के विशद कैनवस पर 'पुरुष' स्व है तो स्त्री 'अन्य' है। इस स्व और अन्य का आपसी ढाँचा ही स्त्री साहित्य का तानाबाना बुनता है। स्त्री आत्मकथा लेखन 'The Self and the Other' सिद्धांत की दृष्टि से एक गहन वैचारिक हस्तक्षेप है, जहाँ स्त्री लेखिका 'स्व' (Self) की पहचान की पुनर्रचना करती है—उस समाज में जहाँ उसे सदियों से 'दूसरा' (Other) मानकर उसके अस्तित्व, इच्छाओं, अनुभूतियों और अनुभवों को दरकिनार किया गया। पितृसत्तात्मक व्यवस्था में स्त्री को हमेशा पुरुष की परछाई के रूप में देखा गया है। उसे 'अबला' 'पत्नी' 'माँ' बहन' 'देह' 'अर्धांगिनी' 'निर्भर' के रूप में परिभाषित किया गया न कि एक स्वतंत्र, स्वायत्त व्यक्तित्व के रूप में। ऐसे में जब स्त्रियाँ जब आपबीती लिखती हैं तो वे न केवल अपने जीवन की कथा कहती हैं बल्कि 'स्व' के दमन को उजागर करते हुए अपनी अस्मिता की पुनर्स्थापना भी करती हैं।

'The Self and the Other' के संदर्भ में स्त्री-आत्मकथाएँ यह दिखाती है कि कैसे स्त्री को समाज, धर्म, परिवार और सत्ता-संस्थाओं ने 'दूसरा' बना दिया। उदाहरण के लिए मन्नू भंडारी, मैत्रेयी पुष्पा, प्रभा खेतान, शीला झुनझुनवाला, कुसुम अंसल, कृष्णा अग्निहोत्री, चंद्रकांता, चंदकिरण सोनरेक्सा, चंद्रकांता, निर्मला जैन जैसी लेखिकाओं की आत्मकथाओं में बार-बार यह प्रश्न उभरता है— क्या स्त्री का कोई 'अपना' जीवन, इच्छाएँ और स्वप्न हो सकते हैं!! या उसे हमेशा किसी अन्य की ग़ुलाम बनकर जीना होगा? मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा 'कस्तूरी कुण्डल बसै' में स्त्री 'स्व' की खोज एक विद्रोह के रूप में सामने आती है, जहाँ वह समाज द्वारा आरोपित सीमाओं को तोड़ती है।

यह आत्मकथाएँ स्त्री के प्रामाणिक अनुभव-जगत को 'स्व' के रूप में स्थापित करती हैं। जहाँ पहले; स्त्री 'पुरुष के नज़रिए' से स्वयं के बारे लिखती थी, वहीं अब वह स्वयं को स्वयं की दृष्टि से प्रस्तुत कर रही है। यह लेखन 'स्व' की उस प्रक्रिया को दर्ज करता है, जहाँ 'दूसरे' की मनमानी उपाधि को अस्वीकार करके आत्म की पुनर्व्याख्या होती है। उदाहरणार्थ, कमला दास (कमला सुरय्या) की आत्मकथा 'My Story' में स्त्री-देह, यौनिकता और निज-स्वतंत्रता जैसे विषयों को स्पष्टतः प्रस्तुत किया गया है— यह एक 'अधीन Other' के विद्रोह का घोष है।

स्त्री-आत्मकथाएँ 'The Self and the Other' की उस दार्शनिक और परम्परागत सीमा को चुनौती देती हैं जो स्त्री को हमेशा निर्धारित दायरे में रखती आई हैं। ये आत्मकथाएँ 'अन्यीकरण' की प्रक्रिया को उजागर करती है कि कैसे भाषा, परिवार, विवाह-संस्था, धर्म और शिक्षा— स्त्री को 'दूसरा' सिद्ध करती हैं। लेकिन यही आत्मकथा-लेखन उस 'अन्यीकरण' का समर्थ प्रतिरोध भी बन जाती है। अब स्त्री स्वयं को ही 'सब्जेक्ट' बनाकर लिख रही हैं— अपने अनुभवों को स्वयं की आपबीती अनुसार, न कि समाज द्वारा प्रदत्त 'स्त्री की भाषा' में जो कि एक पुंसवादी भाषा है। स्त्री-आत्मकथाओं का यह लेखन 'स्व' और 'अन्य' की संकुचित पारंपरिक सीमा-रेखाओं को विदीर्ण कर देता है।

अंततः स्त्री आत्मकथा लेखन 'Self and the Other' के विमर्श में एक क्रांतिकारी सहयोग है क्योंकि ऐसा समूचा लेखन स्त्री को 'दूसरे' की कैद से मुक्त करके 'स्व' के अन्वेषण में ले जाता है। यह आत्मकथाएँ न केवल स्त्री की सामाजिक-सांस्कृतिक-राजनीतिक अस्मिता को उभारती हुई पुष्ट करती हैं बल्कि यह भी सिद्ध करती हैं कि, स्त्री स्वयं एक बौद्धिक, तार्किक, संवेदनशील, विचारशील इकाई है, जिसे अब और अधिक समय तक 'Other' नहीं कहा जा सकता। स्त्रियाँ अब लेखन में— जीवन में और चेतना में— स्वयं को मज़बूत'स्व' के रूप में स्थापित कर चुकी है और अभी भी सन्नद्ध है।

उदाहरण लिए मैत्रेयी पुष्पा अपनी आत्मकथा ‘कस्तूरी कुण्डल बसै’ में कहती हैं कि — ‘औरत की देह पर सबका हक होता है, उसका अपना कुछ नहीं होता।’ यह उद्धरण स्त्री की 'Othering' को दर्शाता है—जहाँ उसका अपना अस्तित्व, इच्छा, और निर्णय पुरुषों द्वारा नियंत्रित किया जाता है। आत्मकथा में लेखिका ‘स्व’ की खोज के लिए इस सामाजिक व्यवस्था से लगातार टकराती हैं। उषा प्रियंवदा अपनी आत्मकथात्मक लेख ‘वह भी कोई देस है’ कहती हैं कि, ‘औरत जब अपने बारे में बोलती है, तो वह सिर्फ अपनी कहानी नहीं कहती, वह उन लाखों आवाज़ों को जगह देती है, जो कभी कह नहीं पाईं।’ यह आत्मकथा प्रवासी स्त्री अनुभवों के माध्यम से स्त्री की पहचान के ‘Othering’ को उजागर करती है—दोहरी पराया-पन (नारी होने और प्रवासी होने का) उसकी अस्मिता को जटिल बनाता है।

इन उद्धरणों के माध्यम से स्पष्ट होता है कि स्त्री आत्मकथा लेखन केवल निजी जीवन का वृत्तांत नहीं, बल्कि सामाजिक व्यवस्था, पितृसत्ता और सत्ता-ढाँचों के खिलाफ एक सशक्त प्रतिरोध है। 'The Self and the Other' सिद्धांत के आलोक में, ये आत्मकथाएँ स्त्री के 'स्व' की पुनःस्थापना करती हैं, और 'अन्यीकरण' की व्यवस्था को तोड़ती हैं।

कुसुम अंसल अपनी अपनी आत्मकथा ‘जो कहा नहीं गया’ में लिखती हैं कि “मेरा अपनापन इतना छोटा हो गया था, इतना धूमिल-सा हो गया था कि मैं मजबूर होकर अपने ही अस्तित्व से कतराने लगी थी।”*8 यह वस्तुतः लेखिका अपने ‘स्व’ के विलुप्त होने से दुखी है।वे आगे लिखती हैं कि “मेरे माता-पिता को मेरे लिए अच्छे वर का जुगाड़ करने में एक शर्मिंदगी उठानी पड़ रही है। मेरा पूरा व्यक्तित्व जैसे एक दृष्टा का व्यक्तित्व हो गया था। देख रहा था अपने उस अपनेपन को जो नुमाइशी होकर अपमान से गुज़र रहा था और कुचला जा रहा था। अपने से अपने तक की यह यात्रा बहुत छोटी-सी थी पर उसमें जुड़े कष्ट बहुत बड़े थे। जब भी एकान्त में अपने साथ बैठती अपने सारे अनुभव मैं कोरे कागजों पर उतार देती।”*9 “Self and the Other” सिद्धांत के संदर्भ में यहाँ— स्त्री की आत्मछवि

और समाज द्वारा थोपे गए 'अन्य' की छवि के बीच के संघर्ष को दर्शाता है। यहाँ 'Self' वह स्त्री है जो सोचती, अनुभव करती और आत्मसम्मान रखती है, जबकि 'Other' वह सामाजिक दृष्टि है जो उसे केवल विवाह योग्य वस्तु के रूप में देखती है। माता-पिता द्वारा वर की तलाश इस 'Other' के दबाव में की जा रही क्रिया है। स्त्री स्वयं को जैसे बाहर से देख रही है, वह उसकी आत्मचेतना का द्योतक है, और कोरे काग़ज़ों पर अपने अनुभवों को लिखना 'Self' की पुनः प्राप्ति का माध्यम है।

चंदकिरण सोनरेक्सा अपनी आत्मकथा 'पिंजरे की मैना' में लिखती हैं कि "जिस तरह मायके की ऊँच-नीच को मर्यादाद रखना कन्या का धर्म है, उसी तरह बहू के रूप में ससुराल के लिए भी चारों और सन्तुलन बनाए रखना उसी कन्या का पवित्र कर्म है"*10 यह कथन परंपरागत पितृसत्तात्मक सोच को उजागर करता है, जहाँ स्त्री की भूमिका को केवल संबंधों के निर्वाह और सामंजस्य बनाए रखने तक सीमित कर दिया गया है। उसे सिखाया जाता है कि मायके में वह मर्यादा बनाए रखे और ससुराल में संतुलन बनाए—यानी दोनों ओर अपने अस्तित्व को मिटाकर दूसरों की अपेक्षाओं के अनुरूप स्वयं को ढाले। इस सोच में स्त्री का "स्व" (Self) गौण हो जाता है और उसका समूचा व्यक्तित्व सामाजिक रूप से निर्धारित "अन्य" (Other) की अपेक्षाओं में बंध जाता है। यह दृष्टिकोण स्त्री को स्वतंत्र व्यक्तित्व नहीं, बल्कि संबंधों का साधन मानता है।

कृष्णा अग्निहोत्री ने अपनी आत्मकथा 'लगता नहीं है दिल मेरा' में लिखा है कि "क्या लड़की पैदा होते ही प्रत्येक उम्र व स्थिति में पुरुष के खसोटने की ही वस्तु होती है?" *11 यह प्रश्न एक गहरी सामाजिक विडंबना को उजागर करता है, जहाँ स्त्री को जन्म से ही उपभोग और नियंत्रण की वस्तु मान लिया जाता है। यह सोच पितृसत्ता की जड़ में बैठी हुई है, जो स्त्री की देह, स्वतंत्रता और अस्तित्व पर पुरुष वर्चस्व को नैतिक मान्यता देती है। चाहे वह बालिका हो, किशोरी, पत्नी या वृद्धा—हर स्थिति में उससे अपेक्षित है कि वह पुरुष की इच्छाओं और सामाजिक मर्यादाओं के अनुरूप स्वयं को समर्पित करे। यह व्यवस्था स्त्री को

एक पूर्ण 'स्व' नहीं, बल्कि पुरुष की 'Other' बना देती है, जो केवल उपस्थिति नहीं, उपभोग की वस्तु बन जाती है।

शीला झुनझुनवाला अपनी आत्मकथा 'कुछ कही कुछ अनकही' में लिखती हैं — "हम महिलाओं को सभी क्षेत्रों में ऐसी स्थितियों का सामना करना पड़ता है। उन्हें पग-पग पर अपनी पहचान बनानी पड़ती हैं। हां, एक बार पुरुष-साथियों को यह पता चल जाए कि अंकुर की जड़ कहां है, गहरे नींव में है या ऊपरी सतह में, तो सभी के साथ स्थिति सुधर जाती।"*12 यह कथन कार्यस्थलों और सामाजिक जीवन में महिलाओं की स्थिति पर गहरी टिप्पणी करता है। महिलाएँ हर क्षेत्र में अपनी योग्यता, क्षमता और पहचान को सिद्ध करने के संघर्ष से गुजरती हैं। उन्हें हर कदम पर यह साबित करना होता है कि वे केवल 'स्त्री' नहीं, एक सक्षम व्यक्तित्व हैं। यहाँ "अंकुर की जड़" रूपक के रूप में प्रयुक्त है, जो यह संकेत देता है कि यदि पुरुष साथियों को यह समझ आ जाए कि महिला केवल सतही रूप से नहीं, भीतर से भी मजबूत और रचनाशील है, तो उनके दृष्टिकोण में बदलाव आता है और स्थितियाँ सुधरने लगती हैं। यह परिवर्तन समझ, संवेदनशीलता और सम्मान से जुड़ा है।

स्त्री-विमर्श से सम्बंधित एक नई दिशा 'स्त्री-पुरुष की अवस्था' से मुठभेड़ करती है। ये वैचारिकी इस बात के ख़िलाफ़ है कि 'स्त्री-पुरुष समान हैं'। वस्तुतः पुरुष समाज का औसत हिस्सा ये समझता है कि स्त्री-लेखन का अजेंडा है कि— स्त्री-पुरुष समानता स्थापित करने के लिए ही ये स्त्रियाँ लेखन कार्य करती हैं।

जबकि हक़ीक़त इसके उलट है। एक गम्भीर और वैज्ञानिक समझ के आधार पर स्त्रियों का मानना है कि, स्त्री-पुरुष समान न होकर— विशिष्ट हैं। पुरुष अपनी तरह से 'विशिष्ट' हैं और स्त्रियाँ अपनी तरह से। स्त्रियों का कहना वस्तुतः ये है कि, दोनों को अपनी-अपनी बाययलॉजिकल और नैचरल विशिष्टताओं के आधार पर अपना विकास करके समाज में योगदान करना चाहिए। मुश्किल तब खड़ी होती है जब पुरुष-समाज अपने दायरे का

अतिक्रमण करके स्त्री-अधिकार का अतिक्रमण कर जाता है। इतना ही नहीं, बल्कि— इस समूची पृथ्वी का स्वामी या कर्ता-धर्ता भी स्वयं को मान लेता है।

जबकि सचाई इसके विपरीत है! सचाई यह है कि 'पुरुष' ; समाज की सबसे प्रभावशाली संस्था अर्थात् 'परिवार' का 'अनिवार्य हिस्सा नहीं है'। यहाँ तक कि, समूची प्रकृति में भी 'नर'— 'प्रजनन' के अलावा परिवार का प्राकृतिक हिस्सा नहीं हैं। एक 'माँ' ही है जो 'परिवार' का अनिवार्य हिस्सा है। इस दुनिया में पिता के बिना परिवार हो सकता है, माँ के बिना नहीं। इस नाते, स्त्री-पुरुष की अपनी-अपनी विशिष्टताओं को स्थापित करते हुए किसी अन्य के 'जीवन-क्षेत्र', 'अभिव्यक्ति-क्षेत्र' में— अनधिकार दख़ल न देने की जागरूकता उत्पन्न करने के कारण स्त्री-आत्मकथाएँ प्रासंगिक हैं।

इस प्रकार हिंदी साहित्य में स्त्री-विमर्श की धारा आज एक सशक्त, बहुविध और वैचारिक आंदोलन बन चुकी है, जो पितृसत्ता की सीमाओं को चुनौती देने के साथ-साथ नई भाषिक और भावनात्मक संरचनाओं का निर्माण भी कर रही है। यह विमर्श अब किसी एक रूप या दृष्टिकोण तक सीमित नहीं, बल्कि वह स्त्री जीवन की समग्रता को आत्मसात करने की दिशा में अग्रसर है।

संदर्भ :

1. प्रो. रामकिशोर शर्मा; पुरुष स्त्री का प्रतिपक्ष नहीं (आलेख); स्त्री विमर्श : विविध पहलू ; कल्पना वर्मा (सं), पृष्ठ संख्या17
2. श्यौराज सिंह बेचैन; स्त्री विमर्श और पहली दलित शिक्षिका, पृष्ठ संख्या viii
3. प्रो. गिरीश रस्तोगी; स्त्री विमर्श बहस का नहीं, जागृति का विषय है।(आलेख); स्त्री विमर्श : विविध पहलू ; कल्पना वर्मा (सं), पृष्ठ संख्या 39
4. अरविंद जैन; औरत : अस्तित्व और अस्मिता, पृष्ठ संख्या 12
5. सुधीश पचौरी; उत्तर-आधुनिक साहित्यिक विमर्श; पृष्ठ संख्या 39
6. वही, पृष्ठ संख्या 46
7. वही, पृष्ठ संख्या 42
8. कुसुम अंसल; जो कहा नहीं गया; पृष्ठ संख्या 25
9. वही, पृष्ठ संख्या 28
10. चंदकिरण सोनरेक्सा; पिंजरे की मैना, पृष्ठ संख्या 233
11. कृष्णा अग्निहोत्री ; लगता नहीं है दिल मेरा; पृष्ठ संख्या 61
12. शीला झुनझुनवाला; कुछ कही कुछ अनकही; पृष्ठ संख्या 309

4.3

वैश्वीकरण का हिंदी स्त्री-लेखन पर प्रभाव

वैश्वीकरण एक ऐसी बहु-स्तरीय और बहुमुखी प्रक्रिया है। विश्व की विभिन्न अर्थव्यवस्थाओं, संस्कृतियों, राजनैतिक व्यवस्थाओं और समाजों को परस्पर निकट लाने की वृहद् क्रिया को वैश्वीकरण से अभिहित किया जा सकता है, जिसमें सामान्यतः सूचनाओं, वस्तुओं, सेवाओं, पूँजी और मानव-संसाधनों का एक देश से दूसरे देश में प्रवाह शामिल है। इसे भूमंडलीकरण, ग्लोबलाइज़ेशन, ग्लोबीकरण, जगतीकरण या विश्वायन नामों से भी जाना जाता है। "भूमण्डलीकरण आधुनिकता में अंतर्निहित एक अत्यंत शक्तिशाली प्रवृत्ति है। आधुनिक युग के विभिन्न चरणों मैं यह प्रक्रिया भिन्न भिन्न रूपों में चलती रही हैं। एक से अधिक भूमंडलीकरण आपस में प्रतियोगिता भी करते रहे हैं लेकिन इस बार इसका प्रभाव बुनियादी रूप से परिवर्तनकारी प्रतीत हो रहा है क्योंकि सांस्कृतिक जीवन के विभिन्न भूक्षेत्र— सीमाओं से परे जाकर अपनी व्यक्ति करने लगे हैं। इस प्रक्रिया को 'डिटेरिटोरियलाइज़ेशन' की संज्ञा भी दी जाती है।"*1 वर्तमान समय में वैश्वीकरण एक ऐसी अवधारणा के तौर पर उभरा है जहाँ परस्पर आवाजाही के बीज-मूल्य के अलावा भी अन्य महत्वपूर्ण मूल्य शामिल हुए हैं— जिनसे वैश्वीकरण का स्वरूप वृहद्तर हुआ है।

"भूमण्डलीकरण की आधारशिला रखने में आधुनिकता के तहत प्रगति के विचार ने भी प्रमुख भूमिका निभायी है प्रगति के दर्शन का विकास ज्ञानोदय की अवधि में हुआ विज्ञान और वैज्ञानिक मानस की अवाधारणाओं के उदय को आधार बनाते हुए प्रगति के दर्शन में अपने समय के धार्मिक जड़ सूत्रवाद की जकड़ से मुक्ति की सम्भावनाएँ जगायीं। फ्रांस से शुरू हो कर जल्दी ही यह विचार पूरे युरोप में फैल गया और फिर उसने सर्वाधिक प्रभावशाली विश्व-दृष्टिकोणों में से एक का रूप ग्रहण कर लिया।"2 अर्थात् भूमण्डलीकरण की नींव आधुनिकता और प्रगति के विचारों पर टिकी है। ज्ञानोदय काल में वैज्ञानिक सोच

और तर्क की प्रधानता ने धार्मिक जड़ता को चुनौती दी। यह नया दृष्टिकोण फ्रांस से आरंभ होकर समूचे यूरोप में फैला और विश्व-दृष्टिकोण को गहराई से प्रभावित करने लगा। इस प्रक्रिया में 'प्रगति' केवल तकनीकी विकास नहीं, बल्कि मानसिक मुक्ति और सामाजिक परिवर्तन का प्रतीक बन गई। आधुनिकता ने मनुष्य को केन्द्र में रखकर नई सम्भावनाओं के द्वार खोले। इस प्रकार प्रगति का दर्शन भूमण्डलीकरण की वैचारिक पृष्ठभूमि बना, जिसने पारंपरिक सीमाओं को चुनौती दी।

'वैश्वीकरण' के अन्तर्निहित अर्थ को इतने में ही समेट पाना नामुमकिन है। यही कारण है कि समाजशास्त्री हरिकृष्ण रावत 'उच्चतर समाजशास्त्र विश्वकोश' में इस बात को स्वीकार करते हुये कहते हैं— "भूमण्डलीकरण कोई 'एक परिघटना' नही है, अपितु यह 'कई घटनाओं की घटना' है। यह एक प्रक्रिया और परिघटना दोनों है; इसके कई आयाम और अनेक चेहरे हैं— आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक, पारिस्थितिक इत्यादि। अन्ततः इसकी व्याख्या भी अलग-अलग ढंग से की गई है।"*3 इन्हीं सब कारणों से विभिन्न विद्वानों एवं अर्थशास्त्रियों द्वारा विभिन्न समय-समाजों में इसकी अभिगम्यता भिन्न-भिन्न दिखाई पड़ती है। राबर्टसन के अनुसार, "वैश्वीकरण वस्तुतः जनचेतना का हिस्सा है। वैश्वीकरण विश्वव्यापी विचारों से निर्मित होने वाली प्रक्रिया का मुख्य आधार है। इस प्रक्रिया से वैश्वीकरण विश्व के विभिन्न समाजों को संयुक्त करता है।"4 अर्थात् वैश्वीकरण केवल आर्थिक या राजनीतिक घटना नहीं, बल्कि जनचेतना से जुड़ी एक जीवंत प्रक्रिया है। यह विविध समाजों को जोड़ने वाला विचारात्मक सेतु है, जो वैश्विक दृष्टिकोण को निर्मित करता है। विभिन्न संस्कृतियाँ, मूल्य और अनुभव इसमें सम्मिलित होकर एक साझा मानवता का निर्माण करते हैं। इस प्रकार वैश्वीकरण आज की सामाजिक चेतना का अभिन्न अंग बन चुका है।

इतिहास में वैश्वीकरण जैसी प्रक्रिया का आरंभ हमें चीन-भारत-यूरोप के प्रसिद्ध व्यापारिक मार्ग 'सिल्क रूट' के रूप में पता है। लेकिन, आधुनिक अर्थों में बतौर एक

'वैचारिकी' और 'सैद्धांतिकी'— वैश्वीकरण की प्रक्रिया 15वीं शताब्दी से उपनिवेशवाद के साथ प्रारंभ हुई। 19वीं सदी के उत्तरार्ध में औद्योगिक क्रांति के बाद इसका विस्तार हुआ। हालांकि; वर्तमान स्वरूप में वैश्वीकरण 20वीं सदी के उत्तरार्ध, विशेषकर 1990 के बाद और शीत युद्ध की समाप्ति के बाद तेज़ी से सामने आया, जब विश्व व्यापार संगठन, अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक जैसे संस्थानों ने वैश्विक व्यापार को प्रोत्साहन देना शुरू किया; या कह लें कि, वैश्विक व्यापार को अपने फ़ायदे के लिहाज़ से सांस्थानिक तरीक़े से नियंत्रित करना शुरू किया।

वास्तव में, जब पश्चिमी देशों में 'एनलाइटेनमेंट' और 'रिनेसां' के बाद उनकी सभ्यता में जागरूकता आयी तो उन्होंने 'यूनिवर्सल चर्च सिस्टम' के कठोर धर्मिक नियमों को विनयपूर्वक नकारा। और, इस नकारने में उन्होंने वैज्ञानिक सोच-समझ को महत्व दिया जिससे पश्चिम में तकनीकी को विकसित होने का अवसर मिला। इस तकनीकी विकास ने आगे चलकर जब 'उत्पादन' में 'अधिशेष' की अवस्था हासिल कर ली तो उन्हें नए बाज़ारों की ज़रूरत हुई। इसी क्रम में वैश्वीकरण जैसी प्रकिया को बल मिला।

पश्चिमी देशों, विशेषकर अमेरिका, कनाडा और समूचे यूरोप ने वैश्वीकरण को एक अनुकूल आर्थिक अवसर के रूप में देखा। उन्होंने नव-उदारवादी आर्थिक नीतियों को अपनाकर अपने बाज़ारों को निर्यात के लिए प्रेरित किया और गरीब देशों में पूँजी निवेश किया। भूमण्डलीकरण ने वहाँ तकनीकी प्रगति को बढ़ाया, लेकिन इससे श्रमिक वर्ग पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा, क्योंकि कई उद्योग सस्ते श्रम वाले देशों में स्थानांतरित हो गए। तकनीकी के कारण ही कई देशों के कुटीर उद्योग, हस्तशिल्प, स्थानीय व्यापार आदतें विनष्ट हो गई या कह लें कि नष्ट कर दी गई। इसके साथ ही, सांस्कृतिक विविधता को लेकर भी चिंता बढ़ी, क्योंकि भूमण्डलीकरण ने उपभोक्तावादी जीवनशैली को बढ़ावा दिया।

भारत में वैश्वीकरण की प्रक्रिया 1991 में आर्थिक उदारीकरण की नीतियों के साथ आरंभ की। विदेशी निवेश के लिए दरवाजे खोले गए, सरकारी नियंत्रण कम किया गया और

निजीकरण को बढ़ावा दिया गया। इसका असर देश की अर्थव्यवस्था, शिक्षा, सूचना प्रौद्योगिकी और उद्योगों पर पड़ा। "भारत ने भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया में अपनी भागीदारी घोषणापूर्वक 1990 में शुरू की, पर उसकी भूमिका दुनिया के अन्य हिस्सों के भूमण्डलीकरण की तरह अस्सी के दशक में ही बननी शुरू हो चुकी थी। अस्सी के दशक में ही अनिवासी भारतीय (एन.आर.आई) नामक समुदाय का भारतीय अर्थतंत्र के लिए महत्त्व बढ़ा। यह राष्ट्रवाद की पारम्परिक अवधारणा में तब्दीली का संकेत था। इसका मतलब था कि भारतीय राष्ट्र के हित देश की भौगोलिक सीमाओं के परे भी स्थित हो सकते थे।"*5 हालाँकि, वैश्वीकरण के तमामतर फ़ायदों के साथ इसके नकारात्मक प्रभाव भी हैं—कृषि संकट, स्थानीय उद्योगों की समाप्ति, आर्थिक असमानता, सांस्कृतिक असंतुलन और उपभोक्तावाद जैसी समस्याएँ उभरी हैं।

वर्तमान में वैश्वीकरण एक ऐसी परियोजना हो गई है जिसमें आधुनिक राष्ट्रों के समूचे सम्बंध गुँथे हुए हैं। वस्तुतः यह एक ऐसी व्यवस्था बनकर उभरी है जिसमें 'मज़बूत पक्ष' ज़्यादा मज़बूत होता जाता है और 'कमजोर पक्ष' और ज़्यादा कमजोर होता जाता है। यहाँ too big too fail वाली स्थिति उत्पन्न होती है क्योंकि जितन बड़ा और संसाधनपूर्ण राष्ट्र और उतना ही प्रभावशाली जिससे उसके फेल होने की सम्भावना उतनी ही कम होती जाती है। और, first come benefit वाला मुहावरा भी वैश्वीकरण की एक नई विशेषता बन गया है क्योंकि इस प्रक्रिया में जिस देश के पास संसाधन हैं वह अपने संसाधनों के दम पर बाज़ार में अनुचित तरीक़े से अन्य राष्ट्रों की हक़मारी करता है।

समाज-विज्ञानी आलोचक अभय कुमार दुबे लिखते हैं कि "भूमंडलीकरण; 'पूँजी' के आज तक प्रकट हुए सर्वाधिक संकेंद्रित और प्रभुत्वशाली रूप का नाम है. यह पूंजीवाद के तीसरे चरण का प्रतिनिधित्व करता है. इसने बाजार का एकीकरण करते हुए उसका चौतरफा बोलबाला कर दिया है. इस प्रक्रिया ने बहुत कम समय में, केवल बीस वर्ष की अल्पावधि में ही, भूमंडलीकरण के राज्य और पूंजीवादी आधुनिकीकरण को परंपरा, धर्म और रीति-रिवाजों

के एजेंट का रूप देने में सफलता प्राप्त कर ली है. राज्य पहले भी पितृसत्ता के इन तीनों जनकों के साथ हेल-मेल करता रहता था और पूंजीवादी आधुनिकता का एक बड़ा अंश परंपरानिष्ठ विचारों का समर्थक था, लेकिन उस हालत में भी राज्य आधुनिकता के बुनियादी विचार में कहीं न कहीं पितृसत्ता का प्रतिकार बन कर मुखर होता रहता था. भूमंडलीकरण ने बाजार को अंतिम मंजिल बना कर यह संतुलन बिगाड़ दिया है. औरत के लिए इसके विनाशकारी नतीजे निकले हैं।"*6

इस तरह वैश्वीकरण वस्तुतः 'ग्लोबल विलेज' का वह सामंत है जो समानता नहीं चाहता बल्कि दूसरों के संसाधनों को हड़पना चाहता है— मग़र, खुली अर्थव्यवस्था के आवरण में। कोरोना महामारी के बाद, विभिन्न देशों में एक भिन्न तरह के वैश्वीकरण की प्रवृत्ति देखने में आयी है। अब देश— वैश्वीकरण के पूर्व-संस्करण की प्रवृत्तियों की बजाय अपेक्षाकृत बंद प्रकृति वाले वैश्वीकरण को प्राथमिकता दे रहे हैं, जैसे कि भारत का नया अभियान — 'आत्मनिर्भर भारत अभियान।'

वैश्वीकरण ने समूचे विश्व को अनेक दृष्टियों से प्रभावित किया है। तकनीकी नवाचार का विस्तार वैश्वीकरण का अति महत्वपूर्ण प्रभाग है। एक देश जब किसी तकनीकी का आविष्कार कर लेता है तो वह अन्य देशों में अपने फ़ायदे हेतु सस्ते उत्पादन के लिए उस तकनीकी का विस्तार करता है। ध्यानार्थ ये है कि, वो ये सब किसी चैरिटी के लिए नहीं करते बल्कि अपने हित साधन के लिए करते हैं, हाँ लेकिन इस तरह से तकनीकी विस्तार अवश्य होता है। जैसे कि, उपनिवेशकाल में पश्चिमी देशों ने अपने उपनिवेशों में यातायात और सूचना तंत्रों का विकास किया। कुछ दशकों पहले चीन और पूर्वी एशिया के देशों में तकनीकी साधनों का विस्तार हुआ जिससे आज ये देश तकनीकी के मामले में काफ़ी हद तक आत्मनिर्भर हुए हैं।

रोजगार के नए अवसर उत्पन्न करना वैश्वीकरण की एक ख़ास विशेषता है। यहाँ भी औपनिवेशिकता का वही प्रक्रम काम करता है, जिसमें वे अपने लाभ के लिए काम करते हैं।

अर्थात् सस्ते श्रम की तलाश में विपन्न देशों में अपने उत्पादन केंद्र लगाते हैं जिससे स्थानीय स्तर पर रोज़गार सृजित होता है। अंतरराष्ट्रीय सहयोग और शांति की संभावना का बढ़ना — वैश्वीकरण का एक बाई-प्रोडक्ट माना जा सकता है। क्योंकि, जब तक अंतरराष्ट्रीय स्तर पर विभिन्न देशों / क्षेत्रों सहयोग और शांति की स्थापना नहीं होगी तब तक आपसी व्यापार नहीं हो सकेगा तथा निवेशक भी अपना धन लगाने में हिचकिचाएँगे। इस नाते, शांति स्थापित करना मजबूरी हो जाता है।

शिक्षा और सूचना का वैश्विक स्तर पर प्रसार भी वैश्वीकरण में आवश्यक टूल की भाँति कार्य करता है। क्योंकि इसके बिना एक तरह की 'अंतर-राष्ट्रीयता' का विकास नहीं हो पाएगा। वैश्वीकरण में उत्पाद 'ग्लोबल' होते हैं उसके लिए अनिवार्य 'अंतर-राष्ट्रीयता' के ज्ञान की जानकारी ज़रूरी होती है। औपनिवेशिक भारत में अंग्रेजों ने निचले दर्जे के श्रमसाध्य कामों को कराने के लिए अधिकारी 'मैकाले' के माध्यम से अंग्रेज़ी भाषा और तंत्र का विकास किया। विदित है कि भारत आज भी इसको भुगत रहा है। उपभोक्ता के लिए अधिक विकल्प होना भी वैश्वीकरण का एक ख़ास आयाम है। इससे उपभोक्ता को प्रतिस्पर्धी क़ीमतों पर अपेक्षाकृत अच्छी उपभोगी वस्तुएँ मिलती हैं।

परंतु इसके साथ-साथ इसके दुष्परिणाम भी सामने आए हैं। वैश्वीकरण के नाम पर 'एकरूपता' का सुनियोजित अभियान चलाया गया। पश्चिमी कल्चर को सिरमौर मानते हुए अन्य देशों की संस्कृति-सभ्यता को हीन माना गया।। 'वाइट मैन बर्डन' जैसी संकल्पनाएँ विकसित की गईं। अन्य देशों के Cultural value system के साथ value judgment किया गया जिसमें पश्चिमी देशों ने स्वयं को बेहतर बताया। इस नाते, बहुत सारी स्थानीय संस्कृतियों का क्षरण होता गया।

विदित है कि वैश्वीकरण वस्तुतः एक बाज़ार आधारित परिघटना है। ज़ाहिर है बाज़ार की मुनाफ़ा आधारित संरचना इसका मुख्य मूल्य होती है। इस कारण से उत्पादन क्रियाओं में पर्यावरणीय का कोई ध्यान नहीं रखा गया। असतत और निर्बाध तरीक़े से प्रकृति का दोहन

किया गया। आज जब हम ग्लोबल वॉर्मिंग की बात करते हुए 2°C तापमान बढ़ने पर चिंतित होते हैं तो ये बात ध्यान में रहने चाहिए कि ये सब वैश्वीकरण की मुनाफ़ा आधारित परिघटना का ही परिणाम है। इस सबसे एक तयशुदा संकट आसन्न है। आर्थिक विषमता में वृद्धि हो रही है। 'Gap between Have's and have's not' की खायी बढ़ती जा रही है। संसाधनों और डेटा पर असीमित पकड़ से बहुराष्ट्रीय कंपनियों का वर्चस्व बढ़ता जा रहा है। वैश्वीकरण वस्तुतः एक आर्थिक प्रक्रिया के तौर पर शुरू हुआ था और बाद में एक बहुआयामी प्रक्रिया के तौर पर चरितार्थ हुआ।

4.3.i. साहित्य में वैश्वीकरण का महत्व—

अभी तक हम ये विवेचित कर पाए हैं कि वैश्वीकरण की प्रक्रिया ने चाहे—अनचाहे ही एक तरह के विकेंद्रीकरण को जन्म दिया। ये विकेंद्रीकरण बहुदिश व्याप्त हुआ। फिर चाहे अर्थतंत्र हो, संस्कृति हो, समाज, राजनीति, कला हो या कि फिर साहित्य हो! एक तरह से— वैश्वीकरण ने 'अंतर-अनुशासनिकता' Inter-Disciplinarity Approach को पोषित किया है। साहित्य समाज का दर्पण होता है, और वैश्वीकरण के प्रभाव से साहित्य भी अछूता नहीं रहा है। साहित्य में वैश्वीकरण का प्रभाव 'बिम्ब-प्रतिबिंब' भाव से अभिव्यक्त होता है। वैश्वीकरण से समाज जो कुछ भी सीख कर प्रतिक्रिया देता है— साहित्य उसका प्रतिबिंब उत्पन्न करता है। समकालीन साहित्य में सांस्कृतिक अंतर्द्वंद्व, वैश्विक असमानता, विस्थापन, पहचान संकट और उपभोक्तावाद जैसे विषय प्रमुख हो गए हैं। साहित्य ने न केवल वैश्वीकरण की सकारात्मक संभावनाओं को स्वर दिया है, बल्कि इसके खतरों और चुनौतियों को भी रेखांकित किया है।

वैश्वीकरण कई मायनों में स्त्रियों के लिए सुखद भी हुआ है तो कई जगह उनकी ग़ुलामी को लम्बा खींचने में सहायक भी रहा है। समाज विज्ञानी आलोचक अभय कुमार दुबे वैश्वीकरण की इन्हीं छिपी हुई परतों को उघाड़ते हुए कहते है कि, "एशियाई और अन्य

विकासशील देशों के संदर्भ में भूमंडलीकरण की यह नारी-विरोधी भूमिका और भी स्पष्ट होकर उभरती है. एशियन रीजनल एक्सचेंज फॉर न्यू आल्टरनेटिव्ज़ (एरिना) नामक संस्था द्वारा आयोजित एक कार्यशाला में शामिल कई नारीवादी विद्वानों ने निष्कर्ष निकाला है कि भूमंडलीकरण ने पितृसत्ता के पहले से चले आ रहे रूपों को मजबूत ही नहीं किया है वरन् कुछ नए रूपों की भी रचना की है. उसने कुछ अर्थों में आधुनिकीकरण को भी पितृसत्ता की सेवा में लगा दिया है. लैंगिक तटस्थता का नारा बुलंद करते हुए बाजार ने राष्ट्र राज्य की भूमिकाओं को सीमित करके फैक्ट्री और दफ्तर के कार्यस्थल को लैंगिक शोषण के अड्डों में बदलने में सफलता हासिल की है. रोजगार के मोर्चे पर उसकी प्राथमिकता आज भी वही है— औरतों के लिए परिवार और पुरुषों के लिए धनार्जन. औरतों को सर्वाधिक रोजगार देने वाली प्रणाली ने घर की देहरी पार करने वाली हर श्रमिक औरत को घर और लालन-पालन में बांधे रखने का कारनामा कर दिखाया है. बाजार ने नर-नारी संबंधों के पारंपरिक वैषम्य को कभी नहीं टूटने दिया. नारी-श्रम से अतिरिक्त मूल्य कमाने की जुगाड़ में वह इस विषमता को अपना मुख्य औजार बना चुका है।"*7 साथ में वे यह भी तजवीज़ करते चलते हैं कि, "भूमंडलीकृत राज्य ने क़ानून के पितृसत्तात्मक स्वरुप को बदलने की कोशिश नहीं की।"*8 वैश्वीकरण के बारे में अभय कुमार दुबे का यह बयान मील का पत्थर है। वस्तुतः भूमंडलीकरण के दौर में जब राज्य ने अपने ढांचे और कार्यप्रणाली में कई परिवर्तन किए, तब भी उसने क़ानून की पितृसत्तात्मक संरचना को ज्यों का त्यों बनाए रखा। समाज में चाहे जितनी भी प्रगति या आधुनिकता की बात की गई हो, लेकिन स्त्री के प्रति अन्यायपूर्ण और भेदभावपूर्ण क़ानूनी प्रावधानों को जड़ से बदलने का गंभीर प्रयास नहीं हुआ। क़ानून अब भी पुरुष वर्चस्व की मानसिकता को प्रतिबिंबित करता है, जो दर्शाता है कि भूमंडलीकृत राज्य ने लैंगिक समानता की दिशा में आवश्यक बदलाव नहीं किए।

हालाँकि वैश्वीकरण से लेखन में स्वायत्तता ज़रूर मिली। भारत में हिंदी, अंग्रेजी, बंगाली, तमिल आदि भाषाओं के लेखकों ने वैश्वीकरण के प्रभावों को गहराई से समझा और

अपनी रचनाओं में उकेरा। झुंपा लाहिड़ी, अरुंधति रॉय, चेतन भगत, प्रभा खेतान, मन्नू भंडारी, मैत्रेयी पुष्पा और अन्य रचनाकारों ने अंतर्मन, प्रवासी अनुभव, सांस्कृतिक टकराव, और अस्मिता की पहचान जैसे विषयों को प्रमुखता दी।

4.3.ii. आत्मकथा और वैश्वीकरण का संबंध —

आत्मकथा एक ऐसा साहित्यिक रूप है जिसमें लेखक अपने जीवन के अनुभवों, संघर्षों, विचारों और सामाजिक परिस्थितियों को आत्मकेंद्रित दृष्टिकोण से प्रस्तुत करता है। वहीं, वैश्वीकरण एक सामाजिक-आर्थिक प्रक्रिया है जो संचार, प्रौद्योगिकी, व्यापार और संस्कृति के विस्तार के माध्यम से दुनिया को एक 'वैश्विक गाँव' में बदल देती है। इस नाते आत्मकथा साहित्य और वैश्वीकरण में परस्परता का सम्बंध है। आत्मकथाकार को लेखन का कच्चा माल समाज से ही मिलता है— जो उसके अनुभूत होके निकलता है। वैश्वीकरण; रचनाकार के इन अनुभवों को और ज़्यादा रेंज प्रदान करता है। और, अंततः अनुभवों की यही सघनता — निबिड़त होते हुए एक विशिष्ट साहित्य रचना में प्रवृत्त होती है।

आज जब हम साहित्य में 'मनोवैज्ञानिक' आधारभूमि को महत्व देते हैं तो— उसकी पृष्ठभूमि में वैश्वीकरण जनित घटनाएँ ही होती हैं। क्योंकि, वैश्वीकरण से पहले कि मानव-मन इतना जटिल नहीं था। पहले उसमें सरलता व्याप्त थी। साहित्य में कुछ ही विषय मुख्य होते थे— प्रेम, वीरता, आदर्श। सारे क़िस्से इन्हीं कुछ विषयों के इर्दगिर्द घूमते रहते थे। लेकिन जब से वैश्वीकरण का प्रभाव समाज पर पड़ा तब से समूचे समाज के साथ-साथ व्यक्तियों के अंतर्मन तक में एक फाँस की चुभन व्याप्त है जो— मन को एकतान नहीं रहने देती। निर्मल वर्मा को याद करते हुए कहें तो— उस मन में एक अथाह बेचैनी है, अति-चिंतन है, किंकर्तव्यविमूढ़ता है। कर्तव्यों का भान नहीं लेकिन अधिकारों की सजगता है। ये सब वैश्वीकरण जनित प्रभावों के कारण ही है— जो कि साहित्य के लिए मनोवैज्ञानिक आधार उपलब्ध कराते हैं।

वैश्वीकरण के चलते व्यक्ति का संपर्क अब केवल अपने स्थानीय परिवेश तक सीमित नहीं रहा। आज व्यक्ति बहुराष्ट्रीय संदर्भों, बहुभाषी समाजों, और विविध सांस्कृतिक अनुभवों से जूझ रहा है। आत्मकथाएँ इस परिवर्तनशील दुनिया में एक व्यक्ति की स्थिति को दर्शाती हैं— उसका विस्थापन-पलायन, अस्मिता की पहचान का संघर्ष, संस्कृति, अतीत, वर्तमान और परंपरा के बीच संतुलन तथा वैश्विक अनुभवों की छाया में उसकी निजी कहानी। तस्लीमा नसरीन की आत्मकथाएँ भी एक ग्लोबल स्त्री की चिंताओं को मुखर करती हैं जो सीमाओं, संस्कृतियों और धर्मों से टकराती हैं।

भूमंडलीकरण के कारण बड़े पैमाने पर सायास प्रवासन-पलायन हुआ है। इस बिंदु पर मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से पर्याप्त गम्भीर अध्ययन हो चुके हैं जो यह बताते हैं व्यक्ति मूलतः अपने परिवेश से गहरे तौर पर भावनात्मक रूप से जुड़ा हुआ होता है। उसका परिवेश ही उसकी जड़ें मानी जाती हैं। जीवन के तौर-तरीक़े, रहन-सहन, खान-पान, पहराव-ओढ़ाव इत्यादि उनके व्यक्तित्व का आधार होता है। यदि, किसी कारणवश उस व्यक्ति को उसकी इस पृष्ठभूमि से सायास काटा जाता है, तो उसका मन-मस्तिष्क उचट जाता है। यही उचाटपन आत्मकथा साहित्य का रॉ-मटेरियल है। वस्तुतः प्रवास आत्मकथाओं का एक प्रमुख विषय बन गया है, जिसमें रचनाकार अपने दोहरी पहचान, 'नॉस्टेल्जिया' और नए देश में आत्मसात होने की प्रक्रिया को साझा करते हैं। उदाहरण के लिए— झुंपा लाहिड़ी की आत्मकथात्मक कृतियाँ जैसे 'In Other Words' में भाषा, पहचान और नए देश से जुड़ाव का अनुभव वैश्वीकरण की ही उपज है। भारतीय डायस्पोरा लेखिकाएँ जैसे मीना अलेक्ज़ेंडर, चित्रा बनर्जी दिवाकरुणी आदि अपनी आत्मकथाओं और लेखन में उस 'ग्लोबल आत्म' की तलाश करती हैं जो न तो पूरी तरह पश्चिमी है और न ही पारंपरिक भारतीय।

आत्मकथाओं में भी 'स्त्री-आत्मकथाएँ' सृजन का अनूठा रूप है। एक तो स्त्री-सृजन ही महत्वपूर्ण है, दूसरी तरफ़ ये इसलिए और ख़ास हो जाती हैं क्योंकि आत्मकथाएँ उनके अंतर्मन की अभिव्यक्ति हैं। लेकिन यहाँ एक बात ग़ौरतलब ये है कि, स्त्री लेखन का आरम्भ

वस्तुतः वैश्वीकरण की सबसे बड़ी उपलब्धियों में से एक है। उसकी वजह ये है कि वैश्वीकरण ने अपनी क्रियाविधि से आर्थिक अवसर उत्पन्न किए। इन अवसरों का लाभ स्त्री-समाज को भी मिला। जैसे ही 'आर्थिक बकेट' का कुछ हिस्सा स्त्रियों के हाथ में आया तो वे आत्मनिर्भर हो पायीं। प्रभा खेतान की आत्मकथा 'अन्या से अनन्या' में स्त्री की आर्थिक स्वतंत्रता और उसकी वैश्विक दृष्टि पर प्रकाश डाला गया है। आत्मनिर्भरता का फल ये होता है कि वो व्यक्ति को स्व-अभिव्यक्ति के लिए प्रेरित करता है।

विदित है कि इसी परिघटना ने स्त्रियों को लेखन के लिए प्रेरित किया। लेकिन सवाल ये है कि इस अभिव्यक्तिकरण में स्त्रियों ने आत्मकथा को जी क्यों चुना! वजह साफ़ है— सदियों की अन्यायपूर्ण और हक़मार व्यवस्था की सुषुप्तावस्था ने जब बोलना चाहा तो सर्वप्रथम उसने 'अपनी-कथा' को कहना चाहा। क्योंकि, उसे पहले तो अपने ही परिवेश से, अपने परिवार की सोच से, थोपे गए ऐतिहासिक 'टैबूज़' से लड़ना था— और इसके लिए आत्मकथा ही सर्वोत्तम साधन थी।

4.3.iii. स्त्री आत्मकथाओं में वैश्वीकरण—

स्त्री आत्मकथाएँ वैश्वीकरण के संदर्भ में और भी महत्वपूर्ण हो जाती हैं। वैश्वीकरण ने महिलाओं को नए अवसर दिए लेकिन साथ ही पारंपरिक भूमिकाओं से संघर्ष भी बढ़ाया। वैश्वीकरण ने स्त्रियों को एक जागरूकता दिलायी है। तभी तो 'कस्तूरी कुंडल बसै' में मैत्रेयी पुष्पा ने लिखा है, "माँ, मैं ब्याह नहीं करूँगी। मेरा हश्र मुझे मालूम है।"*9

वैश्वीकरण के प्रभाव के कारण ही स्त्री आत्मकथा लेखन में नौकरी और मातृत्व के द्वंद्व का चित्रण मिलता है। क्योंकि, एक तरफ़ तो वैश्वीकरण ने आर्थिक रूप से सक्षम बनने में भूमिका निभायी है लेकिन दूसरी तरफ़ जब एक कामकाजी महिला माँ बनती है या बनना चाहती है तो कई परेशनियाँ उसके समक्ष उठ खड़ी होती हैं। मसलन, यदि स्त्री माँ बन चुकी है तो प्रसव के कुछ समय बाद उसे वापस कार्यस्थल पर जाना होगा। हम सब विदित हैं कि इस सबसे बच्चे की परवरिश पर व्यापक प्रभाव पड़ता है। एक केस स्टडी देखिए— मान

लीजिए कि कोई स्त्री कामकाजी है। हम जानते हैं कि स्त्रियों को कामकाज के ज़्यादातर मौक़े बड़े शहरों में ही मिलते हैं तो ज़ाहिर है कि स्त्री को अपना परिवार छोड़ना पड़ेगा। ज़्यादा सम्भावना ये है कि पति-पत्नी और बच्चे की ऐटम फ़ैमिली ही होगी, ऐसे में यदि वो स्त्री और उसका पति दोनों काम के लिए बाहर जाते हैं तो बच्चे की देखभाल कौन करेगा!! ऐसे में या तो माँ को अपना काम छोड़ना पड़ेगा या कि फिर बच्चे को 'क्रेच' में छोड़ना पड़ेगा। दुखद बात ये है कि 'क्रेच' में बच्चों के साथ दुर्व्यवहार के तमाम क़िस्से मौज़ूद हैं। कहने से तात्पर्य ये है कि वैश्वीकरण से उत्पन्न इस इस मातृत्व सम्बन्धी समस्या का क्या निदान है!! यही द्वंद्व स्त्री आत्मकथाकारों के लेखनी में जगह पाता है।

'उपभोक्तावादी संस्कृति में स्त्री की स्थिति' सम्बंधी बिंदु भी वैश्वीकरण से उत्पन्न एक ऐसा बीज बिंदु है जिसने स्त्री आत्मकथाओं पर पर्याप्त प्रभावित किया है। सुषम बेदी लिखती हैं, "लौटना उपन्यास की बुआ कहती है, 'ऊब जैसी चीज पहले कभी रही ही नहीं। यह है ही आधुनिक सभ्यता की देन । इन्सान जितना ज्यादा व्यक्तिगत लक्ष्यों को, व्यक्तिगत स्वार्थों को पाने में जुटता जाएगा, उतना ही खालीपन, उतनी ही ऊब उसके हाथ लगेगी। पहले लोगों की कम्युनिटी में, समाज में पूरी इन्वाल्वमेंट रहती थी, इसलिए ऊब होती ही नहीं थी पर अब जब सब अपने स्वार्थों में जुटे हैं तो आखिर कहां तक व्यक्तिगत स्वार्थ व्यक्ति को पूरापन दे सकते हैं। एक सीमा होती है उपलब्धियों की, उसके बाद वे अपनी अहमियत खो देती हैं। तुम्हारे अमेरिकी समाज में इसलिए ऊब जैसी स्थितियां यहां से कहीं ज्यादा हैं। ऊब और बोरियत के अहसासों की जड़ ही स्वार्थसाधना है।"*10

हम जानते हैं कि उपभोक्तावादी दृष्टिकोण में मुनाफ़ा ही मुख्य होता है — फिर चाहे इसके लिए किसी भी प्रकार के किसी सांस्कृतिक मूल्य की तिलांजलि ही क्यों न देनी पड़े! इसी कारण उपभोक्तावादी दृष्टि ने स्त्री को उत्पादक तो माना है लेकिन वह क़ाबिलियत के साथ-साथ उसके शरीर का भी भरपूर फ़ायदा उठाना चाहता है। शीला झुनझुनवाला अपनी आत्मकथा 'कुछ कही कुछ अनकही' में इसी संदर्भ में कहती प्रतीत होती हैं कि "क्या लड़की

पैदा होते ही प्रत्येक उम्र व स्थिति में पुरुष के खसोटने की ही वस्तु होती है?"*11 pg309 कहीं कहीं तो स्थिति ऐसी भयानक होती है कि क़ाबिलियत से पहले शरीर को महत्व दिया जाता है। अभी हाल ही के वर्षों में #meetoo का आंदोलन इस बात का परिचायक है। स्त्रियाँ — जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपनी सक्षमता सबित करने के बावज़ूद अपने ऐसे निर्बल और स्त्री-शरीर केंद्रित इमेज निर्धारण से आहत होती हैं तो उसे लेखन का विषय बनाती हैं— जो कि वैश्वीकरण का ही प्रभाव हैं।

प्रभा खेतान वैश्वीकरण की इन्हीं भित्तीयों को पहचानते हुए लिखती हैं, "पितृसत्ता ही है जो पूंजीवादी, फासीवादी, उपनिवेशवादी, मनुवादी मुखौटे लगती रही है। ये मुखौटे न कभी स्त्री के पक्षधर हुए हैं और न ही होंगे। सत्ता है जो स्त्री के लिए हमेशा घातक रही है।" *12 यह कथन पितृसत्ता की बहुरूपी संरचना को उजागर करता है, जो इतिहास और समाज की विभिन्न सत्ता-व्यवस्थाओं—जैसे पूंजीवाद, फासीवाद, उपनिवेशवाद और मनुवाद—के भीतर छिपकर स्त्री-विरोधी प्रवृत्तियों को संचालित करती है। ये सभी व्यवस्थाएँ अपने-अपने "मुखौटे" लगाकर समाज को नियंत्रित करती हैं, लेकिन इनका मूल स्वभाव स्त्री को दबाने वाला और उसे दूसरे दर्जे का बनाने वाला होता है। इन मुखौटों ने कभी भी स्त्री को बराबरी का अधिकार नहीं दिया। दरअसल, सत्ता का ढांचा ही इस तरह गढ़ा गया है कि उसमें स्त्री की स्वतंत्रता, अस्मिता और agency हमेशा बाधित होती रही है।

वैश्वीकरण के दौर में स्त्रियों को लैंगिक असमानताओं और नए प्रकार के शोषणों का भी सामना करना पड़ा है। भूमंडलीकरण ने स्त्रियों के लिए रोज़गार के नए द्वार तो खोले हैं लेकिन अधिकतर महिलाएँ असंगठित, अस्थायी और कम वेतन वाले क्षेत्रों में ही कार्यरत हैं, जैसे कि— गारमेंट इंडस्ट्री, कॉल सेंटर, घरेलू नौकरियाँ। काम देने के बहाने नियोक्ता मानसिक और शारीरिक शोषण भी करते हैं। यदि स्त्रियाँ मनमाफ़िक न चलें तो उनके काम पर उँगली उठायी जाती है तथा उनको अन्यान्य तरीक़े से प्रताड़ित किया जाता है। महिलाओं को समान कार्य के लिए पुरुषों से कम वेतन दिया जाता है, जो लैंगिक भेदभाव का आधुनिक

रूप है। वैश्वीकरण के समय से डिजिटल माध्यमों से जुड़ी स्त्रियाँ के समक्ष कई चुनौतियाँ उत्पन्न होती हैं। तकनीकी के बहुविध प्रयोग से, Deepfake इत्यादि साधनों से समूचे स्त्री समाज की निजता और शुचिता पर प्रहार किया जाता है। स्त्रियाँ इन सब परिस्थितियों को अपनी अभिव्यक्ति में जगह देती हैं।

आज सोशल मीडिया, ब्लॉग, और पोडकास्ट जैसे माध्यमों से आत्मकथाएँ केवल पुस्तकों तक सीमित नहीं रहीं। वैश्वीकरण और तकनीकी विकास ने "डिजिटल आत्मकथाओं" का जन्म दिया है, जो वास्तविक समय में वैश्विक पाठकों तक पहुँचती हैं। वैश्वीकरण ने आत्मकथा को केवल एक व्यक्ति की निजी कहानी न रहने देकर उसे वैश्विक सामाजिक और सांस्कृतिक विमर्श का हिस्सा बना दिया है। वैश्वीकरण से उत्पन्न परिस्थितियों से जद्दोजहद करने, अनुकूल को स्वीकार और प्रतिकूल के प्रतिरोध के लिए, विभिन्न सामाजिक-सांस्कृतिक पूर्वाग्रहों से जूझने केली स्त्रियों ने अपनी अभिव्यक्ति के सबसे मज़बूत साधन यानी ‘आत्मकथा’ को चुना जो कि स्त्री विमर्श से होता हुआ उसकी जगह की शिनाख्त करता है और एक गरिमापूर्ण जीवन की राह बनाता है। आज आत्मकथाएँ व्यक्ति के भीतर घट रहे उन परिवर्तनों की कथा हैं, जो वैश्वीकरण की तीव्र लहरों से उत्पन्न हुए हैं। इस संदर्भ में कहा जा सकता है कि स्त्री आत्मकथा अब केवल 'मैं' की कथा नहीं, बल्कि 'वैश्विक मैं' की अभिव्यक्ति बन चुकी हैं।

संदर्भ :

1. अभय कुमार दुबे (सं), समाज विज्ञान कोश : राजकमल प्रकाशन दिल्ली पृष्ठ संख्या 1304
2. वही, पृष्ठ संख्या 1304
3. हरिकृष्ण रावत, उच्चतर समाजशास्त्र विश्वकोश' : रावत प्रकाशन जयपुर, 2011 पृष्ठ संख्या 212
4. नरेश भार्गव, समाजशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य रावत प्रकाशन जयपुर, 2014, पृष्ठ संख्या 17
5. अभय कुमार दुबे (सं), समाज विज्ञान कोश, राजकमल प्रकाशन दिल्ली पृष्ठ संख्या 1304
6. अभय कुमार दुबे : हंस पत्रिका 'स्त्री भूमंडलीकरण : पितृ-सत्ता के नए रूप (खंड 2) पृष्ठ संख्या 68
7. वही, पृष्ठ संख्या 68
8. वही, पृष्ठ संख्या 71
9. कस्तूरी कुंडल बसै' मैत्रेयी पुष्पा ; पृष्ठ संख्या 79
10. आरोह-अवरोह : सुषम बेदी ; पृष्ठ संख्या 34
11. शीला झुनझुनवाला; कुछ कही कुछ अनकही; पृष्ठ संख्या 309
12. उपनिवेश में स्त्री; प्रभा खेतान; पृष्ठ संख्या 57

4.4

हिंदी की स्त्री-आत्मकथाओं की प्रासंगिकता और प्रभाव

स्त्री आत्मकथाएँ ; साहित्य की उस दुष्पूर दुनिया का हिस्सा हैं जिन्हें स्त्री-रचनाकारों ने — पितृत्ववादी समाज द्वारा आरोपित स्त्री-गुणों को नकार के हासिल किया है। ये उस 'दूसरे समय' (anti time) को आकार देती हैं जिन्हें स्त्री-रचनाकारों ने अपनी अकथ पीड़ा, अबोले संघर्ष और विस्मृत अस्मिता की चेतना के माध्यम से निर्मित किया है।

ये आत्मकथाएँ केवल 'जीवन' की घटनाओं का बरबस-बयान नहीं होतीं, बल्कि वे अन्यायपूर्ण पितृसत्ता द्वारा थोपी गई 'आदर्श स्त्री' की छवि को झकझोरने और तोड़ने का समर्थ औज़ार बन जाती हैं। समूचे इतिहास में स्त्री को शीलवान, सहनशील, त्यागमयी, मौन और समर्पित दिखाया गया लेकिन; स्त्री-आत्मकथाएँ इस दीर्घजीवी दुस्वप्न से जागती हैं और दिखाती हैं कि स्त्री की शिनाख्त— उसके स्वतंत्र विकसित होते अनुभवों, पूर्वग्रह से मुक्त विचारों और तथ्य आधारित निर्णयों में निहित है, न कि समाज द्वारा थोपी गई किसी 'रबर छायित छवि' में।

इन आत्मकथाओं में स्त्रियों ने अपने जीवन की उन बातों-घटनाओं को सार्वजनिक किया है जो पहले चारदीवारी के अंदर का 'निजी' मसला समझी जाती थीं; जैसे— स्त्री होना मतलब घाटा होना (भाग्यवान की बीवी मरे, अभागे का बैल), घरेलू हिंसा, यौन शोषण, शिक्षा से वंचित करना, विवाह संस्था की जटिलताएँ, और समाज में दोयम दर्जे का व्यवहार। ये अनुभव न केवल व्यक्तिगत होते हैं, बल्कि सामूहिक स्त्री-जीवन के यथार्थ को भी उजागर करते हैं। हिंदी की स्त्री आत्मकथाएँ केवल व्यक्तिगत जीवन वृत्तांत नहीं, बल्कि स्त्री अस्मिता, आत्मबोध और सामाजिक प्रतिरोध की सशक्त अभिव्यक्तियाँ हैं। प्रभा खेतान, मन्नू भंडारी, मैत्रेयी पुष्पा, ममता कालिया, कृष्णा अग्निहोत्री आदि लेखिकाओं ने अपने अनुभवों के माध्यम से स्त्री चेतना, यौनिकता, जातिगत संघर्ष, आत्मसम्मान और

सामाजिक असमानताओं को उघाड़ा है। ये आत्मकथाएँ नारीवादी विमर्श को सैद्धांतिक से जीवन-जागतिक स्तर तक लाती हैं, जहाँ 'स्व' की खोज और सामाजिक ढाँचों से मुठभेड़ प्रमुख है। वे साहित्य को वैचारिक गहराई और संवेदनशीलता का नया आयाम प्रदान करती हैं।

हिंदी की महिला आत्मकथाकारों ने अपने जीवन की उन पीड़ाओं, संघर्षों और टूटनों को स्वर दिया है, जिन्हें समाज अक्सर नजरअंदाज करता रहा है, "हिन्दी महिला आत्मकथाकारों ने अपने जीवन के महत्त्वपूर्ण क्षणों को खोने का दुःख, परिवारजनों द्वारा की गई उपेक्षा तथा लिंगभेद की राजनीति को व सामंती शोषक-शोषित वाली नीति ने उन्हें कमजोर कर दिया है। आत्मकथाकार का मन्तव्य कल्पना के अभीष्ट से हटकर पाठक वृन्द को जीवन की सच्चाइयों से साक्षात्कार करवाना रहता है। ये वो सच्चाइयाँ है जो लेखिकाओं के जीवन की दिशाएँ निर्धारित करती है।"*1 जीवन के महत्वपूर्ण क्षणों के खोने का दुःख, परिवार के भीतर उपेक्षा, पितृसत्तात्मक सोच और लिंगभेद की राजनीति ने उन्हें केवल मानसिक रूप से ही नहीं, बल्कि अस्तित्व के स्तर पर भी जर्जर किया है। ये आत्मकथाएँ किसी कल्पना-लोक की कोमल गाथाएँ नहीं, बल्कि कटु यथार्थ से उपजे वे आत्मस्वीकृतियाँ हैं, जो लेखिकाओं के आंतरिक द्वंद्व और आत्मसंघर्ष को उजागर करती हैं। आत्मकथाकार का उद्देश्य भावुकता या सौंदर्यबोध नहीं, बल्कि पाठक को उन सामाजिक-सांस्कृतिक सत्यों से रूबरू कराना है, जिनसे उनका जीवन और उनकी चेतना आकार पाती है। ये आत्मकथाएँ नारी जीवन की उन सच्चाइयों का लेखा-जोखा हैं, जो उनके आत्मबोध की दिशा और गति निर्धारित करती हैं।

☞ प्रभा खेतान लिखती हैं— "मैं क्या लगती थी डॉक्टर साहब की? मैं क्यों ऐसे उनके साथ चली आई? प्रियतमा, मिस्ट्रेस, शायद आधी पत्नी, पूरी पत्नी तो मैं कभी नहीं बन सकती सालों से में उनके साथ थी मगर किस रूप में...? इस रिश्ते को... नाम नहीं दे पाऊँगी।" यह

पंक्तियाँ स्त्री की यौनिक अस्मिता और भावनात्मक उलझनों की तीव्र अभिव्यक्ति हैं, जो उसके 'स्व' की तलाश और स्वीकृति के संघर्ष को दर्शाती हैं—

☞ मन्नू भंडारी लिखती हैं— "आगे बढ़ने के लिए पीछे मुड़कर देखना सहायक ही नहीं, कभी-कभी अनिवार्य भी नहीं हो जाता? यादों की, घटनाओं की, स्थितियों की न जाने कितनी छोटी-छोटी पोटलियाँ खुली मिलेंगी जो ज़रा-सा स्पर्श पाते ही अपनी पूरी जीवन्तता के साथ आ खड़ी होंगी।" यह आत्मकथात्मक कथन स्मृति और आत्मचिंतन की अनिवार्यता को रेखांकित करता है, जहाँ लेखिका लेखन और निजी जीवन की टकराहटों को पुनः जाँचती हैं।

☞ मैत्रेयी पुष्पा 'कस्तूरी कुंडल बसै' में कहती हैं— "मेरा स्त्रीत्व लड़की की मां होने के कारण अस्वीकृत किया जाए? अब मेरे जीवन का उद्देश्य क्या होगा? कोई मुझे मां की गरिमा नहीं दे रहा मैं बच्ची से मौन बातें करती तू किस दुनिया में आ गई है?" यह उद्धरण स्त्री के मातृत्व की सामाजिक अस्वीकृति और उससे उत्पन्न अस्तित्वगत पीड़ा का संवेदनशील चित्र है।

☞ कृष्णा अग्निहोत्री लिखती हैं— "औरत की अभावग्रस्त जिंदगी ने ही उनमें यह सोच भर दी थी कि औरत बेकार प्राणी है। उसके जीने का कोई उद्देश्य नहीं है।" यह पंक्ति स्त्री के आत्मबोध के क्षरण और सामाजिक दृष्टिकोण के निर्मम प्रभाव को सामने लाती है।

☞ ममता कालिया का अनुभव है— "मामा घर हो या दादा घर मैंने तब देखा कि स्त्रियों और पुरुषों में मेलजोल या मुहत जैसा भाव दिख पाना कठिन था।" यह समाज में लैंगिक विभाजन और स्त्रियों के हाशियाकरण को संकेतित करता है।

☞ सुषम बेदी 'आरोह-अवरोह' में कहती हैं— "राजनैतिक स्वाधीनता मिलने के बावजूद सांस्कृतिक औपनिवेशिकता से तो आज तक मुक्त हुए भी नहीं।" यह उद्धरण स्त्री की सांस्कृतिक पराधीनता की निरंतरता पर तीखा प्रश्न है।

☞ चंद्रकिरण सौनरेक्सा 'पिंजरे की मैना' में पूछती हैं— "क्या इस तरह की गाली खाने के लिए ही मैं इस परिवार को चलाने के लिए खुद को तिल-तिल कर खपा रही हूँ?" यह पंक्तियाँ घरेलू हिंसा और आत्मसम्मान के बीच जूझती स्त्री की गूंज हैं।

☞ कुसुम अंसल 'जो कहा नहीं गया' में लिखती हैं— "मेरा अपनापन इतना छोटा हो गया था, इतना धूमिल-सा हो गया था कि मैं मजबूर होकर अपने ही अस्तित्व से कतराने लगी थी।" यह आत्मबोध की विघटनकारी प्रक्रिया और उससे उपजे आंतरिक संकट को चित्रित करती हैं।

☞ शीला झुनझुनवाला कहती हैं— "लड़की होना मानो जंजीरों में जकड़े रहना।" यह लैंगिक असमानता और सामाजिक पक्षपात की कटु सच्चाई को उघाड़ती है।

☞ निर्मला जैन 'जमाने में हम' में लिखती हैं— "माँ को एक ही बात की धुन कि बिना बाप की उनकी सन्तति की शिक्षा में कोई बाधा न आए।" यह आत्मकथा स्त्री की संघर्षशीलता, माँ के आत्मबल और पारिवारिक जिम्मेदारी की गहन समझ देती है।

इन सभी छोट-छोटे उद्धरणों से यह स्पष्ट होता है कि हिंदी की स्त्री आत्मकथाएँ महज साहित्यिक लेखन नहीं, बल्कि सामाजिक-सांस्कृतिक दस्तावेज हैं। ये आत्मकथाएँ स्त्री अनुभवों को सार्वजनिक विमर्श में लाकर पितृसत्तात्मक ढाँचों को चुनौती देती हैं। इन रचनाओं में स्त्री की पीड़ा, प्रतिरोध, अस्मिता और मुक्ति की बेचैनी दर्ज है, जो इन्हें समकालीन विमर्श में अत्यंत प्रासंगिक और महत्वपूर्ण बनाती है।

राजेंद्र यादव 'देहरि भई विदेश'में लिखते हैं "स्त्री की हर आत्मकथा अपनी यातनाओं की ऐसी निजी दास्तान है जो घर-घर में घटित होती है। पुरुषों की आत्मकथाएँ उनके निजी संघर्षों की विजय-गाथाएँ हैं। विपरीत और विषम स्थितियों से लड़ता हुआ पुरुष अपना अद्वितीय व्यक्तित्व गढ़ता है-वह किसी दूसरे व्यक्ति की कहानी नहीं हो सकती। हाँ, उसकी

संकल्प-शक्ति और जिजीविषा औरों के लिए प्रेरणा बन सकती है। प्रेरणा स्त्री का संघर्ष भी बनता है, मगर उसकी कहानी हर दूसरी स्त्री की कहानी भी है। उसके संघर्षों के स्वरूप, उसके बनने-टूटने के आख्यान भी लगभग एक जैसे हैं, इसीलिए दलितों की आत्मकथाओं की तरह वहाँ अपमानों, संघर्षों और संकल्पों की पुनरावृत्तियाँ होती हैं-मगर स्त्री की आत्मकथा, समाज और परिवार की उन भीतरी सचाइयों से साक्षात्कार है जिनकी चुभन जूते की कील की तरह सिर्फ पहनने वाला ही जानता है।"*2 राजेंद्र यादव के इस कथन में स्त्री आत्मकथा की सामाजिक प्रासंगिकता और उसकी सामूहिकता को गहराई से रेखांकित किया गया है। वे स्पष्ट करते हैं कि पुरुष आत्मकथाएँ व्यक्तिगत संघर्षों की विजय-गाथाएँ होती हैं, जबकि स्त्री आत्मकथाएँ निजी होते हुए भी हर स्त्री की साझा पीड़ा का आख्यान बन जाती हैं।

स्त्री की आत्मकथा एक ऐसा आत्मबोध है जिसमें "मैं" केवल व्यक्ति नहीं रहता, बल्कि वह व्यापक सामाजिक-परिवारिक ढाँचों में दबी हर स्त्री की आवाज़ बन जाता है। जैसे दलित आत्मकथाओं में बार-बार अपमान, बहिष्कार और संघर्ष की पुनरावृत्तियाँ मिलती हैं, वैसे ही स्त्री आत्मकथाओं में भी शोषण, उपेक्षा, लिंगभेद और आंतरिक टूटन की पुनरावृत्तियाँ मिलती हैं। यही पुनरावृत्तियाँ इन आत्मकथाओं को सिर्फ एक जीवन वृत्तांत नहीं, बल्कि सामाजिक दस्तावेज और प्रतिरोध की वाणी बना देती हैं।

राजेंद्र यादव ठीक ही कहते हैं कि स्त्री की आत्मकथा समाज और परिवार की उन भीतरी सचाइयों का उद्घाटन है, जो बाहर से देखने पर सहज नहीं दिखतीं — वे केवल वही जानती है जो उन्हें जूते की कील की तरह भीतर-भीतर चुभती हैं। यही कारण है कि स्त्री आत्मकथाएँ न केवल आत्मबोध का माध्यम हैं, बल्कि वे सामूहिक स्त्री यथार्थ और सामाजिक चेतना का भी सशक्त उपकरण हैं। वे प्रेरणा कम और उद्घाटन अधिक होती हैं — अपने समय की अंतर्ध्वनियों को शब्द देने वाली मौन विद्रोह की अभिव्यक्तियाँ।

सेठ गोविन्द दास के अनुसार, "इस प्रकार की आत्मश्लाघा और आत्मकथा के आत्मबोध में अन्तर है। सम्भाषण और पत्र व्यवहार आदि में अपनी जो प्रशंसा की जाती है

वह प्रायः अक्षम्य कारण है आत्मचरित्र में की गई प्रशंसा क्षम्य है। इसका कारण है आत्मचरित में आत्मप्रशंसा के साथ अनेक बातें भी रहती हैं, अपनी प्रशंसा से दूसरी बातें कहीं अधिक।"*3 आत्मकथाओं की प्रासंगिकता इस बात में निहित है कि वे व्यक्ति के निजी अनुभवों के माध्यम से समय, समाज और संस्कृति की गहरी पड़ताल करती हैं। सेठ गोविन्द दास के अनुसार, आत्मचरित में की गई आत्मप्रशंसा क्षम्य इसलिए है क्योंकि वह आत्मबोध और जीवन-सत्य की अभिव्यक्ति होती है। आत्मकथाएँ न केवल लेखक की चेतना को उद्घाटित करती हैं, बल्कि व्यापक सामाजिक सन्दर्भों को भी उजागर करती हैं। विशेष रूप से स्त्री आत्मकथाएँ पितृसत्ता, लिंगभेद और सामाजिक असमानता के विरुद्ध एक जरूरी विमर्श प्रस्तुत करती हैं, जिससे इनका साहित्यिक और सामाजिक महत्व और भी बढ़ जाता है।

डॉ. कमलापति उपाध्याय कहती हैं कि, "आधुनिक काल में हिन्दी की गद्य में जिन नई विधाओं का आगमन हुआ उनमें आत्मकथा एक समर्थ और सम्भावित विधा है क्योंकि भारतीय मनीषियों की विशेषता रही है कि ये लोग सम्भवतः अपने जीवन के रहस्यों को उद्घाटित करना उचित नहीं समझते थे। इसलिए आज भी कवि कुल गुरु कालिदास, गोस्वामी तुलसीदास, महात्मा सूरदास आदि साहित्य साधकों का जीवन शोधविषयक बना हुआ है।"*4

महिला आत्मकथाकार अमृता प्रीतम ने अपनी आत्मकथा 'रसीदी टिकट' की भूमिका में स्पष्ट कहा है, "यह आदर्श से यथार्थ पर पहुँचने की प्रक्रिया है। उपन्यास कहानी का पाठक पात्रों के चेहरों की कल्पना करता है, अनेक दिलों की हलचल पाठक को अपना सारा ध्यान एक ही जाने-पहचाने चेहरे पर केन्द्रित करती है। इसमें लेखक और पाठक परस्पर सम्मुख होते हैं। यह लेखक का अपने घर में पाठकों को निजी बुलावा होता है। संकोच की ड्योढ़ी "आत्मकथा साहित्य प्राचीन हिन्दी साहित्येतिहासों में भले ही उपेक्षा की दृष्टि से देखा गया हो किन्तु आज वह साहित्येतिहास में स्वतन्त्र विधा के रूप में प्रतिष्ठित हो चुका है। प्रत्यक्ष रूप से जितना लेखक इस विधा के माध्यम से स्पष्ट कर सकता है उतना अन्य किसी

भी माध्यम से नहीं। आज का कलाकार अपने को छिपाने में विश्वास नहीं रखता है बल्कि पूर्ण ईमानदारी व सच्चाई के साथ वह अपने को समाज के सम्मुख स्पष्ट कर देता है। इस नव्य विधा ने पाठक वर्ग को एक नव्य दृष्टि प्रदान किया है जो सराहनीय है। इस विधा के द्वारा हिन्दी साहित्य के इतिहास को भी नये दृष्टिकोण एवं नये तत्त्व प्राप्त हुए हैं। साहित्येतिहास के निर्माण में मूल स्त्रोत और सम्बन्धित सामग्री के रूप में आत्मकथाओं का महत्त्वपूर्ण योगदान है। साहित्य के इतिहास के निर्माण में आत्मकथा साक्ष्य का कार्य करती है।"*5 वस्तुतः आत्मकथा आज हिंदी साहित्य में केवल एक साहित्यिक विधा नहीं, बल्कि सामाजिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक साक्ष्य का सशक्त माध्यम बन चुकी है। पूर्ववर्ती साहित्येतिहासों में उपेक्षित रही यह विधा अब लेखक की आत्मचेतना और समाज के बीच संवाद का प्रभावशाली उपकरण है। आत्मकथाओं ने लेखक को पूर्ण ईमानदारी के साथ स्वयं को अभिव्यक्त करने का मंच दिया है। यह विधा न केवल पाठक को नव्य दृष्टि देती है, बल्कि साहित्य के इतिहास के पुनर्लेखन में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। आत्मकथाएँ साहित्येतिहास के लिए मूल स्त्रोत और प्रमाणिक सामग्री उपलब्ध कराती हैं।

वस्तुतः आत्मकथा आज हिंदी साहित्य में केवल एक साहित्यिक विधा नहीं, बल्कि सामाजिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक साक्ष्य का सशक्त माध्यम बन चुकी है। पूर्ववर्ती साहित्येतिहासों में उपेक्षित रही यह विधा अब लेखक की आत्मचेतना और समाज के बीच संवाद का प्रभावशाली उपकरण है। आत्मकथाओं ने लेखक को पूर्ण ईमानदारी के साथ स्वयं को अभिव्यक्त करने का मंच दिया है। यह विधा न केवल पाठक को नव्य दृष्टि देती है, बल्कि साहित्य के इतिहास के पुनर्लेखन में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। आत्मकथाएँ साहित्येतिहास के लिए मूल स्त्रोत और प्रमाणिक सामग्री उपलब्ध कराती हैं।

स्त्री आत्मकथाएँ इस मायने में क्रांतिकारी हैं कि वे 'आत्म' की समानांतर पुनर्रचना करती हैं। वे स्त्री को मात्र 'पीड़िता' 'दब्बू' या 'नियति में विश्वास' रखने वाली कोई अबला नहीं मानतीं अपितु 'संघर्षशील अस्तित्व' के रूप में रूपायित करती हैं। 'स्थापित ताक़तवार

नेतृत्व समूह' को लग सकता है कि ये 'आत्मकथाएँ' अराजकता उत्पन्न करती हैं; परंतु— इस समूह में इतना भाव और नैतिक बल नहीं कि 'हथियायी हुई अन्यायपूर्ण ऐतिहासिक अधिकार व्यवस्था' को तिलांजलि दे दें— इसके बजाय वे— अधिकारों की माँग को अराजकता करार देते हैं।

जबकि, आवश्यक ये है कि एक 'समरस' समाज की निर्मिति में स्त्रियों को 'स्व-विकास' के अवसर ठीक वैसे ही होने चाहिए जैसे कि सकारात्मक नियम निर्धारित करते हों, और हमारे संविधान में प्रदत्त हैं। इस नाते, सकारात्मक नियम, संविधान की मूल आत्मा, basic structure और 'समरस समाज' की स्थापना के लिए स्त्री-आत्मकथाओं की महती प्रासंगिकता है। स्त्री-आत्मकथाएँ केवल व्यक्तिगत जीवन-कथा नहीं होतीं, बल्कि वे सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक ढाँचों की आलोचना भी प्रस्तुत करती हैं। पितृसत्तात्मक व्यवस्था ने स्त्रियों को सदियों से मौन बनाए रखने की कोशिश की, उनकी आवाज़ को 'शील' और 'मर्यादा' के नाम पर दबाया गया। लेकिन आत्मकथा के माध्यम से स्त्रियाँ इस imposed चुप्पी को तोड़ती हैं। वे अपने अनुभवों को स्वर देती हैं और कहती हैं कि उनका जीवन भी विचार योग्य, विश्लेषण योग्य और लेखन योग्य है। यह लेखन केवल अभिव्यक्ति नहीं, प्रतिरोध भी है।

इन आत्मकथाओं में भाषा का प्रयोग भी परंपरागत पुरुष लेखन से भिन्न होता है—यह भाषा अधिक संवेदनशील, अधिक आत्मीय और अनुभवधर्मी होती है। स्त्रियाँ अपने दुखों को अभिव्यक्ति को 'शब्द' में बदलती हैं, और यही शब्द उनके अस्तित्व और चेतना का प्रमाण बनते हैं। यह एक तरह की आत्म-उद्धार प्रक्रिया है, जिसमें वे अपने भूत, वर्तमान और कभी-कभी भविष्य तक से संवाद करती हैं। स्त्री आत्मकथाओं में रिश्तों की जटिलता, प्रेम और पीड़ा, माँ-बेटी संबंध, यौनिकता, जाति, वर्ग और धर्म के मुद्दे भी मुखर रूप में सामने आते हैं। आत्मकथाएँ यह दर्शाती हैं कि स्त्री की पहचान उसकी अपनी परिभाषा से बनती है, न कि सामाजिक ठप्पों से। कुल मिलाकर, स्त्री आत्मकथाएँ उस साहित्यिक परंपरा को चुनौती

देती हैं जो स्त्री को वस्तु या पृष्ठभूमि के रूप में चित्रित करती थी। ये आत्मकथाएँ स्त्री के लिए 'स्व' की पुनर्खोज और सामाजिक न्याय की मांग बन जाती हैं।

4.4.i. स्त्री आत्मकथाओं की प्रासंगिकता —

आज के सामाजिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक संदर्भ में अत्यंत महत्वपूर्ण और बहुस्तरीय है। ये आत्मकथाएँ केवल स्त्रियों के जीवन का लेखा-जोखा नहीं होतीं, बल्कि एक वैकल्पिक इतिहास, प्रतिरोध और आत्म-स्वीकृति की प्रक्रिया को भी प्रकट करती हैं। इनके माध्यम से वे स्त्रियाँ भी साहित्यिक विमर्श में आती हैं जिन्हें अब तक 'हाशिए' पर रखा गया था—सामन्य स्त्रियाँ, दलित स्त्रियाँ, आदिवासी स्त्रियाँ, धार्मिक अल्पसंख्यक, कामकाजी, मजदूर, घरेलू और ग्रामीण स्त्रियाँ।

आत्म-अभिव्यक्ति और अस्मिता का सशक्त माध्यम —

विदित है कि साहित्य सृजन के विभिन्न परिप्रेक्ष्य होते हैं, या कह लें कि प्रयोजन/उद्देश्य होते हैं। संस्कृत साहित्य से लेकर पाश्चात्य साहित्य तथा हिंदी साहित्य तक — साहित्य के उद्देश्यों की प्रचुरता है। ये प्रयोजन ही साहित्य-रचना की दिशा निर्धारित करते हैं। हमारी परम्परा में संस्कृत साहित्यकारों के अनुसार काव्य के प्रयोजन पर विशद चर्चा हुई है। मम्मट द्वारा प्रदत्त काव्य-प्रयोजनों को सामन्य रूप में स्वीकारा जाता है। आचार्य मम्मट के ग्रंथ 'काव्यप्रकाश' में उनके अनुसार—

काव्यं यशसेडर्यकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परिनिर्वृत्तये कान्ता सम्मित तयोपदेशयुजे ।।

अर्थात् काव्य यश के लिए, अर्थ प्राप्ति के लिए, व्यवहार ज्ञान के लिए अमंगल शान्ति के लिए, अलौकिक आनंद की प्राप्ति के लिए और कान्ता के समान मधुर उपदेश प्राप्ति के लिए प्रयोजनीय होते हैं। इनको सार रूप में लिखे तो ये निम्न बिंदुओं पर ठहरते हैं— यश

प्राप्ति, अर्थ प्राप्ति, लोक व्यवहार ज्ञान, अनिष्ट का निवारण या लोकमंगल, आत्मशान्ति या आनन्दोपलब्धि कान्तासम्मित उपदेश।

हिंदी साहित्यकारों ने भी साहित्य-सृजन के कुछ उद्देश्य शोधित किए हैं।

तुलसीदास जी ने लिखा है—

(i) स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा

(ii) कीरति भनिति भूति मल सोई। सुरसरि सम सब कहें हित होई ।।

जायसी ने 'पद्मावत' में यह स्वीकार किया है कि, मैं चाहता हूँ कि अपनी कविता के द्वारा संसार में जाना जाऊँ। 'औ मैं जान कवित अस कीन्हा। मकु गह रहे जगत मँह चीन्हा।।'*6 रीतिकालीन कवि आचार्य कुलपति, देव और भिखारीदास ने भी अपने काव्य प्रयोजनों में यश प्राप्ति को विशेष स्थान दिया है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने चिन्तामणि में यह स्वीकार है किया है कि 'काव्य से व्यवहार-ज्ञान होता है। यह धारणा कि काव्य— व्यवहार का बाधक है, उसके अनुशीलन से अकर्मण्यता आती है, ठीक नहीं। कविता तो भाव प्रचार द्वारा कर्मण्य के लिए कर्मक्षेत्र का और विस्तार कर देती है।'*7 वे काव्य का प्रमुख प्रयोजन 'रसानुभूति' मानते हैं— 'कविता का अन्तिम लक्ष्य जगत में मार्मिक पक्षों का प्रत्यक्षीकरण करके उसके साथ मनुष्य हृदय का सामंजस्य स्थापन है।' अन्य हिंदी साहित्यकारों ने भी साहित्य-प्रयोजन के विषय में पर्याप्त लिखा है। मैथिलीशरण गुप्त ने 'काव्य प्रयोजन' केवल मनोरंजन नहीं अपितु उचित-उपदेश की महत्ता स्वीकार करते हुए लिखते हैं—

"केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए।
उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए।" *8

इसी प्रकार, वे 'काव्य ; कला के लिए' सिद्धान्त का भी खण्डन करते हुए कहते हैं कि कला लोकहित के लिए होनी चाहिए —

'मानते हैं जो कला को बस कला के अर्थ ही।

स्वार्थिनी करते कला को व्यर्थ ही ।।'

साहित्य वस्तुतः प्रयोजन-हीन नहीं रह सकता है। प्रयोजन ; साहित्य की स्वतः उत्पन्न भूमि है।

इस सब के साथ यदि स्त्री-आत्मकथाओं के प्रयोजन की बात करें तो; स्त्री-आत्मकथाएँ प्रथमतः 'स्व' की पहचान और उसकी अभिव्यक्ति हैं। स्त्री आत्मकथाएँ; स्त्रियों को यह अवसर देती हैं कि वे स्वयं को परिभाषित करें। वे अपनी पहचान, संघर्ष और इच्छाओं को अपनी दृष्टि से प्रस्तुत करती हैं, न कि पुरुष दृष्टिकोण से। अस्मिता की शिनाख्त और इस शिनाख्तगी का विस्तार 'स्त्री आत्मकथाओं' का मूल हैं, इस नाते ये प्रासंगिक हैं।

4.3.i.a. पितृसत्तात्मक व्यवस्था का प्रतिरोध—

ये आत्मकथाएँ पारंपरिक स्त्री-भूमिकाओं को चुनौती देती हैं। पत्नी, बेटी, माँ, बहू आदि की भूमिकाओं को केवल सेवा और समर्पण के रूप में नहीं, बल्कि उनके अंदर की जटिलताओं और यातनाओं के रूप में भी सामने लाती हैं। आज भी; मानव होने के नाते 'विकास के समान अवसर' उपलब्ध होना स्त्री का सबसे बड़ा स्वप्न हैं। यह स्वप्न आज भी स्वप्न ही हैं। स्त्री आत्मकथाएँ इन्हीं स्वप्नों के पथ-निर्माण का हिस्सा हैं— जहाँ, आधी आबादी अपनी उमंगो को सरपट दौड़ा सके।

4.3.i.b. हाशिए की आवाज़ को मुख्यधारा में लाना—

स्त्री-आत्मकथाएँ अक्सर जाति, वर्ग, धर्म और लिंग आधारित अन्याय को उजागर करती हैं। समाज के किसी भी महत्वपूर्ण और दिशा-निर्धारक फ़ैसले में स्त्रियों की आवाज़ का दमन किया जाना चलता आया है। फिर चाहे कोई फ़ैसला स्त्री-मुद्दों से जुड़ा हुआ ही क्यों न हो!

उसमें भी स्त्रियों की भागीदारी और सहमति-असहमति की कोई तवज्जो मुश्किल से नज़र आती है। स्त्री आत्मकथाएँ; हाशिए की इन आवाज़ों को शब्द देने के कारण प्रासंगिक हैं।

4.3.i.c. साहित्यिक विधा का विस्तार—

आत्मकथा को पहले पुरुष-प्रधान विधा माना जाता था, पर स्त्री लेखन ने इसमें भावनात्मक गहराई, अनुभव की विविधता और वैचारिक नवीनता जोड़ी है।

समकालीन विमर्शों से जुड़ाव —

4.3.i.c.i. अंतर-अनुशासनिक दृष्टिकोण — स्त्री-आत्मकथाएँ साहित्य की आपबीती मात्र नहीं हैं बल्कि इन आत्मकथ्यों में 'अंतर-अनुशासनिक दृष्टिकोण' का गहरा प्रभाव निहित है। हम पिछले विश्लेषणों में ये स्पष्ट देख चुके हैं कि, स्त्री-आत्मकथाएँ वस्तुतः पितृसत्तात्मक भाषा की तोड़फोड़ से ही सम्भव हो पाती हैं क्योंकि बिना भाषिक तोड़फोड़ के 'प्रतिरोध' होना सम्भव नहीं। इस तरह स्त्री-आत्मकथाएँ अंतर-अनुशासनिक दृष्टिकोण से सीधी जुड़ती हैं

4.3.i.c.ii. विखंडनवाद — स्त्री-आत्मकथाओं में भाषा का डी-कोडिकरण विखंडनवाद के कारण ही सम्भव हुआ है। विखंडनवाद (Deconstruction) भाषा और अर्थ की निश्चितता को चुनौती देता है। जैक्स देरिदा के अनुसार, भाषा में अर्थ स्थिर नहीं होता, बल्कि वह हमेशा टलता रहता है और संदर्भों पर निर्भर करता है। प्रत्येक शब्द का अर्थ किसी अन्य शब्द से जुड़ा होता है, जिससे "अर्थ का अपसरण" होता है। विखंडनवाद यह मानता है कि कोई भी पाठ एक सुनिश्चित, अंतिम अर्थ नहीं देता, बल्कि उसमें अनेक अर्थ छिपे होते हैं जो पाठक की दृष्टि और संदर्भ से बदल सकते हैं। स्त्री-आत्मकथाएँ अपने संदर्भों का प्रयोग कर भाषा को नए रास्ते पर ले जाती हैं।

4.3.i.c.iii. संरचनावाद और उत्तर-संरचनावाद — संरचनावाद स्त्री-आत्मकथाओं को एक निश्चित संरचना और भाषा के ढांचे में समझने का प्रयास करता है, जबकि उत्तर-संरचनावाद इन ढांचों को तोड़कर व्यक्तिगत अनुभव, बहुलता और विविधता को महत्व देता है। स्त्री-आत्मकथाएँ परंपरागत पुरुष-केन्द्रित संरचनाओं को चुनौती देती हैं, जिससे उत्तर-संरचनावादी दृष्टिकोण अधिक प्रासंगिक बनता है। ये आत्मकथाएँ सत्ता, पहचान और लैंगिक अस्मिता की जटिलताओं को उजागर करती हैं। उत्तर-संरचनावाद स्त्री अनुभवों की बहुआयामीता को स्वीकारते हुए उन्हें विमर्श का हिस्सा बनाता है, जिससे आत्मकथाओं में नया आलोचनात्मक दृष्टिकोण विकसित होता है।

4.3.i.c.iv. दलित और आदिवासी विमर्श में स्त्री-प्रश्न : दलित और आदिवासी विमर्श में स्त्री-प्रश्न दोहरी उत्पीड़न की संरचना को उजागर करता है—एक ओर जाति/जनजाति आधारित शोषण, दूसरी ओर पितृसत्ता का दमन। दलित-स्त्रियाँ जातिगत हिंसा, आर्थिक शोषण और लैंगिक भेदभाव से त्रस्त हैं, वहीं आदिवासी स्त्रियाँ विस्थापन, प्राकृतिक संसाधनों के दोहन और सांस्कृतिक क्षरण की मार झेलती हैं।

इस तरह स्त्री-आत्मकथाएँ; अंतर-अनुशासनिक दृष्टिकोण, विखंडनवाद, संरचनावाद और उत्तर-संरचनावाद, दलित और आदिवासी विमर्श में स्त्री-प्रश्न इत्यादि जैसी आधुनिक विचारधाराओं से संवाद करती हैं, जिससे वे शैक्षणिक और वैचारिक जगत में अत्यंत उपयोगी सिद्ध होने के कारण प्रासंगिक हैं।

4.3.i.c.v. मनोवैज्ञानिक और अस्तित्ववादी प्रासंगिकता —

स्त्री-आत्मकथाएँ स्त्री के 'स्व' की खोज हैं। वे उस आत्मा की पहचान कराती हैं जो लंबे समय तक दूसरों की परिभाषाओं में गुम थी। इन रचनाओं में यौनिकता, मातृत्व, अकेलापन, आत्मसंघर्ष, अवसाद और आत्मबल जैसी मनोवैज्ञानिक गहराइयों की अभिव्यक्ति मिलती

है। मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा "कस्तूरी कुंडल बसै" आत्मा की गहराइयों से टकराने वाली रचना है, जिसमें लेखिका न केवल सामाजिक सीमाओं से, बल्कि अपने भीतर की कुंठाओं और प्रश्नों से भी संघर्ष करती है।

4.3.i.c.vi. शैक्षिक और अकादमिक उपयोगिता —

आज विश्वविद्यालयों में स्त्री आत्मकथाएँ स्त्री अध्ययन, दलित साहित्य, और समकालीन भारतीय साहित्य के पाठ्यक्रमों का अनिवार्य हिस्सा हैं। ये रचनाएँ केवल साहित्यिक अध्ययन के लिए नहीं, बल्कि समाजशास्त्र, राजनीति, मनोविज्ञान और इतिहास के शोध के लिए भी आधार सामग्री उपलब्ध कराती

स्त्री आत्मकथाएँ आज की दुनिया में स्त्री जीवन के बहुआयामी संघर्षों, भावनाओं और पहचान की खोज की सच्ची दस्तावेज़ी हैं। इनकी प्रासंगिकता इस बात में है कि वे न केवल हमें 'औरत' के अनुभव से जोड़ती हैं, बल्कि समाज, सत्ता और संस्कृति की गहराई से आलोचना भी प्रस्तुत करती हैं। यह साहित्य अब केवल स्त्रियों का साहित्य नहीं, बल्कि एक व्यापक मानवीय दस्तावेज़ बन चुका है।

4.3.i.c.vi. ऐतिहासिक प्रासंगिकता —

स्त्री आत्मकथाएँ भारतीय समाज के उस इतिहास का पुनर्लेखन करती हैं जिसे पुरुषों ने अपनी दृष्टि से लिखा था। इतिहास में जहाँ स्त्रियाँ अनुपस्थित थीं या सीमित रूप में थीं, वहीं आत्मकथाओं के माध्यम से स्त्रियाँ अपने अनुभवों और यथार्थ को खुद शब्दों में पिरोती हैं। यह इतिहास सत्ता और अधिकार के बजाय संवेदना और संघर्ष का इतिहास है। उदाहरण: उर्मिला पवार की आत्मकथा "आयदान" में न केवल दलित स्त्री के अनुभव हैं, बल्कि एक ऐसे युगीन यथार्थ का चित्रण है जिसमें सामाजिक आंदोलन, शिक्षा और आत्मबोध का संघर्ष समाहित है। कहने से तात्पर्य ये है कि आत्मकथाएँ नारीवादी चेतना का ही नहीं,

दलित-नारीवादी और बहुजन चेतना का भी प्रतिनिधित्व करती हैं। इनका स्वर केवल भावनात्मक नहीं, वैचारिक और विमर्शात्मक भी होता है।

स्त्री आत्मकथाओं की प्रासंगिकता केवल साहित्य तक सीमित नहीं है; यह सामाजिक बदलाव, वैचारिक जागरूकता और आत्म-स्वीकृति की एक व्यापक परियोजना का हिस्सा है। ये रचनाएँ एक तरफ जहाँ पितृसत्तात्मक सत्ता-संरचनाओं की आलोचना करती हैं, वहीं दूसरी तरफ स्त्री के आत्मबोध और स्वाभिमान को सशक्त बनाती हैं। वे बताती हैं कि स्त्री महज़ "अन्य" नहीं है, वह स्वयं एक "पूर्ण अस्तित्व" है—अनुभव, विचार और अभिव्यक्ति का स्वायत्त स्रोत।

4.3.ii. प्रभाव

स्त्री आत्मकथाओं का प्रभाव न केवल साहित्यिक क्षेत्र में, बल्कि सामाजिक, वैचारिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण से भी अत्यंत गहरा और परिवर्तनकारी रहा है। इन आत्मकथाओं ने नारी अनुभवों को केवल साहित्यिक विषय नहीं, बल्कि सामाजिक विमर्श का केंद्र बना दिया है। इनका प्रभाव बहुआयामी है:

- स्त्री आत्मकथाओं ने आत्मकथा जैसे पुरुष-प्रधान विधा को एक नई दिशा दी।
- इसमें भावनात्मक सघनता, आत्म-संवाद और संवेदना की गहराई आई, जो पहले प्रायः अनुपस्थित थी।
- अब साहित्य में स्त्री 'विषय' नहीं, 'लेखक' बनकर सामने आई है।इन आत्मकथाओं ने नारीवाद को जमीनी स्तर पर मज़बूती दी।
- इन रचनाओं ने पितृसत्तात्मक मान्यताओं को चुनौती दी और स्त्री के प्रति समाज की सोच में बदलाव की ज़रूरत को उजागर किया।

- कई विषय जो 'निजी' और 'शर्मनाक' माने जाते थे, जैसे मासिक धर्म, यौनिकता, विवाह का बोझ, सार्वजनिक चर्चा का हिस्सा बनने लगे।
- हाशिए के अनुभवों को मुख्यधारा में लाना
- दलित, आदिवासी, ग्रामीण और अल्पसंख्यक स्त्रियों की आत्मकथाओं ने उनके अनुभवों को साहित्यिक और सामाजिक विमर्श में लाकर मुख्यधारा को समृद्ध किया।
- स्त्री आत्मकथाएँ विश्वविद्यालयों और अकादमिक शोध में एक महत्वपूर्ण पाठ्य सामग्री बन चुकी हैं।
- इनके माध्यम से समाजशास्त्र, लिंग अध्ययन, इतिहास और साहित्य जैसे विषयों में नया दृष्टिकोण आया है।

हिंदी की स्त्री आत्मकथाएँ आधुनिक भारतीय साहित्य में एक वैचारिक, सामाजिक और सांस्कृतिक हस्तक्षेप के रूप में उभरकर सामने आई हैं। ये आत्मकथाएँ केवल किसी स्त्री के व्यक्तिगत जीवन का लेखा-जोखा नहीं हैं, बल्कि पितृसत्तात्मक समाज के भीतर स्त्री के संघर्ष, अस्मिता, मानसिक द्वंद्व और चेतना की सशक्त अभिव्यक्ति हैं।

इन रचनाओं में स्त्रियाँ अपनी चुप्पियों को तोड़ते हुए, अपने जीवन की उन परतों को सामने लाती हैं जिन्हें समाज ने या तो अस्वीकार किया या अनदेखा कर दिया। बचपन की असुरक्षा, शिक्षा में भेदभाव, दांपत्य जीवन की घुटन, मातृत्व की दुविधा, आत्मनिर्भर बनने की जिजीविषा और बौद्धिक स्वातंत्र्य की आकांक्षा—इन सभी पक्षों को आत्मकथात्मक शैली में निर्भीकता और आत्मविश्वास से प्रस्तुत किया गया है।

इन आत्मकथाओं की सबसे बड़ी प्रासंगिकता इस बात में निहित है कि ये स्त्री को केवल सहनशील और त्यागमयी रूप में नहीं, बल्कि एक सोचने-समझने वाली, प्रतिरोध कर सकने वाली, और आत्मनिर्णय लेने वाली सत्ता के रूप में चित्रित करती हैं। इनमें स्त्री अपने

समाज, परिवार और रिश्तों से सवाल करती है—वह स्वयं से पूछती है कि वह कौन है, और उसे क्या होना चाहिए।

इन रचनाओं का प्रभाव यह रहा है कि इन्होंने हिंदी साहित्य में स्त्री की जगह को केवल भावनात्मक नहीं, बल्कि वैचारिक और आलोचनात्मक स्तर पर भी मज़बूत किया है। इन्होंने स्त्री-विमर्श को एक नई दिशा दी, जहाँ स्त्री अनुभव की प्रामाणिकता ही विमर्श का मूल आधार बनी। साथ ही, इन आत्मकथाओं ने यह स्पष्ट किया कि स्त्री की पीड़ा केवल घरेलू नहीं, बल्कि सांस्कृतिक और सामाजिक संरचनाओं में निहित असमानता का परिणाम है।

समाज की पारंपरिक चुप्पियों को तोड़ते हुए ये आत्मकथाएँ एक नई सामाजिक चेतना को जन्म देती हैं। इनका स्वर कहीं प्रतिरोधात्मक है, कहीं आत्मालोचनात्मक, तो कहीं विचारोत्तेजक। आज के संदर्भ में जब स्त्री अस्मिता, स्वतंत्रता और समानता के प्रश्न पहले से अधिक मुखर हैं, तब इन आत्मकथाओं की प्रासंगिकता और प्रभाव और भी अधिक गहरा हो जाता है। ये न केवल अतीत की गवाही हैं, बल्कि वर्तमान और भविष्य के स्त्री विमर्श की आधारभूमि भी हैं।

वस्तुतः स्त्री-आत्मकथाओं ने बहुत गहन तरीक़े से स्त्री-समाज को बदलने का प्रयास किया है। हालाँकि इनकी गहनता तो पर्याप्त है लेकिन व्यापकता उतनी नहीं है क्योंकि वर्तमान के उपभोक्तावादी समाज तथा सोशल मीडिया के आततायी परिवेश में 'शरीर' स्वयं एक उत्पाद है और 'समझ' का सतहीपन ही जिज्ञासा की अंतिम परिणति है। इस नाते स्त्री रचनाकारों ने जिस 'शरीर' और 'लिंगाधारित' विशेषणों के ख़िलाफ़ बिगुल बजाया था—उसकी अभीप्सित व्यापकता प्राप्त नहीं हो पायी। मग़र फिर भी अथक और अहारी चेष्टाओं ने ही इस दुनिया की अन्यायपूर्ण रूढ़ियों को परास्त किया है। स्त्री-आत्मकथाएँ— उसी भगीरथ प्रयास की एक कड़ी हैं।

संदर्भ :

1. डॉ महेंद्र प्रजापति, हिंदी स्त्री आत्मकथाएँ : एक मूल्यांकन, पृष्ठ 39
2. राजेंद्र यादव, देहरि भई विदेश, पृष्ठ 19
3. सेठ गोविंददास गुप्ता, आत्मनिरीक्षण- भाग 1, पृष्ठ 6
4. डॉ. कमलापति उपाध्याय**,** हिंदी आत्मकथा सा. का शैलीगत अध्ययन, आमुख पृष्ठ 1,
5. डॉ चम्पा श्रीवास्तव, हिंदी का आत्मकथात्मक साहित्य, पृष्ठ 226
6. मलिक मुहम्मद जायसी, पद्मावत, पृष्ठ 42
7. आचार्य रामचंद्र शक, चिंतामणि, पृष्ठ 69
8. मैथिलीशरण गुप्त, भारत भारती - भविष्यत् खंड, पृष्ठ 143

अध्याय : 5

हिंदी-आत्मकथा एवं भाषा

5.1 — हिंदी-आत्मकथात्मक भाषा का स्वरूप

5.2 —हिंदी की स्त्री-आत्मकथाओं की भाषा

5.1
हिंदी-आत्मकथात्मक भाषा का स्वरूप

भाषा ; मनुष्यता के समूचेपन का प्रमुख आधार है। संस्कृति-सभ्यता, समाज-संवाद की जिस दशा और दिशा में आज हम पहुँचे हैं उसकी पृष्ठभूमि में भाषा का महत्वपूर्ण योगदान है। यह वह माध्यम है जिसके द्वारा हम अपने विचारों, भावनाओं, अनुभवों और ज्ञान को दूसरों तक पहुँचाते हैं। भाषा; मानव जीवन की आत्मा है। यह न केवल अभिव्यक्ति का साधन है, बल्कि आत्मसम्मान, सांस्कृतिक पहचान और सामाजिक चेतना का स्रोत भी है। संस्कृत के प्रसिद्ध नीतिशास्त्री और वैयाकरण आचार्य भर्तृहरिरचिता 'वाक्यपदीय' (Vākyapadīya) नामक ग्रन्थस्य प्रथमकाण्डे (ब्रह्मकाण्डः) कर्माणि काव्यैः कूटितः। श्लोकाङ्कः 1.123 इति दृश्यते—

"न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुबिद्धमिव ज्ञानम् सर्व शब्देन भासते।।"*1

अर्थात्, भाषा मनुष्य के बौद्धिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास का मूल आधार है। यह केवल संप्रेषण का साधन मात्र नहीं, बल्कि विचार, अनुभव, संवेदना और ज्ञान को अभिव्यक्त करने का एक सशक्त उपकरण है। संसार में ऐसा कोई विषय नहीं है जो भाषा—या शब्द—का सहारा न ले। ज्ञान की उत्पत्ति, उसका संचरण और उसका विकास—इन सबकी प्रक्रिया में भाषा की अनिवार्य भूमिका होती है। मनुष्य का चिंतन, उसकी अनुभूति और भावों की अभिव्यक्ति भाषा के माध्यम से ही संभव हो पाती है।

मनुष्य जन्म से मृत्यु तक भाषा का आश्रय लेता है—चाहे वह ज्ञान अर्जित कर रहा हो, अनुभूतियों को बाँट रहा हो, या सामाजिक संपर्क स्थापित कर रहा हो। भाषा न केवल विचार विनिमय का माध्यम है, बल्कि यह मानवीय चेतना की संप्रेषणीय अभिव्यक्ति भी है। इसी कारण भाषा मनुष्य की बौद्धिक जिज्ञासा, सांस्कृतिक स्मृति और सामाजिक संरचना का मूल आधार बन जाती है।

भाषा के माध्यम से न केवल ज्ञान का संप्रेषण संभव होता है, बल्कि सामाजिक आचरण और व्यवहार की निरंतरता भी सुनिश्चित होती है। यही कारण है कि भाषा समाज को गतिशीलता, अनुशासन और संवादशीलता प्रदान करती है। इसी प्रसंग में यह प्राचीन उक्ति सार्थक प्रतीत होती है— 'वचनमेव प्रसादेन लोकयात्रा प्रवर्तते', अर्थात वाणी की माधुर्यता और मर्यादा से ही सामाजिक जीवन की यात्रा सुचारु रूप से संचालित होती है। इस प्रकार भाषा न केवल जीवन को सुबोध एवं सहज बनाती है, बल्कि उसे अर्थ, दिशा और उद्देश्य भी प्रदान करती है।

आचार्य दण्डी द्वारा रचित 'काव्यादर्श' (Kāvyādarśa) नामक ग्रन्थ के प्रथम अध्याय (अधिकार) के तृतीय गान (खंड) अर्थातः अधिकार 1.3 में लिखा है—

"इन्दम्न्धन्तमः कृस्नं जायेत भुवनत्रयम् ।
यदि शब्दाहवयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते ।।"*2

अर्थात्, यदि संसार में शब्द या भाषा रूपी प्रकाश का अस्तित्व न होता, तो समस्त त्रिलोक अज्ञान और अंधकार में डूबा रहता। वास्तव में भाषा केवल बोलचाल का माध्यम नहीं, बल्कि यह मानवीय चेतना, संस्कृति, और समाज का मूल आधार है। सामान्य जीवन में 'भाषा' शब्द का प्रयोग व्यापक संदर्भों में होता है—यह विचारों की अभिव्यक्ति का, अनुभूतियों के संप्रेषण का और ज्ञान के प्रसार का प्रभावशाली माध्यम है।

भाषा मनुष्य को न केवल अन्य प्राणियों से भिन्न बनाती है, बल्कि उसे सोचने, समझने, और समाज में संवाद स्थापित करने की क्षमता भी देती है। इसके मूल तत्व 'शब्द' होते हैं, जो किसी व्यक्ति या समाज द्वारा मान्य उच्चारण और अर्थ के साथ प्रयुक्त होते हैं। यही शब्द, जब एक व्यवस्थित क्रम में संगठित होकर वाक्य बनाते हैं, तो वे न केवल संप्रेषण को संभव बनाते हैं, बल्कि किसी विचार, भावना या सन्देश को सार्थक रूप भी प्रदान करते हैं। इस प्रकार भाषा केवल शब्दों का समूह नहीं, बल्कि यह एक जीवंत शक्ति है जो

मानवीय संबंधों को जोड़ती है, सामाजिक संरचनाओं को कायम रखती है और ज्ञान को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचाती है।

भाषा को परिभाषा में सँजोने का कार्य अनेक विद्वानों ने किया है। दूरवर्ती अध्ययन एवं सतत शिक्षा केन्द्र महात्मा गाँधी चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय चित्रकूट, सतना (म.प्र.)*3 के हिन्दी भाषा एवं भाषा विज्ञान (चतुर्थ प्रश्न पत्र) में दी गईं कुछ प्रमुख परिभाषाएँ इस प्रकार हैं—

5.1.i. भारतीय मत में भाषा —

'वर्णों में व्यक्त वाणी को भाषा कहते है।' — महर्षि पंतजलि

'भाषा वह साधन है जिसके द्वारा मनुष्य अपने विचार दूसरों पर भली भाँति प्रकट कर सकता है और दूसरों के विचारों को स्पष्टतः समझ सकता है।' कामता प्रसाद गुरू

'भाषा, उच्चारण अवयवों से उच्चरित, यादृच्छिक ध्वनि प्रतीकों की वह व्यवस्था है, जिसके द्वारा समाज विशेष के लोग आपस में विचारों का आदान प्रदान करते हैं।' डॉ. भोलानाथ तिवारी

'कण्ठ से निःसृत अर्थवान ध्वनि समष्टि ही भाषा है।' सुकुमार सेन

5.1.ii. पाश्चात्य मत में भाषा —

प्लेटो ने अपने ग्रंथ Poetics में इस संबंध में कहा है कि 'विचार आत्मा की मूक या अध्वन्यात्मक बातचीत है, पर वही जब ध्वन्यात्मक होकर होठों पर प्रकट होती है तो उसे भाषा की संज्ञा देते हैं।' क्रोचे 'Language is articulate, limited sound, employed in expression' अर्थात् अभिव्यंजना के लिए प्रयुक्त स्पष्ट, सीमित तथा सुसंगठित ध्वनि को भाषा कहते हैं।

कार्डिनर 'The common definition of speech is the use of articulate sound symbols for the expression of thought.' यानी, विचारों की अभिव्यक्ति के लिए व्यवहृत व्यक्त और स्पष्ट ध्वनि संकेतों को भाषा कहते हैं।

वस्तुतः भाषा यादृच्छिक ध्वनि प्रतीकों की वह व्यवस्था है, जिससे एक सामाजिक समूह परस्पर सहयोग करता है। साहित्य में 'शिल्प' और 'वस्तु' दोनों के सफल संबंध निर्वाह के लिये सबसे आवश्यक एवं सक्षम माध्यम है- भाषा! लेखक से पाठक का साक्षात्कार भाषा के माध्यम से ही हो पाता है, अभिव्यंजना के विविध प्रसाधन भाषा के बिना मूक रह जाते हैं। यह भाषा का ही प्रभाव है कि सम्प्रेषणीयता लेखक से पाठक तक अपना संबंध आत्मीय स्तर पर बनाए चलती है। अतः सफल अभिव्यंजना के लिये सक्षम भाषा का माध्यम अति आवश्यक हो जाता है।

अलग-अलग समुदायों में भाषा स्थानीय परिवेश के अनुसार रूपांतरित होती है, जो उनकी सांस्कृतिक और सामाजिक पहचान का अभिव्यक्ति करती है। भाषा की प्रमुख विशेषताएँ शब्दावली, व्याकरण, स्वर, और शैली होती हैं। भाषा विकास के दौरान नई शब्दावली, विशेषताएँ, और नियम जुड़ते रहते हैं, जिससे वह समृद्ध और प्रभावी बनी रहती है। वहीं; 'साहित्यिक भाषा' रचनात्मकता के साथ-साथ विचारों की गहराई और सामाजिक संवाद में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

भाषा ; विभिन्न विधाओं के अनुसार अपना स्वरूप सवाँरती है। हिंदी और आत्मकथा का सम्बन्ध भी इसी नाते विशिष्ट है। वास्तव में; भाषा और आत्मकथा का गहरा संबंध है। आत्मकथाओं की भाषा सरल, स्पष्ट और भावुक होती है। आत्मकथाओं की भाषा सरल, स्पष्ट और भावुक होती है जिसमें लेखक अपने जीवन के अनुभवों, संघर्षों, और भावनाओं को प्रस्तुत करता है और इसकी भाषा सरल, स्पष्ट और भावुक होती है। यह भाषा सजीव और विवरणात्मक होती है, जिससे पाठक लेखक के जीवन के महत्वपूर्ण क्षणों का अनुभव कर सकते हैं। क्षेत्रीय भाषा और बोली का प्रयोग आत्मकथाओं को प्रामाणिकता प्रदान करता

है। साथ ही ईमानदारी और आत्मनिरीक्षण का तत्व इन्हें प्रेरणादायक बनाता है। वस्तुतः आत्मकथाओं में सामाजिक, सांस्कृतिक और प्राकृतिक तत्वों का समावेश भी प्रमुख है जिससे पाठक उस समय और समाज को बेहतर समझ पाते हैं।

साहित्यिक रचनाओं में भाषा प्रायः लेखक की अभिव्यक्ति के अनुरूप ढलती है— वह उसकी संवेदना की अनुगामी और विचारों की अनुचर होती है। किंतु आत्मकथा जैसी सत्यकेंद्रित विधा में भाषा केवल साहित्यिक सौंदर्य का माध्यम नहीं रह जाती; वहाँ वह सत्य की संवाहक भी बन जाती है। आत्मकथा-लेखन में यदि भाषा कृत्रिम हो जाए, तो वह न केवल यथार्थ को विकृत करती है, अपितु आत्मानुभूति की प्रामाणिकता को भी आहत करती है।

इसीलिए जब कोई साहित्यकार अपनी आत्मकथा लिखता है, तो वहाँ उसकी भाषा शैली की सजगता से अधिक आत्म की स्वाभाविक धारा का अनुसरण करती है। उसमें परिनिष्ठता और प्रांजलता के गुण होते हैं, किंतु वे आत्माभिव्यक्ति की सहजता के अधीन रहते हैं। इस सहजता में प्रायः देशजता, स्थानीय भाषिक प्रभाव, और जीवन-स्पर्शी लय अनायास ही समाहित हो जाते हैं। यही कारण है कि साहित्यकारों की आत्मकथाओं में भाषा का रूप उनके कथा-साहित्य से भिन्न, किंतु अधिक आत्मीय और जीवंत प्रतीत होता है— जहाँ साहित्यिक सौंदर्य नहीं, आत्म-सत्य की प्रतिध्वनि प्रधान होती है।

आत्मकथाओं की भाषा में कुछ आधारीय तत्व होते हैं जो इसे अन्य साहित्यिक शैलियों से अलग बनाती हैं। आत्मकथाओं की कुछ आधारीय तत्व विशेषताएँ निम्नलिखित हैं:

5.1.iii. सरलता और स्पष्टता —

आत्मकथाओं की भाषा सरल और स्पष्ट होती है ताकि पाठक आसानी से समझ सकें। कोई भी ऐसी आत्मकथा जिसकी भाषा अस्पष्ट है— तो आत्मकथा के मूल को समझना दुष्कर होता है। विदित है कि आत्मकथा लेखक की सामान्य अभिव्यक्ति न होकर उसके जीवन की

ख़ास अभिव्यक्ति होती है; ऐसे में भाषा का सम्प्रेषणपरक होना परमावश्यक है। वस्तुतः लेखकों का प्रयास रहता है कि वे बिना किसी जटिलता के अपने अनुभवों को प्रस्तुत करें।

आत्मकथा 'मुड़-मुड़ के देखता हूँ' में राजेंद्र यादव स्पष्ट तौर पर कहते हैं "यह मेरी आत्मकथा नहीं है। इन 'अंतर्दर्शनों' को मैं ज्यादा-से-ज्यादा 'आम्त्काथ्यांश' का नाम दे सकता हूँ। आत्मकथा वे लिखते हैं जो स्मृति के सहारे गुजरे हुए को तरकीब दे सकते हैं। लम्बे समय तक अतीत में बने रहना उन्हें अच्छा लगता है। लिखने का वर्तमान क्षण, वहां तक आ पहुँचने की यात्रा ही नहीं होता, कहीं-न-कहीं उस यात्रा के लिए 'जस्टिफिकेशन' या वैधता की तलाश भी होती है-मानो कोई वकील केस तैयार कर रहा हो। लाख न चाहने पर भी वहां तथ्यों को काट-छाँटकर अनुकूल बनाने की कोशिशें छिपाए नहीं छिपती : देख लीजिए, मैं आज जहाँ हूँ वहां किन-किन घाटियों से होकर आया हूँ। अतीत मेरे लिए कभी भी पलायन, प्रस्थान की शरणस्थली नहीं रहा। वे दिन कितने सुन्दर थे.... काश, वही अतीत हमारा भविष्य भी होता-की आकांक्षा व्यक्ति को स्मृति-जीवी, निठल्ला और राष्ट्र को सांस्कृतिक राष्ट्रवादी बनाती है। जाहिर है इन स्मृति-खण्डों में मैंने अतीत के उन्ही अंशों को चुना है जो मुझे गतिशील बनाए रहे हैं। जो छूट गया है जो मुझे गतिशील बनाए रहे हैं। जो छूट गया हेई वह शायद याद रखने लायक नहीं था; न मेरे, न औरों के.... कभी-कभी कुछ पीढ़ियाँ अगलों के लिए खाद बनती हैं। बीसवीं सदी के 'उत्पादन' हम सब 'खूबसूरत पैकिंग' में शायद वही खाद हैं। यह हताशा नहीं, अपने 'सही उपयोग' का विश्वास है, भविष्य की फसल के लिए.... बुद्ध के अनुसार ये वे नावें हैं जिनके सहारे मैंने जिन्दगी की कुछ नदियाँ पार की हैं और सिर पर लादे फिरने की बजाय उन्हें वहीँ छोड़ दिया है।"*4

राजेंद्र यादव के आत्मकथांश में सरलता और स्पष्टता का स्वर अत्यंत प्रभावशाली ढंग से उभरता है। वे आत्मकथा को लेकर किसी भ्रम या दावे में नहीं पड़ते, बल्कि पूरे आत्मबोध और ईमानदारी से स्वीकार करते हैं कि यह पारंपरिक अर्थों में आत्मकथा नहीं, बल्कि उनके जीवन के कुछ ऐसे क्षण हैं जिन्हें उन्होंने "अंतर्दर्शन" कहा है। उनकी भाषा

सहज, आत्मीय और बिना किसी कृत्रिम सजावट के सीधे पाठक से संवाद करती है। वे आत्मकथा के पीछे छिपी "जस्टिफिकेशन" की प्रक्रिया को उजागर करते हुए इसे एक वकीली क़िस्म की कोशिश बताते हैं, जिसमें व्यक्ति अक्सर अपने अतीत को सलीके से सजाकर प्रस्तुत करता है।

राजेंद्र यादव की शैली में कोई क्लिष्ट दार्शनिकता या सैद्धांतिक बोझ नहीं है, बल्कि अनुभव की सीधी, बेबाक और पारदर्शी प्रस्तुति है। "अतीत मेरे लिए पलायन की शरणस्थली नहीं रहा" या "कभी-कभी कुछ पीढ़ियाँ अगलों के लिए खाद बनती हैं"—जैसे वाक्य न केवल साफ़ और संप्रेषणीय हैं, बल्कि गहरी वैचारिक अंतर्दृष्टि को भी अत्यंत सुलभ भाषा में प्रकट करते हैं। इस आत्मकथांश की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि राजेंद्र यादव न तो स्मृति में रच-बसकर संजीदा होते हैं, न ही आत्ममुग्ध होते हैं; बल्कि वे आत्मकथात्मक लेखन को वैचारिक ईमानदारी के साथ, अत्यंत सरल और स्पष्ट ढंग से प्रस्तुत करते हैं।

अमृतलाल नागर की आत्मकथात्मक कृति 'टुकड़े टुकड़े दास्तान' (1986) में लिखते हैं — "मैंने जो लिखा, वह शायद उतना अच्छा नहीं था, लेकिन वह मेरा था — मेरे समय, मेरी सोच और मेरी आत्मा का अक्स।"*5 अमृतलाल नागर का यह कथन आत्मकथात्मक लेखन की भीतरी सच्चाई और ईमानदारी को बेहद सादगी से व्यक्त करता है। 'मैंने जो लिखा, वह शायद उतना अच्छा नहीं था'—यह स्वीकारोक्ति लेखकीय अहं से मुक्त होकर आत्मान्वेषण की दिशा में उठाया गया कदम है। इस कथन में सरलता और स्पष्टता दोनों हैं, जो आत्मकथा को बनावटी आत्मप्रशंसा से दूर रखते हैं।

'वह मेरा था—मेरे समय, मेरी सोच और मेरी आत्मा का अक्स'—इस वाक्य में लेखक अपने लेखन को सम्पूर्ण निष्ठा के साथ स्वीकार करता है। यह आत्मकथ्य केवल घटनाओं का लेखा-जोखा नहीं, बल्कि लेखक की अंतरात्मा, उसके युगबोध और वैचारिक दृष्टि का प्रतिबिम्ब है। अमृतलाल नागर की भाषा में कोई प्रदर्शन नहीं, बल्कि अनुभूति की

सच्चाई और आत्मीयता है, जो पाठक से सीधे संवाद करती है। यह कथन आत्मकथा की उस प्रामाणिकता को रेखांकित करता है जहाँ लेखन आत्मा की आवाज़ बन जाता है।

5.1.iv. भावुकता और व्यक्तिगतता —

आत्मकथा तभी लिखी जा सकती है जब हृदय का संवेग उच्छल स्वरूप में अभिव्यक्त होता है। बिना किसी विकट आवेग के आत्मकथा को बाहर निकालना मुश्किल होता है। इसी नाते; आत्मकथाओं की भाषा में गहरी भावुकता और व्यक्तिगतता होती है। वास्तव में यही भावुकता और व्यक्तिगतता पाठकों को आत्मकथा से जोड़ती है; जिससे पाठक अपना तारतम्य बिठाता है और साहित्य के संदेश को व्यापक करता है। लेखक अपने अनुभवों और भावनाओं को ईमानदारी से व्यक्त करता है। हरिवंश राय बच्चन की 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' आत्मकथा में हरिवंश राय बच्चन ने अपने जीवन के शुरुआती दौर का वर्णन किया है। उनकी भाषा में भावुकता और व्यक्तिगतता की झलक मिलती है।

हरिवंश राय 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' आत्मकथा में लिखते हैं— "मेरे केम्ब्रिज-प्रवास में ललितपुर का वह भावना केन्द्र क्यों सहसा स्फुरित हो उठा, मैं खुद नहीं जानता। क्या 17, क्लाइव रोड के घर की याद से उसका कुछ संबंध था ?... प्रसंगवश बता दूँ कि वह किराए का बँगला था, फाटक पर 'ललिताश्रम' नाम की संगमरमर की एक पट्टी लगी थी, बँगला श्री ब्रजमोहन व्यास ने बनवाया था और संभवतः अपनी पत्नी ललिता के नाम पर उसका नाम 'ललिताश्रम' रख दिया था, बाद को उन्होंने यह बँगला पंचायती अखाड़े को बेच दिया। प्रवास में घर की याद आना स्वाभाविक था; साथ ही 'ललिताश्रम' की भी। या केम्ब्रिज की ललित नगरी से मेरी भावना का ललितपुर किसी तरह मेरे अवचेतन से संबद्ध हो गया, जिसके बीच सहजाद नदी उसी प्रकार बहती है जिस प्रकार केम्ब्रिज के बीच कैम नदी। इस छोटी-सी नदी में नहाने, डुबकी लगाने, तैरने, आरपार जाने की कितनी ही स्मृतियाँ

पिताजी ने सँजो रक्खी थीं ! अवचेतन के मनोकोष में क्या, कब, किससे जुड़ जाता है, जुड़कर क्या बन जाता है, बनकर कितना सबको बदल देता है, इसका विश्लेषण करना मुझे तो असंभव ही प्रतीत होता है।"*6 हरिवंश राय बच्चन की आत्मकथा 'क्या भूलूँ क्या याद करूँ' के इस आत्मकथांश में भावुकता और व्यक्तिगतता की अभिव्यक्ति अत्यंत गहराई और आत्मीयता से हुई है। लेखक केम्ब्रिज जैसे विदेशी नगर में रहते हुए अचानक 'ललितपुर' की स्मृति से विचलित होते हैं, जो दर्शाता है कि विदेश में रहते हुए भी उनका मन अतीत के उस आत्मिक स्थल से जुड़ा हुआ है। यह भावुकता मात्र भूगोल की नहीं, बल्कि स्मृति और भावना की गहराइयों से उपजी हुई है।

'ललिताश्रम' की संगमरमर की पट्टी, उसका स्वामी, उसकी पत्नी ललिता, और बाद में उसका पंचायती अखाड़े को बिक जाना—इन सबकी स्मृति लेखक के मन में मानो एक धुँधली-सी पारिवारिक कथा बनकर जीवित है। साथ ही, कैम नदी और सहजाद नदी के बीच अनायास बना भावनात्मक संबंध लेखक के अवचेतन में दबी स्मृतियों को जगा देता है। कैम नदी में तैरने और डुबकी लगाने की बातें, जो उनके पिताजी की स्मृतियों से जुड़ी हैं, उस अनुभूति को और भी अधिक निजी और संवेदनशील बना देती हैं।

यह पूरा अंश एक भावुक मन की स्मृति-यात्रा है, जहाँ बाह्य स्थल के किसी संकेत से भीतर का संसार जाग उठता है। लेखक न तो इन भावों को तर्क से बाँधने की कोशिश करते हैं, न उन्हें सौंदर्यात्मक रूप से सजाते हैं—बल्कि पूरी ईमानदारी से स्वीकार करते हैं कि 'मुझे तो इसका विश्लेषण करना असंभव प्रतीत होता है।' यही स्वीकारोक्ति इस आत्मकथांश को अत्यंत व्यक्तिगत और भावुक बनाती है, जो आत्मकथा को केवल तथ्य नहीं, अनुभूत सत्य का साक्ष्य बना देती है।

वे आगे लिखते हैं "गाड़ी से उतरकर सवसे पहले मैं जेल देखने गया। बुखारिया जी ने भीतर से भी देखने के लिए पहले से मेरे लिए आज्ञा पत्न आदि बनवा लिये थे। यह जेल 1861 में बना था। तारीख का पत्थर जेल के फाटक पर लगा है। मेरे बाबा 1870 के बाद

वहाँ गए थे। फाटक से कुछ भीतर चलकर दफ्तर है। मेरी कल्पना चल रही थी- मेरे पूज्य पितामह इसी द्वार से 14 वर्ष तक आए-गए होंगे! मैंने वहाँ की मिट्टी उठाकर अपने माथे से लगा ली।"*7 यह आत्मकथांश गहरी भावुकता और आत्मीय स्मृति से भरा हुआ है। लेखक जब अपने पूर्वजों की स्मृतियों से जुड़े स्थान—जेल—में प्रवेश करता है, तो वह केवल एक ऐतिहासिक इमारत नहीं रह जाती, बल्कि उसकी आत्मा से जुड़ा एक पवित्र तीर्थ बन जाती है। 'मेरे पूज्य पितामह इसी द्वार से 14 वर्ष तक आए-गए होंगे!' —यह वाक्य एक सामान्य दृश्य को भी अत्यंत मार्मिक बना देता है। लेखक की कल्पना, स्मृति और भावनाएँ एक हो जाती हैं।

सबसे भावपूर्ण क्षण तब आता है जब लेखक "वहाँ की मिट्टी उठाकर अपने माथे से लगा" लेता है। यह क्रिया मात्र एक सांस्कृतिक संकेत नहीं, बल्कि उस स्मृति और गौरव का प्रत्यक्ष रूप है, जो उसे अपने पूर्वजों के संघर्ष, बलिदान और आत्मबल के अनुभव से प्राप्त होता है। यहाँ भावुकता आत्मदया या आंसुओं में नहीं, बल्कि श्रद्धा और आत्म-गौरव में रूपांतरित है। यह अंश आत्मकथा की उस गहराई को प्रकट करता है, जहाँ व्यक्ति का निजी अतीत राष्ट्रीय, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक स्मृति से जुड़ जाता है।

आत्मकथा 'सुनहु तात यह अकथ कहानी' में शिवानी लिखती हैं "वर्षों पूर्व पन्ना के राज ज्योतिषी ने मेरा हाथ देखकर कहा था, 'तुम एक दिन राजमाता बनोगी, यदि नहीं बनीं तो मैं समझूँगा कि सब शास्त्र मिथ्या हैं। तुम्हारे वामहस्त की रेखा दुर्लभ है, किन्तु अन्त तक, तुम्हारे भाग्य को अदृष्ट का कंटक-व्याल डँसता रहेगा। जिस पर भी अपना सर्वस्व लुटाने को तत्पर रहोगी, उसी की प्रवंचना तुम्हें एक न एक दिन अवश कर देगी।' तब उस भविष्यवाणी को हँसकर ही उड़ा दिया था। उस अदृष्ट व्याल की फूत्कार को कभी भुला नहीं पाई। न जाने कब डँस ले?—

—डँसा उसने कई बार, न जाने कितनी बार आहत हुई, किन्तु अभी तक वह निष्प्राण नहीं कर पाई। प्रत्येक बार इसी क़लम का जहर-मोहरा उसके घातक विष को चूसकर व्यर्थ कर गया।

वामहस्त की दुर्लभ रेखा भी व्यर्थ नहीं गई। विधाता ने राजमाता भी बना दिया, किन्तु वर्षों पूर्व पितामह की दी गई सीख को गाँठ में बाँधकर चली हूँ, इसी से शायद प्रभुता का मद मदालस नहीं बना पाया।"*8

शिवानी की आत्मकथा 'सुनहु तात यह अकथ कहानी' का यह अंश गहन भावुकता और गूढ़ व्यक्तिगतता से परिपूर्ण है। वे अपने जीवन की उन स्मृतियों को उकेरती हैं, जो भविष्यवाणी, नियति और आत्म-संघर्ष के त्रिकोण में बिंधी हुई हैं। राजज्योतिषी की कही बात, जिसे पहले उन्होंने हँसी में टाल दिया था, जीवन की अनेक मार्मिक घटनाओं के बाद गहरी सच्चाई बनकर उभरती है। यह स्मरण मात्र पूर्वकाल की कोई बात नहीं, बल्कि उनके भीतर निरंतर फुफकारते उस "कंटक-व्याल" की चेतना है, जिसने जीवन में बार-बार उन्हें छल और पीड़ा से गुज़ारा।

'जिस पर भी अपना सर्वस्व लुटाने को तत्पर रहोगी, उसी की प्रवंचना...' —यह वाक्य उनके निजी अनुभवों का दुखद सार है, जो उनके आत्मिक टूटन और भावनात्मक चोट को उजागर करता है। किन्तु इसी व्यक्तिगत पीड़ा के भीतर एक दृढ़ आस्था भी है—'इस क़लम का जहर-मोहरा'—जो उन्हें हर बार संभालता है। यह क़लम सिर्फ़ लेखन का साधन नहीं, बल्कि उनके जीवन की रक्षा-ढाल बन जाती है।

शिवानी की यह स्वीकारोक्ति कि 'विधाता ने राजमाता भी बना दिया' भावनात्मक संतुलन और आत्मस्वीकृति का प्रमाण है, जबकि "प्रभुता का मद मदालस नहीं बना पाया" कहना उनके आत्मसंयम और आत्मबोध को प्रकट करता है। यह अंश नारी-मन की गहराइयों, स्मृति की पीड़ा, और आत्मबल की गरिमा का अत्यंत प्रभावशाली और मार्मिक उदाहरण है, जहाँ भावुकता उनके व्यक्तित्व की कोमलता और व्यक्तिगतता उसकी आत्मिक गहराई को स्वर देती है।

5.1.v. सजीव और विवरणात्मक वर्णन —

हिंदी आत्मकथाओं में घटनाओं, स्थानों, और व्यक्तियों का सजीव और विवरणात्मक वर्णन होता है। इससे पाठक लेखक के जीवन के महत्वपूर्ण क्षणों का अनुभव कर पाते हैं। श्याम सुंदर दास अपनी आत्मकथा 'मेरी आत्मकहानी' में लिखते हैं कि "मैं कोई बड़ा लेखक नहीं, न कोई विचारक; पर मैंने जो जिया, वह पूरी सच्चाई से लिखा है। यही मेरी पूँजी है।"*9 श्याम सुंदर दास का यह आत्मस्वीकृतिपरक वक्तव्य आत्मकथा की मूल आत्मा—'सत्य'—को रेखांकित करता है। वे न तो अपनी बौद्धिकता का प्रदर्शन करते हैं, न ही लेखकीय दंभ दिखाते हैं, बल्कि अपने जीवन के यथार्थ को ही लेखन की पूँजी मानते हैं। यह कथन आत्मकथात्मक लेखन में आत्म-निष्ठा, जीवनानुभव की प्रामाणिकता और ईमानदार अभिव्यक्ति की महत्ता को रेखांकित करता है। इस प्रकार, उनका दृष्टिकोण आत्मकथा को आत्मप्रदर्शन नहीं, बल्कि आत्मबोधन और आत्मसाक्षात्कार का साधन बनाता है, जो इसे साहित्यिक ईमानदारी की पराकाष्ठा तक पहुँचाता है।

हरिवंश राय बच्चन 'नीड़ का निर्माण फिर-फिर' आत्मकथा में लिखते हैं "और तब क्या देखता हूं कि उस चलती-फिरती ज्वाल-माला से एक हाथ निकलता है, और मेरा हाथ पकड़ लेता है, मुझे अपने पीछे खींचने के लिए और इतने में मेरी आंख खुल जाती है ! श्यामा ने अपने बिस्तर से हाथ बढ़ाकर मेरा हाथ पकड़ लिया था—हमारी खाटें मिली-मिली रहती ही थीं, और उसके दुर्बल-शीतल स्पर्श से मैं जाग गया था। मुझे जगाने का उसका यही तरीका था। सुबह हो गई थी।—

—शोर-गुल, गीत-तार, भीड़-भाड़ और बाजे-गाजे के संसार से सहसा मैं शांति की एक छोटी-सी दुनिया में आ गया था जहां बस एक लाचार बीमार और एक तीमारदार की दो चारपाइयां पड़ी थीं और एक खूंटी से टंकी हरीकेन लालटेन की मंद-मंद जलती लौ प्रभात के बढ़ते प्रकाश में पल-पल निष्प्रभ हो रही थी। सपना कुछ देर मेरी खुली आंखों के सामने भी

नाचकर अपना अर्थ मांगने लगा था। क्या मतलब हो सकता है इसका ? ऐसे रोमांचक, विचित्र और भयंकर सपने में लड़कपन से देखता था; अब भी कभी-कभी देखता हूँ।"*10 pg 14

हरिवंश राय बच्चन की आत्मकथा 'नीड़ का निर्माण फिर-फिर' का यह अंश सजीवता और विवरणात्मक शैली का अत्यंत सशक्त उदाहरण है। लेखक सपने और यथार्थ के बीच की रेखा को जिस संवेदनशीलता और चित्रात्मकता से उकेरते हैं, वह पाठक को दृश्य के भीतर ले जाती है। 'चलती-फिरती ज्वाल-माला', 'एक हाथ निकलता है', 'खाटें मिली-मिली रहती थीं', 'हरिकेन लालटेन की मंद-मंद जलती लौ' जैसे बिंब दृश्य जगत की सूक्ष्मताओं को अत्यंत सजीव रूप में प्रस्तुत करते हैं।

श्यामा का "दुर्बल-शीतल स्पर्श" मात्र स्पर्श नहीं, बल्कि करुणा, आत्मीयता और असहायता का सम्मिलित बिंब है, जो पाठक को भीतर तक छूता है। दो चारपाइयों, एक खूंटी और उस पर टंगी लालटेन की धीमी लौ से बनी वह छोटी-सी सुबह की दुनिया, एक बीमार और एक तीमारदार के माध्यम से जिस करुण संसार की रचना करती है, वह गहन मानवीय संवेदना से भरा हुआ है। लेखक अपने स्वप्न की "रोमांचक, विचित्र और भयंकर" प्रकृति को भी अत्यंत विवरणात्मक रूप से व्यक्त करते हैं, जो उसके भीतर के तनाव और गहन अनुभूति को चित्रित करता है। इस प्रकार यह आत्मकथांश न केवल संवेदना से भरा हुआ है, बल्कि शब्दों की चित्रात्मक शक्ति के माध्यम से सजीवता और विवरणात्मक सौंदर्य का उत्कृष्ट उदाहरण बन जाता है।

5.1.vi. स्थानीय भाषा और बोली का प्रयोग —

हिंदी आत्मकथाओं में लेखक अक्सर अपने क्षेत्रीय भाषा और बोली का प्रयोग करते हैं, जिससे उनकी आत्मकथा अधिक प्रामाणिक और सजीव बनती है। वृंदावनलाल वर्मा

‘अपनी कहानी’ में लिखते हैं “संध्या होते ही माँ ने खाना खिलाया। वे ब्यालू करने चली गई और मैं बिस्तरे में जा पहुँचा। खटिया के निकट ही छोटा-सा ताक था। दीवाल के सहारे मैं खटिया पर खड़ा हो गया। दिया टिमटिमा रहा था। उसके धुँधले प्रकाश में देखा कि ताक में ताँबे के दो मोटे पैसे रखे हुए हैं। ये पैसे बालासाही कहलाते थे। मैंने चट से दोनों पैसे अपने छोटे से चंगुल में दबाए और लेट गया। नींद आ गई।”*11 वृंदावनलाल वर्मा के इस आत्मकथांश में बुंदेलखंडी क्षेत्र की आंचलिकता और लोकबोली की सजीव उपस्थिति दिखाई देती है। "ब्यालू करना", "खटिया", "ताक", "दीवाल", "चंगुल", "चट से", "बालासाही" जैसे शब्द स्थानीय बोली और परिवेश की महक लिए हुए हैं। ये न केवल ग्रामीण जनजीवन के यथार्थ को उद्घाटित करते हैं, बल्कि लेखक के बाल अनुभवों को भी सांस्कृतिक संदर्भों में बाँधते हैं। "ब्यालू" जैसे शब्द शुद्ध हिंदी के “शाम की पूजा” या “संध्याकालीन क्रिया” के स्थान पर लोक-प्रयोग की प्रमाणिकता दर्शाते हैं। इस प्रकार यह अंश भाषाई सजीवता और आंचलिक सन्दर्भों से समृद्ध है।

रामविलास शर्मा ‘घर की बात’ में लिखते हैं “गाँव काफी नीचाई में वसा हुआ है। उत्तर की ओर तो दो-तीन ताल ही हैं किन्तु वाकी तीन तरफ तालों की पूरी श्रृंखला है, थोड़ी-थोड़ी दूरी पर ताल हैं। वरसात में खेतों और ऊसरों के पानी से ये ताल भर जाते थे। गाँव नीचाई में था, गलियारे से वाहर का पानी गाँव की तरफ वहने लगता। गाँव से लगा हुआ एक ताल था जिसे गड़ई कहते थे। गड़ई भर जाती तव उसका पानी गाँव के भीतर पहुँचता। गाँव का उत्तरी भाग कुछ ऊँचाई पर था, वह वहुत कुछ बचा रहता। दक्षिणी भाग का पानी खेतों और बागों से बहता हुआ पूर्व की ओर के नाले से जा मिलता। ज्यादा वर्षा होने पर कहाँ एक तालाव खत्म हुआ कहाँ दूसरा शुरू हुआ, पता न चलता था। जलमग्न खेतों, वागों और ऊसरों के बीच नाला पानी की तेज़ रफ्तार से ही पहचाना जाता था।”*12 रामविलास शर्मा के आत्मकथात्मक अंश ‘घर की बात’ में गाँव की भौगोलिक संरचना, जलप्रबाह और परिवेश का जो चित्र उकेरा गया है, वह न केवल स्मृतियों का हिस्सा है, बल्कि गहरी

आंचलिक चेतना और बोली-बानी का प्रमाण भी है। इस अंश में आंचलिकता और बोली के प्रयोग का विश्लेषण निम्नलिखित है:

बोली का प्रयोग: शब्द जैसे "वसा" (बसा), "गलियारे से वाहर का पानी", "वरसात" (वर्षा), "गड़ई", "तव" (तब), "बहता", "नाला" आदि ग्रामीण बोलचाल की भाषा के उदाहरण हैं। ये शब्द मानक हिंदी से भिन्न होते हुए भी कथ्य को अधिक प्रामाणिक और स्थानीय अनुभवों से जोड़ते हैं।

आंचलिकता का चित्रण: लेखक ने तालों की श्रृंखला, खेतों, बागों, ऊसरों, नालों, जलभराव और गाँव की नीचाई-ऊँचाई के भौगोलिक ब्योरे के माध्यम से पूर्वी उत्तर प्रदेश के ग्रामीण जीवन की विशिष्ट भू-सांस्कृतिक संरचना को उकेरा है। "गड़ई" ताल का नाम किसी स्थानीय लोक-स्मृति या मान्यता से जुड़ा प्रतीत होता है। वर्षा के मौसम में पानी का बहाव, खेतों का जलमग्न होना, और नाले की पहचान जल की तेज़ रफ्तार से होना – ये सभी अनुभव उस जीवन-लोक का हिस्सा हैं जिसे केवल ग्रामीण समाज ही पूरी तरह समझ सकता है। वस्तुतः रामविलास शर्मा का यह आत्मकथांश न केवल एक व्यक्ति की स्मृति है, बल्कि उसमें समूचे अंचल की भाषा, भूगोल और संस्कृति गुँथी हुई है, जो आत्मकथा को सामाजिक-सांस्कृतिक दस्तावेज़ बना देती है।

5.1.vii. समय और समाज का चित्रण —

हिंदी आत्मकथाओं में लेखक अपने समय और समाज का स्पष्ट चित्रण करते हैं। इससे पाठकों को उस समय की सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों का ज्ञान होता है। पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' अपनी आत्मकथा 'अपनी खबर' के 'नागा भागवतदास' शीर्षक में लिखते हैं "यह सन् १६१० ई० है। और यह नगर? इसका नाम है मिण्टगुमरी! मिण्टगुमरी? यह नगर कहाँ है रे बाबा! यह नगर इस समय पश्चिमी पाकिस्तान में है, लेकिन

जब की बात लिखी जा रही है तब ब्रिटिश भारत में पंजाब में था। और यह सब क्या है ? यह सब रामलीला की तैयारी है। कई दिन से श्री अयोध्याजी से कोई रामलीला-मण्डली आयी हुई है। इस मण्डली ने पहले सरगोधा मण्डी में लीलाएँ दिखलायी थीं, जिससे वहाँ को हिन्दी-पंजाबी-सिख जनता बहुत हो धन्य हुई थी। सरगोधा मंडी से इस रामलीला मंडली की प्रशंसाएँ भक्त दर्शकों से सुनने के बाद मिण्टगुमरी के भक्त दर्शनार्थियों ने वहाँ जाकर सारी मंडली के किराया-भोजन-भर रकम पेशगी देकर दस दिन में रामलीला दिखलाने के लिए उत्साह, श्रद्धा और आग्रह से अपने यहाँ आमन्त्रित किया था।"*13 पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' की आत्मकथा 'अपनी खबर' के इस अंश में समय और समाज दोनों का सजीव व ऐतिहासिक चित्रण निहित है।

5.1.vii.a. समय का चित्रण— उग्र जिस कालखंड की ओर संकेत करते हैं—सन् 1610 ई. —वह ऐतिहासिक संदर्भ नहीं, बल्कि प्रतीकात्मक रूप में उस दौर की लोकस्मृति और सांस्कृतिक परंपरा को दर्शाने का साहित्यिक उपाय है। यथार्थ में यह समय ब्रिटिश भारत का है, जब मिण्टगुमरी (अब पाकिस्तान में) पंजाब प्रांत का हिस्सा था। इस विवरण से औपनिवेशिक काल की सांस्कृतिक हलचलों और सीमाओं की ओर संकेत मिलता है।

5.1.vii.b. समाज का चित्रण— यह अंश बताता है कि ब्रिटिश भारत के समय हिन्दीभाषी, पंजाबी, सिख और अन्य समुदायों के बीच धार्मिक-सांस्कृतिक गतिविधियाँ, विशेषकर रामलीला जैसे आयोजन, किस प्रकार लोकजीवन का अंग बने हुए थे। अयोध्या से आई रामलीला-मंडली को सरगोधा मंडी में सम्मानित कर मिण्टगुमरी के लोगों द्वारा आमंत्रित किया जाना जन-आस्था, आपसी सहयोग, सामूहिकता और धार्मिक संस्कृति की गहराई को दर्शाता है। समाज की उत्सवधर्मिता, श्रद्धा, आर्थिक सहयोग (किराया-भोजन का प्रबन्ध) और सामूहिक भागीदारी जैसे तत्त्व स्पष्ट होते हैं। तात्पर्य यह है कि आत्मकथांश उस समय के भारतीय समाज की सांस्कृतिक एकता, धार्मिक चेतना और पारस्परिक सौहार्द्र का चित्र प्रस्तुत करता है, जहाँ विविध समुदायों के लोग लोक-नाट्य परंपराओं को मिलकर

जीवंत बनाए रखते थे। उग्र का भाषा-शैलीगत प्रयोग (“रे बाबा!”, “धन्य हुई थी”) इसे और भी आत्मीय और संवादधर्मी बनाता है।

5.1.viii. व्यक्तिगत अनुभव और संघर्ष —

हिंदी आत्मकथाओं में लेखक अपने व्यक्तिगत अनुभवों और संघर्षों को विस्तृत रूप से वर्णित करते हैं। वे अपने जीवन की चुनौतियों, संघर्षों, सफलताओं और असफलताओं को खुलकर प्रस्तुत करते हैं।

आत्मकथा ‘सिंहावलोकन’ में यशपाल स्वतंत्रता आंदोलन के समय के संघर्षों के बारे में लिखते हैं, “दल विकट आर्थिक कठिनाई में था। आज़ाद बार-बार वीरभद्र से ही 'मनी ऐक्शन' (धन कार्य) का प्रबंध करने के लिये कह रहे थे। हम लोग डकैती शब्द पसन्द नहीं करते थे। मजबूरी हो जाने पर धन के लिये जबरदस्ती करनी तो पड़ती थी, इसे मनी ऐक्शन या धन कार्य ही कहते थे। इस काम का बोझ वीरभद्र पर डालने का एक कारण यह भी था कि आज़ाद आज़माना चाहते थे कि वीरभद्र जान बचाने की ही फिक्र में तो नहीं। मेरे मामले में तो उन्हें वीरभद्र पर संदेह था ही। वीरभद्र जिम्मेवारी डाली जाने पर हामी तो भर लेता परन्तु ठीक समय आने पर कोई अलंध्य बाधा बताकर टाल जाता या पुलिस उसे कांग्रेस के मामले में गिरफ्तार कर हवालात पहुँचा देती और वह कुछ दिन बाद छूट आता।—

—यह निश्चय हो जाने पर कि वीरभद्र सचमुच दल को धोखा दे रहा है, आजाद उसे दण्ड देना चाहते थे। ऐसा ही सन्देह दल के एक और पुराने साथी सतगुरुदयाल अवस्थी के प्रति भी उन्हें हो रहा था। शायद पिछले उदाहरण के कारण इस बार आज़ाद इन लोगों को अपनी सफ़ाई का अवसर जरूर देना चाहते थे। इस समय लाहौर षड़यंत्र का फैसला सुना दिया गया था। भगतसिंह, सुखदेव और राजगुरु को फाँसी का दण्ड सुनाया गया था पर दो एक आदमी बरी भी हो गये थे।”*14 pg 31-32

यशपाल की आत्मकथा 'सिंहावलोकन' का यह अंश स्वतंत्रता आंदोलन की पृष्ठभूमि में उनके गहन व्यक्तिगत अनुभवों और संघर्षों को अत्यंत यथार्थपरक ढंग से प्रस्तुत करता है। इस आत्मकथांश में वे केवल ऐतिहासिक घटनाओं का ब्यौरा नहीं दे रहे, बल्कि उस समय के क्रांतिकारियों के भीतर चल रहे मानसिक द्वंद्व, आपसी अविश्वास और अस्तित्व की लड़ाई को सामने ला रहे हैं।

'डकैती शब्द पसंद नहीं करते थे... इसे मनी ऐक्शन या धन कार्य कहते थे' यह वाक्य केवल शब्दों की फेरबदल नहीं, बल्कि क्रांतिकारियों की वैचारिक और नैतिक उलझन को दर्शाता है। यह दिखाता है कि वे अपने कार्यों को अपराध नहीं, बल्कि आदर्शों की मजबूरी मानते थे। व्यक्तिगत अनुभव की गहराई तब और स्पष्ट होती है जब यशपाल वीरभद्र के संदर्भ में आज़ाद की शंका और निर्णय की प्रक्रिया को बहुत भीतर से देखते हैं।

दल में विश्वासघात की आशंका, किसी पुराने साथी के प्रति अविश्वास, और क्रांतिकारी अनुशासन बनाए रखने के लिए दंड तक की सोच—इन सबके बीच यशपाल की भूमिका केवल एक सहभागी की नहीं, बल्कि सजग आत्मचिंतक की भी है। यह संघर्ष बाहरी सत्ता से अधिक भीतर की टूटन, आस्था, और सिद्धांतों की परीक्षा का संघर्ष है।

भगतसिंह, सुखदेव और राजगुरु को फाँसी सुनाए जाने की पृष्ठभूमि में यह अंश और भी अधिक मार्मिक हो उठता है, क्योंकि उस समय क्रांतिकारी दल न केवल ब्रिटिश दमन से जूझ रहा था, बल्कि भीतर से भी अविश्वास और विघटन के संकटों से गुजर रहा था। इस प्रकार यह आत्मकथांश यशपाल के व्यक्तिगत संघर्षों और अनुभवों को एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में मानवीय जटिलताओं के साथ सामने लाता है।

5.1.ix. प्रेरणादायक और आत्मनिरीक्षण —

हिंदी आत्मकथाओं की भाषा में प्रेरणादायक और आत्मनिरीक्षण का तत्व होता है। लेखक अपने अनुभवों से सीखे गए सबक और जीवन की सच्चाइयों को साझा करते हैं। डॉ राजेंद्र

प्रसाद जी अपनी 'आत्मकथा' दहेज विरोध के विषय में लिखते हुए कह रहे हैं कि "कायस्थ कान्फ्रेन्स (अखिल भारतीय) का जन्म प्रायः काँग्रेस के साथ ही हुआ था। मेरा खयाल है कि शायद पहले अधिवेशन में ही इस बात पर जोर दिया गया कि लड़की के पिता से कई नामों से तिलक-दहेज की रकमें लेने की प्रथा बहुत बुरी है, उसको रोकना चाहिए। प्रायः प्रत्येक अधिवेशन में इस आशय के प्रस्ताव पास किये गये हैं! पर जो कान्फ्रेन्स के कर्ता-धर्ता होते उनमें बहुतेरे स्वयं ही इस प्रस्ताव की अवहेलना करते ! अनेक तो ऐसे भी हुए हैं जिन्होंने कान्फ्रेन्स द्वारा प्राप्त प्रतिष्ठा को अधिक तिलक-दहेज लेने का कारण बना लिया ! चूंकि कान्फ्रेन्स के सभापति अथवा अन्य उच्चपदाधिकारी होने के कारण कायस्थों में उनकी बहुत प्रतिष्ठा हो गयी, इसलिए उन्होंने अधिक पैसे उगाहे! इसलिए, कायस्थ कान्फ्रेन्स, सब जातीय कान्फेन्सों में पुरानी होने पर भी, अपने उद्देश्यों की सिद्धि में बहुत सफल नहीं हुई है।" *15

लेखक ने 'कायस्थ कान्फ्रेन्स' के उद्देश्यों और व्यवहार में आए अंतरविरोध को उजागर करते हुए न केवल उस संस्था की विफलताओं की ओर इशारा किया है, बल्कि स्वयं अपने समुदाय और नेतृत्व की नैतिकता पर भी कठोर दृष्टि डाली है। यह आत्मनिरीक्षण किसी बाहरी आलोचना से नहीं, बल्कि भीतर से उत्पन्न एक सजग विवेक का परिणाम है।

प्रेरणादायक पक्ष यह है कि लेखक बिना लाग-लपेट के स्वीकार करते हैं कि सम्मेलन के मंच से दहेज प्रथा के खिलाफ प्रस्ताव पारित होते रहे, पर नेतृत्व वर्ग स्वयं इन प्रस्तावों की अवहेलना करता रहा। यह स्वीकारोक्ति उस साहसिक नैतिक दृष्टि को दर्शाती है जो किसी भी सामाजिक सुधार के लिए आवश्यक है। लेखक यह भी इंगित करते हैं कि सामाजिक प्रतिष्ठा किस प्रकार निजी स्वार्थ और लोभ में बदल सकती है, जिससे संस्था अपने मूल उद्देश्य से भटक जाती है।

स्वामी दयानंद सरस्वती की आत्मकथा 'आत्मकथ्य' एक अद्भुत और प्रेरणादायक ग्रंथ है, जिसमें उन्होंने अपने धार्मिक जागरण, वैदिक जीवन-दर्शन, ब्रह्मचर्य, संन्यास, और

सामाजिक क्रांति की यात्रा का चित्रण किया है। “मैंने निश्चय किया कि जब तक मुझे सत्य का साक्षात्कार नहीं होगा, मैं न तो घर लौटूँगा और न ही सांसारिक जीवन में लौटूँगा। मैंने घर छोड़ दिया और सत्य की खोज में निकल पड़ा।”* 16

स्वामी दयानंद सरस्वती के आत्मकथ्य का यह अंश उनके जीवन के मूल संकल्प और आत्मिक जागरण का प्रबल प्रतीक है। "जब तक मुझे सत्य का साक्षात्कार नहीं होगा..." जैसी दृढ़ घोषणा उनके भीतर की अद्वितीय जिजीविषा, वैचारिक स्पष्टता और जीवन के प्रति गंभीर उत्तरदायित्व को दर्शाती है। यह केवल एक धार्मिक या दार्शनिक विचार नहीं, बल्कि उनके जीवन का वह निर्णायक मोड़ है जहाँ एक युवा व्यक्ति सांसारिक बंधनों, पारिवारिक मोह और सामाजिक रूढ़ियों को त्यागकर आत्मबोध और सार्वभौमिक सत्य की खोज में निकल पड़ता है। इस प्रकार, स्वामी दयानंद सरस्वती का आत्मकथ्य केवल आत्मवृत्त नहीं, अपितु एक तपस्वी क्रांतिकारी के जीवन दर्शन का जीवंत घोष है, जो भारतीय समाज के बौद्धिक और नैतिक पुनर्जागरण का आधार बनता है।

5.1.x. प्राकृतिक और सांस्कृतिक तत्वों का समावेश —

हिंदी आत्मकथाओं में प्राकृतिक और सांस्कृतिक तत्वों का समावेश होता है, जिससे पाठक लेखक के जीवन और परिवेश को बेहतर समझ पाते हैं। हरिवंश राय बच्चन अपनी आत्मकथा "क्या भूलूँ क्या याद करूँ” में लिखते हैं “इलाहाबाद का गंगा-यमुना संगम मेरे लिए केवल एक धार्मिक स्थल नहीं था, वह मेरी चेतना का विस्तार था। वसंत के पीले फूलों से सजी सड़कें, संगम पर उगता सूर्य और विश्वविद्यालय की इमारतें — सबने मेरी संवेदनाओं को संस्कारित किया। काशी की गलियों में संस्कृति की धड़कन सुनता था, और होली-दिवाली के रंगों में जीवन का उत्सव। प्रकृति के हर रंग में मुझे कविता का स्पर्श मिला और

संस्कृति के हर स्वरूप में आत्मा की गरिमा। मेरा साहित्य इन्हीं अनुभवों की सौगंध है — जिसमें भारत की मिट्टी, भाषा और परंपरा की सुगंध रची-बसी है।"*17

वस्तुतः आत्मकथा बीत चुके जीवन-बोध की अभिव्यंजना है। इस अभिव्यंजना की आकांक्षा लेखक के जीवन में सार्थकता के बोध से आती है। एक सार्थक उद्देश्यपूर्ण, समग्र (आयु के नहीं दायित्वों के अर्थ में) जीवन जी चुकने के बाद जीवन के घात-प्रतिघातों के बीच से विशिष्ट बनकर निकले व्यक्तित्व में अपने प्रति जो आत्मगर्व उपजता है वही लेखक को आत्मकथा लेखन की प्रेरणा देता है।

5.1.xi. सांस्कृतिक तत्वों का समावेश —

आत्मकथा में सांस्कृतिक तत्वों का समावेश व्यक्ति के जीवनानुभवों को व्यापक सामाजिक परिप्रेक्ष्य से जोड़ता है। इसमें खानपान, वेशभूषा, रीति-रिवाज, लोकविश्वास, भाषिक विविधता और पारिवारिक संरचना जैसे तत्व लेखकीय चेतना में रचे-बसे होते हैं। आत्मकथाकार अपने परिवेश की सांस्कृतिक छवियों को इस प्रकार उकेरता है कि पाठक उस युग, समाज और जीवनशैली से परिचित हो सके। विशेषकर स्त्री या दलित आत्मकथाओं में सांस्कृतिक तत्व उनकी अस्मिता और संघर्ष का आधार बनते हैं। अतः आत्मकथा केवल व्यक्ति की कथा नहीं, बल्कि सांस्कृतिक इतिहास का दस्तावेज़ भी बन जाती है।

राहुल सांकृत्यायन अपनी आत्मकथा मेरी जीवन-यात्रा में स्पष्ट करते हैं कि "बुद्ध के वक़्त में कौशाम्बी भारत की बहुत बड़ी नगरी थी, यह वत्स देश के राजा उदयन की राजधानी थी। उदयन के रंगीले जीवन और उसका प्रद्योत-सुता वासवदत्ता के साथ प्रेम गहस्राब्दियोतक कवियों को शृंगार रस की प्रेरणा देता रहा। कौशाम्बी सिर्फ़ राजधानी ही नही थी, बल्कि व्यापारका एक बड़ा केन्द्र थी। उस समय नदियाँ स्वाभाविक और बहुत सस्ते वणिक-पयका काम देती थी। कौशाम्बी में जहाँ मथुरा होते हुए पश्चिम का माल आता था,

यहाँ पूर्व में समुद्र तक रास्ता खुला हुआ था। वर्षा में सम्भव है, सामुद्रिक जहाज भी यहाँ तक आते हों। यहां से एक रास्ता दक्षिणा- पथ (दक्षिण देश) को गया था, जो वही रास्ता है, जिससे आज मानिकपुर, जबलपुर- वाली लाइन जा रही है। लेकिन मगध की प्रधानता के बाद, जान पड़ता है, कौशाम्बी- को राजधानी बनने का सौभाग्य फिर नही प्राप्त हुआ।"18 यह आत्मकथात्मक अंश लेखक की ऐतिहासिक-सांस्कृतिक चेतना को प्रकट करता है, जिसमें कौशाम्बी के गौरवशाली अतीत को स्मृति के माध्यम से पुनर्स्थापित किया गया है। लेखक केवल आत्मानुभव तक सीमित नहीं रहता, बल्कि अपने परिवेश की ऐतिहासिक परतों को उद्घाटित करता है। नगर की व्यापारिक समृद्धि, उदयन-वासवदत्ता की प्रेमगाथा, और नदियों के माध्यम से होने वाले वाणिज्य का वर्णन लेखक की सांस्कृतिक स्मृति और इतिहासबोध को उजागर करता है। आत्मकथा यहाँ एक व्यक्तिगत आख्यान से बढ़कर सांस्कृतिक दस्तावेज़ का रूप ले लेती है।

वियोगी हरि अपनी आत्मकथा 'मेरा जीवन प्रवाह' के 'नरक कहूँ या स्वर्ग?' शीर्षक में में सांस्कृतिक तत्वों को सँजोते हुए लिखते हैं कि, "हमारे घर के पिछवाड़े काछियों का मोहल्ला था। ये लोग या तो साग आजी उपजाते और बेचते थे, या डेढ़-दो थाने रोज़ की मेहनत-मजूरी कर लेते थे। औरतों को एक थाना रोज मिलता था। सब मोटा-फोटा खाते, और चीथड़े पहनते थे। बरतनों के नाम काली हंडिया, काठ की कलछी और मिट्टी का तवा। फिर भी अपने रंग में मस्त रहते थे। रात के पिछले पहर गीत के साथ इनकी झोपड़ियों में जाँतों का सुर बड़ा सुहावना लगता था। अथाइयों पर आधी-आधी राततक हमारे ये गरीब पड़ोसी सरंगी और डफली के स्वर-ताल में बड़े प्रेम से गाते थे। औरतें उधर तबतक रोटी तैयार कर लेती थीं। ब्याह- शादियों में इनकी स्त्रियाँ खूब घूम-घूमकर नाचती थीं। और फाग के दिनों में इनके रंगोले जुलूस निकलते थे। कोई बीमार पड़ जाता या मोहल्ले पर कोई और आफत आ जाती, तो इनकी 'जात्रा' लगती थी। गाते-गाते किसी भगत्त के सिर भैरों बाबा आ जाते थे, तो किसी- के सिर काली माई। किसी को वह शाप दे डालते थे और किसी को

वरदान! आतंक से सन्नाटा छा जाता था।”*19 इस कथन के माध्यम से वियोगी हरि अपने बचपन के परिवेश को चित्रित करते हुए लोकसंस्कृति की जीवंत झलक प्रस्तुत करते हैं। काछी समुदाय की जीवनशैली—उनका भोजन, वस्त्र, औजार, संगीत, नृत्य, धार्मिक आस्थाएँ और सामाजिक अनुष्ठान—सांस्कृतिक विमर्श का आधार बनती हैं। यह वर्णन केवल वर्णनात्मक नहीं, बल्कि आत्मीय अनुभूति से भरा हुआ है, जिससे आत्मकथा एक सांस्कृतिक प्रतिमान में बदल जाती है। “जात्रा”, “भैरों बाबा”, “काली माई” जैसी लोकआस्था की अभिव्यक्तियाँ जन-संस्कृति के जीवंत दस्तावेज़ बन जाती हैं। लेखक का यह दृष्टिकोण आत्मकथा को सामाजिक-सांस्कृतिक इतिहास की भूमि पर प्रतिष्ठित करता है।

पांडेय बेचन शर्मा उग्र ‘अपनी खबर’ आत्मकथा में कहते हैं कि “ये लीलाधारी जब स्टेशन पर उतरे तभी मिण्टगुमरी के दर्शनाथियों की भीड़-सी लग गई थी। कितना सामान ! दस बड़े-बड़े काठ के बक्से, बीसियों लोहे के ट्रक । सबमें रामलीला की आवश्यक वस्तुएँ । लीला-भूमि बनाने का बाँस-बल्ली-पटरे वगैरह सामान, समूह-भोजन जिनमें सिद्ध हो सके ऐसे पीतल और ताँबे के बड़े-बड़े बरनन- भाँडे, टेण्ट-छोलदारियाँ।” पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' की आत्मकथा ‘अपनी खबर’ के इस अंश में सांस्कृतिकता अत्यंत सजीव रुप में प्रकट होती है। रामलीला मंडली के आगमन का दृश्य केवल एक धार्मिक आयोजन का वर्णन नहीं, बल्कि उस समय की जनसांस्कृतिक चेतना और लोकजीवन की सामूहिक आस्था का दिग्दर्शन कराता है। स्टेशन पर लीला-कलाकारों के उतरते ही श्रद्धालुओं की भीड़ उमड़ पड़ना दर्शाता है कि रामलीला जनता के जीवन में कितनी गहराई से रची-बसी थी।

लेखक जिन वस्तुओं का विवरण देते हैं—काठ के बक्से, लोहे के ट्रंक, बाँस-बल्ली, पटरे, टेंट-छोलदारियाँ, पीतल-ताँबे के बड़े-बड़े बर्तन—वे उस सांस्कृतिक आयोजन की भव्यता, पारंपरिक तकनीकी तैयारी और समग्र सामाजिक भागीदारी को उजागर करते हैं। ये

सब न केवल मंचन की वस्तुएँ हैं, बल्कि लोकसंस्कृति के प्रतीक हैं, जिनमें गाँव-कस्बों के सामाजिक जीवन की रचनात्मकता, भक्ति, श्रम और सौंदर्यबोध समाहित है।

यह चित्रण दिखाता है कि रामलीला केवल अभिनय नहीं, जनमानस की सांस्कृतिक चेतना और धार्मिक सौहार्द का जीवंत उत्सव थी, जहाँ समाज का हर वर्ग भावनात्मक और भौतिक रूप से जुड़ा रहता था। 'उग्र' की भाषा में जो ठेठपन और आत्मीयता है, वह इस संस्कृति को और भी निकट और प्रामाणिक बनाती है।

5.1.xii. आत्मकथा का शिल्प —

अनुभूति को अभीष्ट रूप देने के लिए शिल्प आवश्यक है। प्रत्येक वस्तु शिल्प में ही आकार ग्रहण करती है। मानव निर्मित वस्तुएं सदैव शिल्प प्रधान होती हैं। शिल्प से साहित्य विविध रूपों में बंट जाता है। प्रत्येक रचना के स्वरूप का निर्धारण शिल्प के माध्यम से ही होता है। हिन्दी उर्दू उपन्यास शिल्प : बदलते परिप्रेक्ष्य में डॉ. प्रेम भटनागर कहते हैं कि "साहित्य एक ललित कला है। अतः साहित्यिक रचना का स्थान अन्य सभी प्रकार की रचनाओं से भिन्न होता है। किसी भी भावना, विचार या सिद्धांत को भाषाबद्ध कर देने के उपरांत ही उसे साहित्य की श्रेणी में नहीं माना जा सकता, साहित्य वह तभी बनता है जब उसमें स्थायित्व एवं रागात्मक तत्व भी आते हैं। शिल्प ही विचारों और भावनाओं को साहित्य की विविध विधाओं में बाँटता है।" शिल्प विधान में शिल्पी का कौशल, शिल्प तत्वों की संरचना के माध्यम से अनुभूत विषय वस्तु को कला रूप प्रदान करता है। शिल्प अंग्रेजी के 'टैकनीक' शब्द का अनुवाद है। आक्सफोर्ड डिक्शनरी में शिल्प को संगीत अथवा चित्रकला की कलात्मक रीति तथा कलात्मक कारीगरी कहा गया है। वृहद् हिन्दी कोश में शिल्प से अभिप्राय हाथ से कोई वस्तु तैयार करने अथवा दस्तकारी या कारीगरी से है। हिन्दी में शिल्प को 'रचना विधि' तथा 'रूप' भी कहा जाता है, अगर कथ्य वस्तु का भावपक्ष है तो शिल्प वस्तु

का कलापक्ष है। किसी भी रचना के भीतरी बाहरी सन्तुलन के लिए शिल्पविधि की आवश्यकता होती है।

रचनाकार का लक्ष्य अपनी अनुभूति को रूपायित करना रहता है। अनुभूति के सहज एवं कुशल सम्प्रेषण के लिए ही वह शिल्प का आश्रय लेता है। अगर कथावस्तु का स्थान रचना में वह है जो शरीर में अस्थियों का, तो शिल्प उस ढाँचे को बाह्याकृति प्रदान करता है। स्पष्ट है कि दोनों ही महत्वपूर्ण हैं। यद्यपि उपयोगितावादी दृष्टिकोण से देखने पर वस्तु का महत्व शिल्प से अधिक कहा जा सकता है। वस्तु तत्व के अन्तर्गत कथासूत्र, मुख्य कथानक, प्रासंगिक कथा, अंतर्कथाएँ तथा विभिन्न घटनाएँ आते हैं। पर शिल्प, वस्तुतत्व से कहीं अधिक शक्तिमान एवं समृद्ध विधा है क्योंकि इसके अंतर्गत वस्तुगत योजना, चरित्रांकन विधि, संवाद परिकल्पना, वातावरण, नियोजन, विचार संचालन तथा भाषा और शैली तत्व नियोजित होते हैं। रुचि का भी शिल्प में एक महत्वपूर्ण स्थान है।

स्पष्ट है कि आधारभूत ढांचा होते हुए भी अकेला वस्तु तत्व अपने आप में रचना-निर्माण में सक्षम नहीं है उसे साहित्यिक रूप धारण करने के लिए कलात्मक शिल्प की आवश्यकता होती ही है, अतः किसी भी रचना के भीतरी बाहरी सन्तुलन के लिए आत्मकथा के सन्दर्भ में शिल्प का महत्त्व और भी बढ़ जाता है। आज जबकि जीवनी, संस्मरण, डायरी, पत्र संकलन जैसी ढेरों समानधर्मा विधाएँ आत्मकथा विधा के समकक्ष साहित्य में उपलब्ध हैं तब आत्मकथा में शिल्पगत विशिष्टता अति आवश्यक है। चूंकि इन सभी साहित्य रूपों में भी आत्मकथा से वस्तुगत साम्य हमें प्राप्त होता है।

अतः आत्मकथाकार के लिए आत्मकथा लिखते समय इस तथ्य को ध्यान में रखना होता है कि उसे जीवन को समग्रता के साथ अपने में समेट लेने वाली रचना का निर्माण करना है। अतः जीवन की गहनतम् अनुभूति को उसी सम्पूर्णता के साथ अभिव्यक्त कर सकें, ऐसे शिल्प का चयन करने की अपेक्षा उससे की जाती है। जीवन सत्य को कला सत्य में ढालने के लिए, पाठक की रुचि के अनुकूल बनाने के लिए उसे कथ्य के अनुरूप शिल्प की

आवश्यकता पड़ती है अन्यथा उसकी आत्मकथा, डायरी, रिपोर्ताज या संस्मरणों का संकलन बनकर रह जाएगी।

प्रत्येक युग में कलात्मक अभिव्यक्ति नवीन उपादान और साधन ग्रहण करती है। वर्तमान समय में भी नवीन जीवनबोध, आधुनिक भावजगत के बीच रचनाकार को अपनी अभिव्यक्ति के लिए नवीन उपादान भी जुटाने पड़े हैं। नवीन जीवनदृष्टि जीवन की सार्थकता एवं मानव की समस्त सम्प्रेषणीयता को साहित्यिक अभिव्यक्ति देने के लिए अनुकूल अभिव्यंजना के विविध प्रसाधनों का चयन करती है। इन साधनों के माध्यम से ही अनुभूति अपने अभीष्ट स्वरूप को प्राप्त करती है।

5.1.xiii. भाषा —

'शिल्प' और 'वस्तु' के बीच सामंजस्य स्थापित करने हेतु भाषा एक सेतु के रूप में कार्य करती है। किसी रचना में लेखक की अंतर्दृष्टि, विचार और भावनाएँ तभी प्रभावी रूप से पाठक तक पहुँच पाती हैं, जब भाषा सजीव, सशक्त और सम्प्रेषणीय हो। भाषा ही वह साधन है, जो लेखक की सर्जनात्मक चेतना को पाठकीय संवेदना से जोड़ती है। शिल्प की कलात्मकता और वस्तु की गहराई, दोनों की अभिव्यक्ति यदि भाषिक स्तर पर सशक्त न हो, तो साहित्यिक संवाद अधूरा रह जाता है। प्रभावी भाषा केवल सूचना का संप्रेषण नहीं करती, वह भावात्मक, वैचारिक और सौन्दर्यात्मक अनुबंध भी निर्मित करती है। अतः साहित्यिक रचना की सफलता के लिये एक सक्षम, सजीव और संवेदनशील भाषा अनिवार्य है, जो न केवल लेखक की अभिव्यक्ति का माध्यम बने, बल्कि पाठक के मन में उस रचना की अनुभूति भी जाग्रत कर सके।

आत्मकथा में भाषा का विशेष महत्त्व रहता है, क्योंकि यह व्यक्ति के जीवन की कथा है तथा भाषा व्यक्तित्व का आईना होती है। भाषा से लेखक का भाषा कौशल, भाषा संस्कार, भाषा पर अधिकार, भाषा क्षेत्र सभी कुछ पता चलता है। व्यक्ति का घर-परिवेश,

शिक्षा, उसकी व्यक्तिगत रुचियाँ सभी भाषा को प्रभावित करती हैं। भाषागत वैशिष्ट्य से व्यक्तिगत वैशिष्ट्य का पता बड़ी आसानी से लगाया जा सकता है। जहाँ साहित्य की अन्य विधाओं में कृत्रिम भाषा का प्रयोग किया जा सकता है तथा पात्रानुकूल शब्दचयन कर वास्तविकता से बचा जा सकता है वहीं आत्मकथा रचनाकार को ऐसी कोई छूट नहीं देती। जीवन की घटनाओं तथा परिस्थितियों का यथातथ्य चित्रण होने के कारण आत्मकथा की भाषा अकृत्रिम तथा जीवंत होती है। शब्द, मुहावरे, लोकोक्तियाँ यहाँ तक कि गालियाँ भी, जो भी भाषा के अवयव व्यक्ति प्रयोग करता है वे उसके व्यक्तित्व के ही अवयव होते हैं। कहानी, कविता, उपन्यास आदि में भाषा पात्र की स्थिति के अनुसार परिवर्तित हो सकती है किंतु आत्मकथा में नहीं।

इस प्रकार पद्य में ही नहीं गद्य में भी रचना-विधान प्रस्तुतिकरण की योजना, बिंबों, प्रतीकों का सार्थक प्रयोग तथा कथन की वक्रता भाषा को अधिक सामर्थ्य प्रदान करते हैं। लेखक की अनुभूति को पाठक तक रसपूर्ण रूप में संप्रेषित करते हैं एवं कथन को रोचकता प्रदान करते हैं। भाषा की साहित्यिक प्रौढ़ता-प्रांजलता में अभिव्यंजना के विभिन्न प्रसाधन अहम भूमिका निभाते हैं।

साहित्यकारों के लिये भाषा अनुवर्तिनी, वशवर्तिनी रहती है किंतु सत्याश्रित विधा आत्मकथा में भाषा का छल सत्य का हनन कर सकता है। अतः अपने बारे में लिखते हुए साहित्यकारों की भाषा साहित्य सजग नहीं वरन् आत्मपरक अधिक हो जाती है। परिनिष्ठता, प्रांजलता का गुण तो उनकी भाषा में रहता है किंतु स्वाभाविकता के साथ। यही कारण है कि साहित्यकारों की आत्मकथाओं में भी देशज प्रभाव अवश्य ही मिलता है।

संदर्भ :

1. वाक्यपदीय *Vākyapadīya* (Trikāṇḍī), भर्तृहरि – प्रथमकाण्ड (ब्रह्मकाण्ड), श्लोक 1.123
2. 'काव्यादर्श'(Kāvyādarśa), आचार्य दण्डी, प्रथम अध्याय (अधिकार) तृतीय गान (खंड) अर्थातः अधिकार 1.3
3. दूरवर्ती अध्ययन एवं सतत शिक्षा केन्द्र महात्मा गाँधी चित्रकूट ग्रामोदय विश्वविद्यालय चित्रकूट, सतना (म.प्र.) के हिन्दी भाषा एवं भाषा विज्ञान (चतुर्थ प्रश्न पत्र) में वर्णित
4. राजेंद्र यादव, आत्मकथ्य; पृष्ठ 1
5. अमृतलाल नागर, टुकड़े टुकड़े दास्तान, पृष्ठ 2
6. हरिवंश राय बच्चन, क्या भूलूँ क्या याद करूँ, पृष्ठ 53
7. वही, पृष्ठ 53
8. शिवानी, सुनहु तात यह अकथ कहानी, पृष्ठ 8
9. श्याम सुंदर दास, मेरी आत्मकहानी; पृष्ठ 7
10. हरिवंश राय बच्चन, नीड़ का निर्माण फिर-फिर, पृष्ठ 14
11. वृंदावनलाल वर्मा, अपनी कहानी, पृष्ठ 6
12. रामविलास शर्मा, घर की बात, पृष्ठ 26
13. पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र', अपनी ख़बर, पृष्ठ 52
14. यशपाल, सिंहावलोकन, पृष्ठ 31-32
15. राजेंद्र यादव, आत्मकथ्य; पृष्ठ 148
16. दयानंद सरस्वती, आत्मकथ्य, पृष्ठ 55
17. हरिवंश राय बच्चन, क्या भूलूँ क्या याद करूँ, पृष्ठ 45
18. राहुल सांकृत्यायन, मेरी जीवन यात्रा, पृष्ठ 26
19. वियोगी हरि, मेरा जीवन प्रवाह, पृष्ठ —

5.2

हिंदी की स्त्री-आत्मकथाओं की भाषा

स्त्री-साहित्य का प्रतिनिधि वस्तुतः आत्मकथात्मक साहित्य माना जाता है। स्त्रियों का अधिकतर लेखन 'स्व' का चित्रण है। वे ; दूसरों के बारे में, अन्य बड़े-बड़े साहित्यिक मानदंडों के बारे में तो तब लिखेंगी जब स्वयं अपनी अस्मिता को पहचान पाएँगी, और फिर उस पहचानी हुई अस्मिता को स्थापित करने के लिए संघर्षरत रहेंगी। "स्त्री आत्मकथा नहीं; सामाजिक आंदोलन है। यह न तो विधा है, न किताब है और न साहित्य विमर्श बल्कि आंदोलन है। स्त्री आत्मकथा— शिरकत को, रवैये को बदलने, संस्कार को बदलने, स्त्री को बदलने में कारगर भूमिका अदा करती है।"*1

अर्थात् स्त्री रचनाकार का दायित्व केवल इतना भर नहीं है कि बस 'कलम' उठाई और स्वच्छन्दतावादी या अन्य किसी सिद्धांतवादी की तरह जो 'मन' में आया लिख दिया। नहीं! उन्हें इस संसार में— सामाजिक और सांस्कृतिक लड़ाई भी अपनी ही लेखनी के माध्यम से लड़नी होती है। "स्त्री आत्मकथा लिखते हुए प्रचलित सांस्कृतिक रूपों के नरक को सामने लाती है। वह कैसे उसे नरक में क़ैद है, किस तरह की बंदिशों में जी रही है अथवा किस तरह की पाबंदियां उसके ऊपर थोप दी गईं, उनका उद्घाटन करती है और आत्मकथा के पुंस मानकों को चुनौती देती है।"*2 और, ग़ौरतलब ये है कि इस लड़ाई में उनका सामना किस से है? पितृसत्तात्मक समाज़ से— जो अधिकारों की जबरन हथियाई हुई अपनी अन्यायपूर्ण ज़मीन छिनने नहीं देना चाहता। अब, जबकि स्त्री उसी पितृसत्तात्मक समाज के दायरे में रहकर उसके ही संस्थानों को 'न्याय' करने की चुनौती देती है तो यह संघर्ष गम्भीर है।

"औरत इसलिए भी आत्मकथा लिखती है क्योंकि वह अतीत से मुक्त होना चाहती है। वह अतीत को बताकर ही अतीत से मुक्त हो पाती है। मुक्त होने के लिए बताना जरूरी है। जो लोग सोचते हैं कि वे बिना बताए मुक्त हो जाएँगे उन्हें गलतफहमी है। बगैर बताए

कोई भी मुक्त नहीं हुआ। मुक्ति के लिए बताना जरूरी है। मुक्ति के लिए गोपन रखना जरूरी नहीं है। स्त्री अपने को सुरक्षित करने, दुबारा जोड़ने और पुनः सृजित करने के लिए आत्मकथा लिखती है। वह अपरिहार्य को बताती है, उद्घाटित करती है।"*3

यहाँ पर, एक बात दोहराना अत्यंत आवश्यक है कि— साहित्य अंततः भाषा का सर्वोत्तम रूप-क्रम है। साहित्य में आत्मकथाओं का महत्वपूर्ण स्थान है। आत्मकथाएँ 'कथेतर साहित्य' की श्रेणी में आती हैं। साहित्य की यह श्रेणी कल्पनाओं से इतर हक़ीक़ी जीवन अनुभवों को अपना आधार बनाती हैं। इस नाते कथेतर साहित्य वस्तुतः साहित्य की 'मंगलकामना' और जीवन की निपट सचाइयों का अनोखा घोल होता है; और इसका उद्देश्य अंततः समूचे जगत के मध्य आकांक्षी 'सिमेट्री' बनाना होता है। ताकि इस विभिन्नतापूर्ण दुनिया में सहयोग बढ़ाते हुए 'करुणा' का उच्चतम मूल्य जगाया जा सके। स्त्री-आत्मकथाएँ इसी करूणात्मक मूल्य के विकास की महत्वपूर्ण कड़ी हैं।

सिद्धांतः तो ये बात ठीक है लेकिन समस्या तब शुरू हुई जब स्त्री रचनाकारों ने देखा कि जिस भाषा में हम— स्त्री-मूल्यों के लिए साहित्य रचना कर रहे हैं, उस भाषा में स्त्री-अनुकूल शब्दों की नितांत कमी है। उन्होंने पाया कि उनकी भाषा का संस्कार ऐसा हो गया है जिसमें 'स्त्री-विरोधी' प्रत्ययों की भरमार है। स्त्री-भाषा की अध्ययन मनन की प्रक्रिया पर नज़र डालें तो पाएंगे कि वर्जीनिया वुल्फ़ पहली लेखिका हैं जिन्होंने इस स्त्री-भाषा के प्रश्नों को उठाया। उन्होंने सन 1926 में 'वुमेन एंड फिक्शन' निबंध में सबसे पहले स्त्री-भाषा की समस्या पर प्रकाश डाला। "स्त्री भाषा को आमतौर पर पुरुष भाषा के मानदंडों से ही देखा गया है। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि हमने कभी महसूस नहीं किया कि हमारी भाषा शास्त्रीय सैद्धांतिकी लिंगभेद दिए पूर्वाग्रहों से ग्रस्त है।"*4

उदाहरण के लिए— 'राजा' शब्द को लेते हैं। सांस्कृतिक रूप से ध्वनित हो रहा है कि 'राजा' शब्द बड़ा है, जबकि 'रानी' शब्द में ही ये ध्वनित होता है कि वो बस राजा को उसका वारिस देने वाली कोई सुंदर महिला होनी चाहिये। पराक्रम, युद्धक्षमता, ज्ञान, सत्ता,

शक्ति— सब उसके लिए वर्जित हैं। सबसे बढ़कर ये कि, वो रानी होते हुए भी अपने भरण-पोषण के लिए राजा की 'दया' पर निर्भर है।

अर्थात्, पद और सोपान में 'रानी' भले ही सारी प्रजा से उँची है लेकिन सोचने की बात ये कि वो रानी होते हुए भी अपने भरणपोषण या जीवन के किसी भी निर्णय के लिए राजा की दया पर निर्भर है! इस नाते, स्त्री साहित्यकारों ने ये बात बहुत गहरे तौर पर स्वीकार की कि— साहित्य का मामला बहुत कुछ 'भाषा के स्वरूप' पर निर्भर करता है। ऐसे में स्त्री यदि उसी ढाँचे और ढर्रे वाली भाषायी संरचना और मुहावरों में लिखेगी तो निस्तेज हो जाएगी। क्योंकि जिन हथियारों से आप विपक्ष से लड़ना चाहते हैं वो हथियार तो विपक्ष के ही शस्त्रागार में बने बने हैं।

आलोचक जगदीश्वर चतुर्वेदी*5 ने इस संदर्भ में महत्वपूर्ण विवेचन किया है। उन्होंने कहा कि पुरुष को संबोधित पदबंध 'श्रीमान', 'श्रीमती' इत्यादि स्त्री-पुरुष की भाषा में कोड किए होते हैं। ये वर्गीकरण 'पुरुषत्व' या 'स्त्रीत्व' में तब्दील कर देता है। इसी तरह संकेत भाषा के जरिए स्त्री के शादीशुदा होने या न होने का पता लगता है। पुरुष शादीशुदा है या नहीं इसकी पहचान का कोई संकेत मौजूद नहीं होता। इससे यही अर्थ निकलता है कि स्त्री की पहचान पुरुष पर निर्भर है। इसी तरह जब 'सुश्री' कहते हैं तो इसमें निहित मर्द झाँकने लगता है। 'सुश्री' का आशय 'अविवाहिता' से है वहीं पर 'सुश्री' का उपहासास्पद प्रयोग भी संभव है। इसे अँग्रेजी में 'मिस' कहते हैं। इसके पर्यायवाची शब्द पढ़ें तो विलक्षण अर्थ वाले शब्द निकलेंगे जैसे सुश्री, कुमारी, छात्रा, स्कूली लड़की। इसी तरह 'मिस्ट्रेस' शब्द को लें जो 'मास्टर' का स्त्री बोधक है। इसके पर्यायवाची शब्द होंगे स्वामिनी, गृह-स्वामिनी, स्त्री, अध्यापिका, कुशल महिला, प्रेयसी, रखैल, उपपत्नी, आदि। इन प्रयोगों की तुलना में 'मास्टर' (अँग्रेजी शब्द) के पर्यायवाची शब्द मालिक, नेता, स्वामी, मास्टर, अग्रणी, शासक, अध्यापक, नियोजक, नियोक्ता, उस्ताद, खलीफा, प्रवीण, विद, दक्ष आदि सकारात्मक अर्थ के व्यक्त करने वाले शब्द मिलते हैं। इसी तरह 'मर्दानापन' और 'जनानापन' ये दो शब्द

क्रमशः सकारात्मक एवं नकारात्मक (हेय) अर्थ को व्यंजित करते हैं। उसी तरह 'वैचलर' शब्द का हिंदी में पर्याय देखें तो कुँआरा, कुमार, अविवाहित व्यक्ति, विश्वविद्यालय की प्रथम उपाधि प्राप्त व्यक्ति, सूरमा, शूर आदि सकारात्मक शब्द मिलते हैं। इसी तरह अधिकांश विशेषण भी कामुक अर्थों को संप्रेपित करते हैं। इसी के आधार पर विचारधारा निर्मित होती है। स्त्री का आम तौर पर अर्थ है कमजोर, अनुगामिनी, प्रसन्न रखने वाली, ढोने वाली या फिर निकम्मी आदि। जगदीश्वर चतुर्वेदी के अनुसार ये उदाहरण भाषा में स्त्री की स्थिति के परिचायक है। स्त्रियों को अपनी भाषा निर्माण करनी है तो उन्हें मौजूदा शब्द भंडार एवं बोलचाल की भाषा से ही अपनी स्वतंत्र भाषा बनाने की प्रक्रिया शुरू करनी होगी। अतः लंबे समय तक यह समस्या भी बनी रहेगी कि जिस लिंग का सामाजिक प्रभुत्व है उसी का भाषिक प्रभुत्व है। अधिरचना में प्रभुत्व को बनाए रखने में भाषा सबसे प्रभावी औजार है।

कहने से तात्पर्य ये है कि, यदि स्त्री रचनाकारों ने अपने लेखन में जो बात सबसे पहले समझी वो ये कि — साहित्य वस्तुतः भाषा की अनुकूल संरचना है जिसे — प्रभावशाली सत्तावान वर्ग हमेशा ही अपने हित के लिए प्रयोग करता आया है। "अभी तक हम जिस भाषा के अभ्यस्त रहे हैं, वह मर्द भाषा रही है। इसमें पाठक और विषय के बीच अंतराल रहा है। विषय और 'स्व' के बीच अंतराल रहा है। मर्द भाषा में बोलने, लिखने और सोचने की हमारी आदत सैकड़ों साल पुरानी है। मर्द भाषा वह है जो हमारे ऊपर से गुजर जाती है। यह इकतरफा भाषा है। इस भाषा में बोलने वाले उत्तर की प्रतीक्षा नहीं करते और न यही महसूस करते हैं कि उनकी बात सुनी जा रही है या नहीं। जबकि स्त्री भाषा की विशेषता है कि उसे उत्तर चाहिए। यह संवाद है। इसकी जड़ों में शब्द हैं जो एक साथ ही करवटे बदलते हैं। स्त्री भाषा संप्रेषण नहीं है बल्कि संबंध है। संबंध ही है जो जोड़ता है। इसकी शक्ति बाँटने वाली नहीं है बल्कि बाँधने वाली है। इस भाषा को आप हृदय से महसूस कर सकते हैं।"*6 और, यदि हमें साहित्य और समाज में अपनी बात दर्ज़ करानी है तो सबसे पहले 'भाषा' के कलेवर

को बदलना होगा जो पितृसत्तवादी संस्कारों, बिंबों, मुहावरों से भर गई है। साहित्य-सृजना से पहले 'भाषा' के मठाधीशी स्वरूप की तोड़-फोड़ करनी पड़ेगी।

भाषिक-तोड़फोड़ की इस कारगुज़ारी में स्त्री रचनाकारों ने जाना कि सबसे पहले भाषा के पितृसत्तात्मक-कोड को तोड़ना होगा जिससे— भाषा को लैंगिक-पूर्वाग्रहों से मुक्त किया जा सके। क्योंकि यही वह माध्यम होगा जिससे वे equal level play field पर आ सकेंगी। इसके लिए ज़रूरी है कि भाषा को अपनी बात कह सकने में सक्षम बनाया जाए। इसके लिए; 'दी गई भाषा' को हमें विखंडित करना होगा। स्त्री रचनाकारों ये प्रयास में 'विखंडनवाद' के मूल्यों पर आधारित है क्योंकि 'विखंडनवाद' का आधार ही 'वर्चस्वशाली मुख्यार्थ का विस्थापन है।' क्योंकि मुख्यार्थ वस्तुतः अन्यायपूर्ण और इकहरा होता है।

विखंडनवाद (Deconstruction) का संबंध फ्रांसीसी दार्शनिक जाक देरिदा से है। यह एक दार्शनिक और साहित्यिक सिद्धांत है, जिसे देरिदा ने 1960–70 के दशक में विकसित किया। इसके माध्यम से उन्होंने पश्चिमी दर्शन, भाषा और अर्थ की पारंपरिक अवधारणाओं को चुनौती दी। विशेषकर भाषा के विषय में— जाक देरिदा ने यह तज़वीज़ किया कि कोई भी शब्द या वाक्य अपने आप में कोई निश्चित या अंतिम अर्थ नहीं रखता। 'भाषा' किसी अर्थ के स्थायीपन को नहीं, अपितु उसके अस्थायीपन और अर्थ-बहुलता को प्रस्फुटित करती है।

जाक देरिदा के अनुसार, हम जिस 'अर्थ' को समझते हैं, वह केवल भाषा के प्रतीकों और संकेतों के खेल (play of signs) का परिणाम होता है। भाषा में प्रयोग किए गए शब्द किसी स्थायी 'वस्तु' का प्रतिनिधित्व नहीं करते अपितु वे दूसरे/अन्य शब्दों के संदर्भ में ही अपना 'अर्थ' ग्रहण करते हैं। जैसे कि, शब्द 'घर' (Home) को ही लें; इसका अर्थ— व्यक्ति, संदर्भ और संस्कृति में अलग हो सकता है— कहीं तो वह केवल एक रहने की जगह है तो कहीं वह स्मृति, याददिहानी, सुरक्षा या सम्बन्धों का प्रतीक। इस प्रकार, भाषा में 'अर्थ'

कभी स्थिर नहीं होता; वह हमेशा एक संदर्भ से दूसरे संदर्भ की ओर पलायित रहता है, जिसे जाक देरिदा ने 'diffrance' कहा है।

विखंडनवाद यह भी दिखाता है कि भाषा में प्रयुक्त द्वैतवादी/विलोमार्थी संरचनाएँ जैसे— 'सत्य/झूठ', 'प्रमुख/गौण', 'पुरुष/स्त्री'— प्रायः एक पक्ष को श्रेष्ठ और दूसरे को निम्नतर और हेय मानती हैं। विखंडन का कार्य इन रूढ़ संरचनाओं को तोड़ना और उनके भीतर छिपे हुए अन्यायपूर्ण 'शक्ति-संबंधों' को उजागर करना है। जैसे— साहित्य में 'लेखक' को 'अर्थ' का स्रोत मानना एक शक्ति संरचना है, जबकि विखंडनवाद— पाठक और पाठ की भूमिका को केंद्रीय बनाता है।

इस प्रकार, विखंडनवाद भाषा को अर्थ की एक खुली, बहुअर्थी और गतिशील प्रणाली के रूप में देखता है जहाँ अनिवार्य निश्चितता नहीं बल्कि निरंतर 'विलंब' और 'विकल्प' की जनतांत्रिक प्रक्रिया मौज़ूद होते हैं। यही इसकी सबसे क्रांतिकारी विशेषता है। विखंडनवादियों का मानना है कि— 'भाषा' ही ज्ञान का एकमात्र स्रोत है। भाषा ही एकमात्र स्रोत इसलिए है क्योंकि भाषा से बाहर जो भी है— वह सब 'एकतरफ़ा वर्चस्वशाली मुख्यार्थ' है। ये 'वर्चस्वशाली मुख्यार्थ' बड़े लोगों का 'सच' है; छोटे लोगों का नहीं। साथ ही, इन वर्चस्वशाली मुख्यार्थों में 'बड़े लोगों' को प्रभुत्ववान बनाए रखने की शक्ति 'सिद्धांत' रूप में 'भाषा' में ही अभिव्यक्त होती है। इसलिए विखंडनवाद के अनुसार भाषा को ही निशाना बनाना होगा जिससे 'मुख्यार्थ' का महल भरभराकर गिर पड़े और 'अन्यार्थ' को जगह मिले।

'वर्चस्वशाली मुख्यार्थ' की जगह बिसार दिए गए 'अन्यार्थ' को जगह देना ही स्त्री-आत्मकथाओं की भाषा का तेवर और कलेवर है। इस नाते स्त्री-आत्मकथाकारों ने अपनी रचनाओं में इस संदर्भ को केंद्र में रखा है। कृष्णा अग्निहोत्री अपनी आत्मकथा 'और और औरत' में लिखती हैं कि, "मैंने आत्मकथा प्रशंसा पाने हेतु नहीं लिखी। वहां मेरे चौतरफा लड़ाई भी है। क्या ये सब जो मुझ पर बीता था, सब पर विभिन्न रंगों से बीता? घिसी-पिटी

मान्यताओं में न जीकर नए स्वर छेड़ने के लिए है न साहित्य? लेकिन स्वयं के जीवन को क्यों काल्पनिक रंगों में गूंथ प्रसिद्धि के जाम पीने की चेष्टा हो। जीवन जीने की घिसी-पिटी मान्यताएँ समयानुसार अपने आप परिवर्तित हो जाती हैं पर मानवीय संवेदनाएँ, कष्ट, उसके प्रति दुलार का शाश्वत सत्य एक ही होता है। यदि झूठ कहकर हम यह चिल्लाएं कि हमारा झूठ एक नया वाद है, एक नई मान्यता है, तो वह कभी नहीं स्वीकारेंगे। कामुकता ही जीवन नहीं। प्रेम जीवन है। संघर्ष जीवन है।"*7 कृष्णा अग्निहोत्री यहाँ न केवल आत्मकथा का स्वत्व बता रही हैं बल्कि साहित्य के 'अन्यार्थ' के लिए प्रतिबद्ध हैं।

स्त्री का आत्मकथा लिखना सक्रिय सामाजिक भूमिका अदा करना है, वह अपने पाठक को सक्रिय करती है, आंदोलित करती है, एक्शन के लिए तैयार करती है। इससे सामाजिक सक्रियता में इजाफा होता है। स्त्री आत्मकथा समाज और संस्कृति की आलोचना है, उसके साथ मुठभेड़ है, साथ समाज और संस्कृति में अपनी जगह बनाने का प्रयास भी है। आगे, हम स्त्री-आत्मकथाओं के प्रमुख अंशों के माध्यम से भाषा-विवेचन कर रहे हैं—

5.2.i. अन्या से अनन्या — प्रभा खेतान

'अन्या से अनन्या' की भाषा सहज, आत्मीय और अनुभवशील है। लेखिका ने इसे बोलचाल की हिंदी में इस प्रकार गूंथा है कि पाठक उसमें अपनी ही कहानी देखने लगता है। इसकी भाषा में ग्रामीण संस्कृति की महक, स्त्री के अंतरद्वंद्व की गूंज और आत्माभिव्यक्ति की निर्भीकता स्पष्ट झलकती है। वाक्य विन्यास में सरलता होते हुए भी भावों की गहराई है—

♦ 'अरे मौसी !'

'कल रात ऊ नीम का पेड़ पर उहाँ भूतनी बैठी रही थी।'

'अरे सच ? दिन में तो बच्चे लोग ऊहाँ खेलत रहिन।'

‘हाँ, सच कहत हऊ, हमको छनक-छनक का आवाज आवत रही...हम सोचनकि जाई जरा देखी।’

‘अरी भरिगवना... अपन जान से मत खेल...ऊ भूतनिया कोई तांत्रिक का

किरिया कलाप है।’

‘दाई माँ ! भूतनी को कैसे पहचाना जाता है ?’ भूतनी का पंजा उलटा होता है। ‘हरिया बोला।’ इसलिए नीम के चबूतरे की तरफ कोई नहीं फटकता। रोज सुबह दाई माँ शिवजी को जल चढ़ा आती। उसका कहना था कि शिवजी तो खुद भूत-परेत को लेकर रहत हई।’

पृष्ठ संख्या 21

प्रभा खेतान की आत्मकथा ‘अन्या से अनन्या’ की भाषा जनजीवन की मिट्टी से जुड़ी हुई, स्वाभाविक और आत्मीय है। प्रस्तुत गद्यांश में उनकी भाषा की वह विशिष्टता उजागर होती है, जिसमें लोकसंस्कृति, स्त्रीचेतना और सामाजिक विश्वासों का सहज संयोग है। संवादों के माध्यम से कथा को आगे बढ़ाते हुए वे ग्रामीण स्त्रियों की मानसिकता, डर, जिज्ञासा और जीवन-दृष्टि को यथार्थ रूप में चित्रित करती हैं। ‘अरे मौसी’, ‘भरिगवना’, ‘हम सोचनकि जाई’ जैसे वाक्यांश भोजपुरी और अवधी जैसी लोकभाषाओं की उपस्थिति को दर्शाते हैं, जो आत्मकथा को एक सजीव और जमीन से जुड़ा स्वर देती है।

भूत-प्रेत, नीम का पेड़, तांत्रिक क्रियाएँ, उल्टा पंजा जैसे शब्दों और प्रतीकों के माध्यम से लोकविश्वास की गहराई और भय के मनोविज्ञान को रेखांकित किया गया है। प्रभा खेतान की भाषा में यह विशेष सामर्थ्य है कि वह अलिखित सामाजिक व्यवहारों और मिथकीय चेतना को भी सहज रूप से रचना में समाहित कर देती हैं। संवादों की शैली में नाटकीयता नहीं, बल्कि सजीवता और स्वाभाविकता है—मानो पाठक किसी गाँव की चौपाल में बैठा इन स्त्रियों की बातें सुन रहा हो।

अन्य उदाहरण—

◆“दाई माँ कहती, “हमार चार बिटिया है, चम्पा, चमेली, बिन्दा और परभा ।”

“दाई माँ मेरा नाम प्रभा है, प्रभा बोल... परभा नहीं।” “अरे बिटिया हम का जानी गँगवई मानुस” पृष्ठ संख्या 22

♦ “जिन रोवा बिटिया जिन रोओ।” पृष्ठ संख्या 25

♦ “अचानक अम्मा की नजर गणगौर पर... “हैं... यह क्या ? किसने किया यह सब ?”

“के होयो बहूजी ?...’ धापी बाई ने घबराकर पूछा।

“धापी बाई थान सूझ कोनी ? गणगौर को मूंडो (चेहरा) उलटो कईयों है, किसने किया ये करम ?” पृष्ठ संख्या 32

♦ “अरी दइया री, ई का करत हो मोर बिटिया…?” पृष्ठ संख्या 38

♦ ‘चोलबे ना चोलबे ना’ पृष्ठ संख्या 47

प्रभा खेतान की आत्मकथा ‘अन्या से अनन्या’ में भाषा न केवल आत्म-अभिव्यक्ति का माध्यम है, बल्कि सामाजिक संदर्भों, जातिगत अनुभवों और स्त्री जीवन के बहुआयामी यथार्थ को संप्रेषित करने का सशक्त उपकरण भी है। प्रस्तुत गद्यांशों में उनकी भाषिक विशेषताएँ अत्यंत स्पष्ट रूप से उभरती हैं।

इस आत्मकथा की सबसे बड़ी भाषिक विशेषता है— लोकभाषाओं और बोलियों का आत्मीय प्रयोग। ‘परभा’ के स्थान पर ‘प्रभा’ का उच्चारण त्रुटिपूर्ण होना, ‘गँगवई मानुस’ जैसे प्रयोग, मारवाड़ी में धापी बाई का बोलना— “थान सूझ कोनी?” या भोजपुरी में “ई का करत हो मोर बिटिया?”—यह सब रचना को विशुद्ध लोक-सांस्कृतिक धरातल से जोड़ता है। ये भाषिक प्रयोग केवल सजावटी तत्व नहीं हैं, बल्कि वे स्त्री जीवन के विविध अनुभवों, अस्मिता, पीड़ा और संघर्ष को सामाजिक यथार्थ के साथ जोड़ते हैं।

प्रभा खेतान की भाषा में क्षेत्रीयता और स्त्री लोक की जीवंतता है। यह भाषा सिर्फ संवाद नहीं रचती, वह उन भावनाओं, रूढ़ियों और विडंबनाओं को प्रकट करती है जो एक स्त्री के सामाजिक विकास में बार-बार अवरोध बनकर उपस्थित होती हैं। “चोलबे ना चोलबे ना”

जैसे वाक्य स्त्री की अवज्ञा और विद्रोह के स्वर को दर्शाते हैं, तो "जिन रोवा बिटिया जिन रोओ" में भावनात्मक सांत्वना और परंपरागत स्त्री-संवेदना झलकती है।

यहाँ भाषा एक बहुस्तरीय संरचना बनाती है—जहाँ संवाद, भाव, स्मृति और संस्कार आपस में जुड़ते हैं। प्रभा खेतान अपनी आत्मकथा में ऐसी भाषा चुनती हैं जो न तो पूरी तरह मानक हिन्दी है, न ही केवल लोक बोलियाँ—बल्कि यह एक हाइब्रिड भाषा है, जो उनके विविध अनुभव-क्षेत्रों की सांस्कृतिक बहुलता को अभिव्यक्त करती है। इस तरह, 'अन्या से अनन्या' की भाषा न केवल शैलीगत दृष्टि से प्रभावशाली है, बल्कि यह एक स्त्री की चेतना, संघर्ष और आत्म-निर्माण की प्रक्रिया को भी भाषिक रूप में मूर्त करती है। यह भाषा गढ़ी नहीं गई है, यह जीवन की जिजीविषा और आत्मबोध से उपजी है—इसलिए इसमें सच्चाई है, ताक़त है और गहराई भी।

प्रभा खेतान की आत्मकथा 'अन्या से अनन्या' में प्रयुक्त अंग्रेज़ी शब्द जैसे—बैग, ऑफिस, बिजनेस पार्टनर, ब्यूटी-पार्लर, टैक्सी, कम्युनिस्ट, एयरपोर्ट, टूरिस्ट, डायनमिक, सेक्रेटरी, बाथरूम आदि उनके जीवन के आधुनिक और व्यावसायिक पक्ष को दर्शाते हैं। ये शब्द उनकी उस स्त्री पहचान को रेखांकित करते हैं जो पारंपरिक सीमाओं से बाहर निकलकर वैश्विक अनुभवों से जुड़ती है। अंग्रेज़ी शब्दों का यह प्रयोग उनकी आत्मकथा को सामाजिक-आर्थिक यथार्थ से जोड़ता है और एक आत्मनिर्भर, शिक्षित तथा वैचारिक रूप से सजग स्त्री की छवि प्रस्तुत करता है। भाषा यहां आत्मबोध और संघर्ष की संवाहिका है।

5.2.ii. गुड़िया भीतर गुड़िया — मैत्रेयी पुष्पा

'गुड़िया भीतर गुड़िया' में मैत्रेयी पुष्पा की भाषा विद्रोही, आत्मकथात्मक और बोलचाल की शैली में रची गई है। इसमें ग्रामीण अंचल की लोकबोलियाँ, ताजगी और स्त्री-जीवन की

तीव्र संवेदनाएँ गहराई से अभिव्यक्त होती हैं। उनकी भाषा यथार्थपरक, बेलौस और आत्मस्वर से भरपूर है। उदाहरण—

♦ “ओ रामौतार! ओ खूबाराम! ओ रे लक्ष्मी..." "अरे चलियो रे भइया। अरे हमारा हल गया रे…” पृष्ठ संख्या 28

♦ “आज इस मुकाम पर आत्मकथा लिखते हुए संतो बहुत याद आती है, ढोला गाती हुई, मेरी जैसीनारंगी और लाल रंग की मिश्रित साड़ी पहने हुए—

मेरै घर अड़यो रे, अरे कायध के लाल, मेरे घर अध्यो रे, मेरी कमर उठी है पीर, मेरे घर.... मैं कैसे आऊँ री, अरी मेरी राज दुलारि मैं कैसे आऊँ री, तेरे द्वार खड़े ड्योढ़ी मान, मैं कैसे…

(कायय के लाल तू मेरे घर आना। मेरी कमर में पीर उठी है बूटी लाना।

मैं कैसे आऊँगा मेरी राजदुलारी, तेरे द्वार पर तो द्वारपाल खड़े हैं। मैं द्वारपालों को हटा दूँगी। कहदूँगी मेरे वैद्य आ रहे हैं।)

‘परे सरकिजा रे अरे मेरे ड्योढ़ीमान, परे सरकिजा रे मेरे आवत बैद हकीम, परे सरकिजा रे…” पृष्ठ संख्या 41–42

प्रभा खेतान की आत्मकथा ‘अन्या से अनन्या’ की भाषा में एक ऐसी सांस्कृतिक अंतर्धारा बहती है, जो निजी स्मृतियों को लोक-संवेदना के साथ जोड़ देती है। प्रस्तुत अंश में उनकी भाषा भावनात्मक, आत्मीय और पूरी तरह आत्मानुभूति में डूबी हुई प्रतीत होती है। संतो का स्मरण करते हुए जो लोकगीत वे उद्धृत करती हैं, वे केवल संगीत या परंपरा नहीं हैं, बल्कि उस स्त्री चेतना की मार्मिक अभिव्यक्ति हैं जो प्रेम, पीड़ा, विवशता और आत्मसमर्पण के बीच अपने होने को पहचानना चाहती है।

भाषा यहाँ केवल वर्णन का माध्यम नहीं है, बल्कि एक आत्मिक संवाद बन जाती है। राजस्थानी लोकगीत की पंक्तियाँ— "मेरै घर अड़यो रे, कायध के लाल…", "मेरी कमर उठी है पीर…", या "परे सरकिजा रे…"—लेखिका की आत्मा में जमी पीड़ा को अभिव्यक्त करने का सांगीतिक और सांस्कृतिक माध्यम बनती हैं। इन पंक्तियों के बीच की भाषा में

मानक हिन्दी, लोक बोली और काव्यात्मकता का मिश्रण एक अद्भुत भाषिक सौंदर्य उत्पन्न करता है।

इस अंश में भाषा किसी एक रूप में नहीं बंधती—यह कभी गीत बनकर बहती है, कभी स्मृति बनकर लौटती है, और कभी स्त्री की चुप वेदना बनकर ठहर जाती है। प्रभा खेतान की भाषा में ठोस यथार्थ, आत्मीयता और सांस्कृतिक प्रतीकों का ऐसा सजीव रूप दिखता है, जो आत्मकथा को मात्र निजी आख्यान न बनाकर एक सामाजिक-सांस्कृतिक दस्तावेज में रूपांतरित कर देता है।

“जन्नत की सैर पर निकल जाएँगे। पता तो है कि हम को किस तरह डिफाइन परिभाषित) कियाजाता है? यही कि Are you emotionaly humbed, romantically starved, creativellychallanged, artistically void, socialy out cast… लोग कहते हैं-Congratulations you are Doctor. (तुम भावात्मक स्तर पर सुन्न, प्यार के मामले में क्षुधित, रचनात्मकता के लिएचुनौती पर, कलात्मकता में खाली, सामाजिकता से बहिष्कृत, वधाई हो, तुम डॉक्टर हो)।” पृष्ठ संख्या 56

प्रभा खेतान की आत्मकथा ‘अन्या से अनन्या’ के इस अंश में उनकी भाषा की तीव्र विडंबनात्मकता, भावनात्मक विद्रोह और आधुनिक अस्तित्वगत संघर्ष की झलक मिलती है। अंग्रेज़ी और हिन्दी का संयोजन यहाँ केवल शैलीगत प्रयोग नहीं है, बल्कि उस स्त्री की मानसिक स्थिति को उभारने का उपकरण है जो समाज द्वारा दी गई "सफलता" की परिभाषा के भीतर अपने अधूरेपन को महसूस करती है।

“Are you emotionally numbed, romantically starved…” जैसे वाक्यांशों के प्रयोग से प्रभा खेतान अपने भीतर की रिक्तताओं और उस सामाजिक विसंगति को उजागर करती हैं जहाँ एक औरत का डॉक्टर बन जाना उपलब्धि तो है, लेकिन उस उपलब्धि के पीछे भावनात्मक सूखापन, प्रेमहीनता, रचनात्मक अवरोध और सामाजिक अलगाव छिपा होता है। यहाँ भाषा व्यंग्यात्मक है, लेकिन उसी में पीड़ा और गहरी संवेदना

भी समाहित है। यह अंश दर्शाता है कि प्रभा खेतान की भाषा बहुस्तरीय है—वह विचार, संवेदना, व्यंग्य और सामाजिक आलोचना को एक साथ समेटकर पाठक को झकझोर देती है। उनकी भाषा आत्मकथा को केवल आत्मकेंद्रित नहीं रहने देती, बल्कि एक बौद्धिक, भावनात्मक और सांस्कृतिक विमर्श में बदल देती है। अन्य उदाहरण देखिए —

♦ "उसने सुशीला का गाया गीत औरतों के सामने एक सांस में सुना दिया-

धर्म देश है, कर्म देश है, देश को भूल न जाना, भारत की संतान अगर हो, काम देश के आना। मुन्नी कितना मीठा गाने लगी है। वह भी गुरुकुल जाएगी, अभी से सीख रही है, वहाँ की लियाक़त।" पृष्ठ संख्या 105

♦ देशज शब्द– खुरदरे, मैली, कुर्कीयां, बर्तन भांड़ें, टेंटुआ, ब्याह, महावर,

♦ "जियरा फिरे उदास" पृष्ठ संख्या 77

♦ "अखियां जान सुजान भई।" पृष्ठ संख्या 162

♦ "निपट अनाड़ी लड़की है।" पृष्ठ संख्या 27

♦ "बसूली की मियाद बढ़ जाती है।" पृष्ठ संख्या 15

ये भाषा गहरे सामाजिक अनुभवों, लोक-संवेदनाओं और भावनात्मक यथार्थ से सिंचित है। इसमें एक ओर जहाँ देशभक्ति और संस्कारों से जुड़ा गीत—"धर्म देश है, कर्म देश है…" — बाल मानस और स्त्री चेतना की सामूहिक स्मृति को रेखांकित करता है, वहीं दूसरी ओर भाषा में प्रयुक्त देशज शब्दावली—खुरदरे, मैली, कुर्कीयां, टेंटुआ, ब्याह, महावर, बसूली, मियाद —जीवन की वास्तविकता और सामाजिक जड़ों से जुड़ाव को उजागर करती है।

उनकी भाषा में "जियरा फिरे उदास", "अखियाँ जान सुजान भई", "निपट अनाड़ी लड़की" जैसे प्रयोग केवल भावाभिव्यक्ति नहीं हैं, बल्कि स्त्री की अंतर्चेतना, असुरक्षा, अनुभवहीनता और भावनात्मक स्थितियों के जीवंत चित्र हैं। लेखिका की शैली में सहजता है, किन्तु उसमें सामाजिक सघनता, व्याकुलता और आत्मसंघर्ष की गूंज भी है। इन शब्दों के माध्यम से प्रभा खेतान न केवल अपने अनुभवों को साझा करती हैं, बल्कि अपने परिवेश,

जातीय पहचान और स्त्रीत्व को भाषाई धरातल पर मजबूती से अंकित करती हैं। उनकी भाषा में आत्मकथ्य की गरिमा के साथ-साथ लोक की आत्मा धड़कती है।

अंग्रेज़ी शब्दों का प्रयोग उनके जीवन के सामाजिक, शैक्षिक और व्यवसायिक परिवेश का सूचक है। बाथरूम, टॉयलेट्स, हॉस्टल, ड्यूटी, एडमिनिस्ट्रेशन, लैंडलॉर्ड जैसे शब्द उनके आधुनिक जीवन अनुभवों से जुड़े हैं, वहीं ट्रेजेडी क्वीन, क्लीनशेव्ड, एडिकेटस, ब्यूटी जैसे शब्द सामाजिक व्यवहार, सौंदर्य-बोध और सांस्कृतिक संदर्भों को प्रकट करते हैं।

5.2.iii. कस्तूरी कुण्डल बसै — मैत्रेयी पुष्पा

♦ "मेरी सौत, तू खानदान की जड़ में दीमक, हम सब का सफाया कर देगी। हरजाई, कौन-सा यारतुझे ब्याह होकर विदा होने से रोक रहा है ?" पृष्ठ संख्या 11

♦ "तू यहाँ चौंतरा करके बैठी रहना, यही चाहती है नठिया (नाँठ करनेवाली)" पृष्ठ 11

♦ "औरतजात की कीमत क्या है उन लोगों के यहाँ, मैं बार-बार समझाती हूँ तुझे।" पृष्ठ संख्या 83

♦ "ओ रामौतार ! ओ खूबाराम ! ओ रे लछमी..." "अरे चलियो रे भइया। अरे हमारा हल गया रे..." पृष्ठ संख्या 28

♦ "रुढ़ियों, परम्पराओं, अन्धविश्वासों को काटते हुए कैसी तो बेशर्मी साधनी पड़ी कि लोगों ने उन्हेंन गाँव की स्त्रियों में गिना, न पुरुषों में। विचित्र जीव की तरह देखा, अजनबी कर दीं। उनके लिएगाँववालों की खुशी-प्रशंसा भी महज नाटक है, क्योंकि ग्रामीणों की जिन्दगी को उनसे कुछलेना-देना नहीं। आज कस्तूरी का मन बुरी तरह खीझा हुआ है।" पृष्ठ संख्या 135

प्रभा खेतान की आत्मकथा 'अन्या से अनन्या' की भाषा सामाजिक यथार्थ, स्त्री-विरोधी मानसिकता और विद्रोह की तीव्र अभिव्यक्ति है। "तू खानदान की जड़ में दीमक", "नठिया", "औरतजात की कीमत" जैसे देशज और तीखे शब्दों से वे स्त्री के प्रति समाज की

कटु दृष्टि को उजागर करती हैं। "ओ रामौतार..." जैसे लोकसंबोधन ग्रामीण जीवन की जीवंतता लाते हैं। रूढ़ियों और अंधविश्वासों पर व्यंग्यात्मक भाषा के माध्यम से वे स्त्री की अस्मिता और साहस को स्वर देती हैं। उनकी भाषा भाव, अनुभव और विद्रोह का सशक्त, प्रामाणिक और संप्रेषणीय माध्यम बन जाती है।

प्रभा खेतान की आत्मकथा 'अन्या से अनन्या' में प्रयुक्त भाषिक वैविध्य उनके अनुभवों की सामाजिक, भौगोलिक और सांस्कृतिक परतों को खोलता है। इसमें देशज शब्द जैसे ब्याह, चोंतरा, हुक्का, चिथड़े-गुदड़े, इंगूर, किवड़िया, खूंटी आदि ग्रामीण जीवन, स्त्री-लोक और पारिवारिक अनुभवों की ज़मीन से जुड़ाव दर्शाते हैं। ये शब्द आत्मकथा को लोकस्वर प्रदान करते हैं।

वहीं अंग्रेज़ी शब्द—सिलेबस, प्रिंसिपल, मैनेजमेंट, ड्राइंगरूम, सुप्रीम कोर्ट, गर्ल्स स्कूल आदि आधुनिक शिक्षा, प्रशासन, और शहरी जीवन के साथ लेखिका के जुड़ाव को स्पष्ट करते हैं। ये शब्द एक ऐसी स्त्री की छवि निर्मित करते हैं जो परंपरा और आधुनिकता के बीच पुल बनाती है।

साथ ही अरबी-फारसी-उर्दू शब्दों— हुकूमत, इज्ज़त, ताज्जुब, कमबख्त, हुज़ूर, इम्तिहान, मज़ा, आबरू, पायजेब आदि—के माध्यम से लेखिका भाव, व्यंग्य, सम्मान और रिश्तों की जटिलता को अभिव्यक्त करती हैं। यह भाषिक विविधता आत्मकथा को केवल एक स्त्री की कथा नहीं रहने देती, बल्कि उसे एक सामाजिक-सांस्कृतिक दस्तावेज बना देती है जिसमें जीवन के हर रंग की अभिव्यक्ति है।

5.2.iv. कितने शहरों में कितनी बार — ममता कालिया

♦ "अरे ध्यान से न्हवइयो। भार्गवजी की नतनी की येई बिसरांत घाट पर बुड़का मार के ले गयी थी।" "तोते की बहन की तो उँगलियों खा गयी।" पृष्ठ संख्या 12

♦ "तो लल्ली चोर बटमार को वह मार पड़ी कि उसकी अन्टी गई खुल और साहूकार को अपना माल तो मिला-ही-मिला, साथ में और माल भी मिल गयौ जो वह लछमनदास के यहाँ से लायौथौ।" पृष्ठ संख्या 12-13

♦ दादी कह रही हैं- "च्यों बिद्दा भूषण जे चसमे फैसन में बनवाये हैं?" वे अपनी आँखें मलती हैं, "मोय तो कछु टिपे नायं। एक मोय दे दे। पापा कहते हैं, "जीजी तुम मेरे साथ डॉक्टर के चलना। तुम्हारी आँख जैचवा कर चश्मा बनवा दूँगा।" दादी उलाहना देती हैं, "अरे जा तू आँख जॅचवाएगा। इत्ती तेरी कमाई और उत्ती भारतभूषण की। कभी माँ-बाप पे छदाम भी खर्च नार्यकरी।" पृष्ठ संख्या 14

ममता कालिया की आत्मकथा 'कितने शहरों में कितनी बार' की भाषा में हास्य, विडंबना, आत्मीयता और सामाजिक सच्चाइयों की अद्भुत संप्रेषणीयता है। प्रस्तुत अंशों में लेखिका का भाषिक सौंदर्य उसके सहज और स्वाभाविक प्रवाह में निहित है। उनकी भाषा जीवन के विविध अनुभवों से उपजी हुई, बोली-बानी से सजी और संवादों की जीवंतता से संपन्न है। "अरे ध्यान से न्हवइयो", "तोते की बहन की उँगलियों खा गयी" जैसे वाक्य ठेठ देशज ठसक लिए हुए हैं, जो कथा को लोक-संवेदना से जोड़ते हैं।

"तो लल्ली चोर बटमार को वह मार पड़ी..." जैसी कहन में कथा-रस के साथ ग्रामीण या कस्बाई जीवन की शैली झलकती है, जो पाठक को उस समय और समाज के भीतर खींच लाती है। दादी के संवाद—"च्यों बिद्दा भूषण जे चसमे फैसन में बनवाये हैं?", "मोय तो कछु टिपे नायं", "अरे जा तू आँख जैचवाएगा..."—के माध्यम से ममता कालिया पीढ़ियों के बीच के अंतर को व्यंग्य और करुणा के साथ सामने लाती हैं। यह भाषा केवल दादी की वाणी नहीं, बल्कि एक पूरी पीढ़ी का मनोविज्ञान है जो नए ज़माने की चाल से खुद को अलग पाती है, पर अपनी बात पूरी मुखरता से कहती है।

लेखिका की भाषा कहीं ठिठोली करती है, कहीं शिकायत करती है, और कहीं भीतर की पीड़ा को हल्के-फुल्के ढंग से कह जाती है। उसमें बनाव नहीं, बल्कि अनुभव की गहराई

है। यह भाषा स्त्री जीवन के छोटे-छोटे प्रसंगों को बड़ी सामाजिक दृष्टि के साथ जोड़ती है और आत्मकथा को सिर्फ आत्म का आख्यान नहीं, बल्कि समय और परिवेश का आईना बना देती है।

5.2.v. एक कहानी यह भी — मन्नू भंडारी

♦ "लिखने का आधार बनाने के लिए जिन्दगी के टूटे-बिखरे और खोए सूत्रों को समेटने की प्रक्रिया में जाने क्यों अपने माली की एक बात याद आई। बिना स्थान, साधन-सुविधा और जानकारी के महज़ शौक़ के चलते मैंने अपने घर में थोड़े-से गमले लगा रखे थे और मुझे उनसे बहुत लगाव था। एक दिन देखा कि बिना मौसम और प्रत्यक्ष कारण के एक गमले की ढेर सारी पत्तियाँ झड़ गईं और दो-तीन दिन में ही वह पौधा चन्द पत्तियों के साथ टहनियों का एक झुंड-भर रह गया- मात्र ठूंठ, कुछ-कुछ मेरी ही तरह। माली ने देखा तो बड़ी बेरहमी से बची-खुची पत्तियों को भी नोच फेंका। मेरे मुँह से निकले "अरे-अरे" को सुनकर बड़ी सहजता से उसने अपनी भाषा में कहा, "इन पत्तियों को तो अब झड़ना ही होगा, इनसे मोह रखकर अब काम नहीं चलेगा, क्योंकि ये अब जान नहीं देनेवाली इस पौधे को... अब तो जड़ को देखना होगा," और उसने गमले की मिट्टी उलट दी। गमले की निचली गहराई से निकला जड़ों का गुच्छा... मिट्टी में लिथड़े, एक-दूसरे से उलझे अनेक रेशे। जो रेशे सड़े-गले थे और जिन्होंने पौधे की जीवनी-शक्ति को कुन्द कर दिया था, उन्हें बड़ी निर्ममता से उसने तोड़ फेंका। जो स्वस्थ थे, उन्हें साफ़ करकेसहेजा-सँवारा, इन्हीं से अब पौधा रस ग्रहण करेगा, फलेगा-फूलेगा-वह पूरी तरह आश्वस्त था। तो क्या अपने को पुनर्जीवित करने के लिए मैं भी अपनी जड़ों की ओर लौटू, सारे सड़े-गले रेशों को उखाड़कर, उन रेशों को देखें-परखूँ, सहेजें-सँवारूँ, जिनकी जीवनी-शक्ति ही मुझे यहाँ तक लाई?" पृष्ठ संख्या 14-15

मन्नू भंडारी की आत्मकथा 'एक कहानी यह भी' की भाषा आत्मसंवादात्मक, प्रतीकात्मक

और भावबोध से परिपूर्ण है। प्रस्तुत गद्यांश में लेखिका जीवन के टूटे-बिखरे अनुभवों को समेटते हुए माली की एक सहज बात को जीवन का गूढ़ रूपक बना देती हैं। एक पौधे की झड़ती पत्तियाँ लेखिका के आंतरिक क्षरण और रिक्तता का प्रतीक बन जाती हैं। माली का कथन—"इन पत्तियों को तो अब झड़ना ही होगा..."—जीवन की उन स्मृतियों, संबंधों और अनुभवों को छोड़ने की ओर संकेत करता है, जो अब जीवनी-शक्ति नहीं देते।

मन्नू भंडारी की भाषा में भावनात्मक गहराई के साथ-साथ विचारशीलता भी है। यह भाषा आत्मकथात्मक होते हुए भी किसी आत्ममुग्धता में नहीं बहती, बल्कि आत्मपुनर्निर्माण की प्रक्रिया को दर्शाती है। उनकी शैली में संयम है, सजगता है और प्रतीकों के माध्यम से जटिल अनुभूतियों को सरलता से व्यक्त करने की कला भी। यह भाषा अनुभवों की पीड़ा को आत्मदृष्टि में बदल देती है।

मन्नू भंडारी की आत्मकथा 'एक कहानी यह भी' की भाषा उनके विविध जीवनानुभवों, सामाजिक-सांस्कृतिक परिवेश और स्त्री अस्मिता के बहुपरतीय संघर्ष को समेटे हुए है। इसमें उर्दू-फ़ारसी-अरबी, अंग्रेज़ी और देशज शब्दों का प्रयोग लेखिका की भाषिक सजगता और यथार्थबोध को प्रकट करता है।

उर्दू-फ़ारसी शब्द जैसे क़ुबूल, अफ़वाहें, फ़लसफ़ा, मशक्कत, नज़रिया, इज्ज़त-आबरू का ख़्याल, दक़ियानूसी आदि भाषा में भावनात्मकता, सामाजिक चेतना और विचारात्मक गहराई लाते हैं। वहीं अंग्रेज़ी शब्द— कॉलेज, करियर, यूनिवर्सिटी, पर्स, स्क्रिप्ट, टाइमटेबल, स्टाफ रूम, टैक्सी— लेखिका के आधुनिक शहरी जीवन, शैक्षिक पृष्ठभूमि और स्त्री की बदलती पहचान का परिचायक हैं। साथ ही, देशज शब्दावली— घुन्नाघट्ट, पकड़म-पकड़ाई, गिल्ली-डंडा, उड़लना, अगड़म-बगड़म—बचपन, लोकजीवन और स्मृति के उन हिस्सों को रेखांकित करती है जहाँ जीवन सहजता और व्यंग्य के रंगों से भरा था। मन्नू भंडारी की यह भाषिक विविधता आत्मकथा को जीवंत, विश्वसनीय और बहुस्वरीय बनाती है।

5.2.vi. कुछ कही कुछ अनकही — शीला झुनझुनवाला

♦ "छोटे बर्तन में नदी नहीं उड़ेली जा सकती।" पृष्ठ संख्या 22

♦ "मनुष्य जीवन परीक्षा परिणाम से कहीं अधिक मूल्यवान है।" पृष्ठ संख्या 23

शीला झुनझुनवाला की आत्मकथा 'कुछ कही कुछ अनकही' की भाषा आत्मीय, सरल और सांस्कृतिक मूल्यों से जुड़ी हुई है। प्रस्तुत अंशों में उनकी भाषा न केवल जीवन अनुभवों को अभिव्यक्त करती है, बल्कि उसमें जीवन-दर्शन, पारिवारिक संस्कार और भक्ति-भाव की गहरी छाया दिखाई देती है। "छोटे बर्तन में नदी नहीं उड़ेली जा सकती" जैसी कहावत प्रतीकात्मक रूप में व्यक्तित्व और पात्रता की गहराई को इंगित करती है। इसी प्रकार "मनुष्य जीवन परीक्षा परिणाम से कहीं अधिक मूल्यवान है" जैसे वाक्य नीतिपरक हैं और उनके विचारशील जीवन दृष्टिकोण को दर्शाते हैं।

शीला झुनझुनवाला की भाषा में कोई कृत्रिमता नहीं है; वह सीधी, परिपक्व और सांस्कृतिक रूप से गुँथी हुई है। इसमें घरेलू परिवेश, आत्मीय रिश्ते और जीवन के प्रति संतुलित दृष्टिकोण प्रतिबिंबित होते हैं। यह भाषा केवल आत्मकथ्य नहीं, बल्कि एक युग विशेष की स्त्री चेतना, उसकी सोच और उसके मूल्यबोध की सच्ची प्रस्तुति बन जाती है।

'कुछ कही कुछ अनकही' में शीला झुनझुनवाला की भाषा विविध भाषिक स्रोतों से संपन्न है। रेंज, थैंक्स, केयरटेकर, फिक्स जैसे अंग्रेज़ी शब्द आधुनिकता और शहरी परिवेश के प्रभाव को दर्शाते हैं। वहीं 'इत्ते दिन, नाहिं रुक सकते' जैसे देशज शब्द भाषा को आत्मीय, संवादात्मक और जीवंत बनाते हैं। इबारत, तख्त (फारसी) और तैश, इल्हायी (अरबी) जैसे शब्द लेखिका की सांस्कृतिक गहराई और भावाभिव्यक्ति को समृद्ध करते हैं। यह भाषिक विविधता न केवल उनके अनुभवों की व्यापकता को प्रकट करती है, बल्कि आत्मकथा को सहज, संप्रेषणीय और सजीव बना देती है।

5.2.vii. पिंजरे की मैना — चंद्र किरण सोनरेक्सा

♦ जाके पैर न फटी विवाई वो क्या जाने पीर पराई –पेज नंबर 6

♦ बड़ी बहू बड़े भाग छोटा दूल्हा बड़ा सुहाग –पेज नंबर 17

♦ देशज शब्द — खपरैल, कोठारी, पछोरती, तीन छटांक,दो पसेरी, ब्याह, छूछक, मंझले, कंडे, चौके–चूल्हे, कुल्ला, दातून, सवेरा, भोजाई, बालसखा, ब्यौत,आदि।

♦ अंग्रेजी शब्द— ब्लैकबोर्ड , स्पेशल, ट्रीटमेंट, शॉर्टकट, पिक्चर, ट्रिप, लाइब्रेरी, कॉन्ट्रैक्ट, आर्टिस्ट,ड्रामा प्रोड्यूसर, लाइव ब्रॉडकास्ट फोटोग्राफर, ऑफिस, रिकॉर्डिंग, कैजुअल, आदि।

♦ उर्दू-फारसी-अरबी शब्द — मुफ़्त, ख़बरदार, रिवाज़, राज़ी, अचकन, जेवर, पाखाना, फ़िज़ूल, कर्ज़ , मर्ज़ी, मंजूर, जुर्म, तख्ता, नवाबजादी, हुलिया, मुक्केबाज, मेहरबानी, बेतकल्लुफ, गुंजाइश, जिम्मेदारी, खामोश, रिश्वत क़ीमत, हुकुम, तबादला, शौक, तकलीफ, हामी, रजाई, ख़्याल, ज़िक्र, फ़िक्र, तहकीकात, गुसलखाना, खैर, फ़ौरन, आदि।

♦ संस्कृत शब्द —ज्वरग्रस्त, तेवर (तद्भव), अतिरिक्त,कृतज्ञतापूर्वक(तत्सम) इतवार(तद्भव), स्पष्ट, अकस्मात, क्रोध, हतबुध्दि, अप्रत्याशित, संध्या, अंधकार, विकल्प, चमत्कार, शक, कार्यक्रम, अनिवार्य आदि।

♦ पंजाबी शब्द —"त्वाडी कुड़ी बड़ी बदमाश हैगी! साडे मुंडे नू धिक्का दित्ताहै...मैं इस दियां टंगा तोडांगी..."

चंद्र किरण सोनरेक्सा की आत्मकथा 'पिंजरे की मैना' की भाषा विविध भाषिक रंगों और सामाजिक-सांस्कृतिक परतों से समृद्ध है। इसमें लोकभाषा, संस्कृतनिष्ठ शब्दावली, अंग्रेज़ी के आधुनिक शब्द, उर्दू-फ़ारसी के भावप्रवण शब्द और पंजाबी की प्रांतीयता—मिलकर आत्मकथा को बहुरंगी बनाते हैं। "जाके पैर न फटी विवाई...", "बड़ी बहू बड़े भाग..." जैसी लोकोक्तियाँ नारी जीवन के अनुभव-सत्य को गहरी लोक-संवेदना के साथ

प्रकट करती हैं। खपरैल, पछोरती, ब्याह, कंडे, भोजाई जैसे देशज शब्द ग्रामीण जीवन और स्त्री की घरेलू दुनिया को विश्वसनीयता प्रदान करते हैं। वहीं ब्लैकबोर्ड, ट्रीटमेंट, लाइव ब्रॉडकास्ट जैसे अंग्रेज़ी शब्द लेखिका के आधुनिक, शहरी और व्यावसायिक जीवन के आयाम खोलते हैं।

रिवाज़, जेवर, फ़िज़ूल, तबादला, जिम्मेदारी जैसे उर्दू-फ़ारसी शब्द भावों की कोमलता और सामाजिक ताने-बाने को अभिव्यक्त करते हैं, जबकि कृतज्ञतापूर्वक, स्पष्ट, संध्या, शक आदि संस्कृतनिष्ठ शब्द गद्य को वैचारिक गंभीरता प्रदान करते हैं। पंजाबी संवाद आत्मकथा को स्थानीयता और पारिवारिक तनावों की रंगत देते हैं। यह भाषिक विविधता 'पिंजरे की मैना' को केवल आत्मकथात्मक दस्तावेज नहीं रहने देती, बल्कि वह एक सामाजिक इतिहास, स्त्री अनुभव और भाषिक समन्वय का जीवंत उदाहरण बन जाती है।

5.2.viii. जमाने में हम — निर्मला जैन

♦ मुहावरा

'कंगाली में आटा गीला' पृष्ठ संख्या 77

'मजबूरी का नाम महात्मा गांधी' — पृष्ठ संख्या 98

'हम तो शेर की मांग में रहते हैं' — पृष्ठ संख्या 94

♦ अंग्रेजी शब्द– थ्रिल, हांट, लेट मी रिलीव, फिलर कॉम्प्लेक्स, मेडिटेशन यूथ फेस्टिवल, प्री मेडिकल, डिप्रेशन, अननोन, फैशनेबल, कॉलेज ट्रिप, अवेयरनेस, रेशनलाइज, हाऊ टू विन, फ्रेड्स एंड इनफ्लुएंस पीपुल, कल्चरलडिफरेंस, फैक्टरी, कैपेसिटी, वाइल्ड लाइफ, प्रैक्टिकल

♦ उर्दू– जुल्म, बेकसूर, बेमानी, धड़कन इत्यादि

♦ भाषा में काव्यात्मकता—

ज्यों की त्यों धर दीनी चंदेरिया

बचपन मुझे बरसात जैसा लगता का

'उठ जाग मुसाफ़िर भोर भई, अब रैन कहां जो सोवत है,

जो सोवत है सो खोवत है, जो जागत है सो पावर है।' पेज़ –17

'गुजर गई... वो क्या होता है?' मेरी बेसुधी ने पूछा — 'मर गई...'

'तो... मर जाना क्या होता है?'–पेज़ 15

निर्मला जैन की आत्मकथा 'जमाने में हम' की भाषा उनके जीवनानुभवों की सांस्कृतिक, वैचारिक और भावात्मक परतों को बहुत ही प्रभावशाली ढंग से प्रकट करती है। प्रस्तुत उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि लेखिका की भाषा बहुस्तरीय, संवादात्मक, व्यंग्यात्मक और कभी-कभी काव्यात्मक भी है। 'कंगाली में आटा गीला', 'मजबूरी का नाम महात्मा गांधी' जैसे मुहावरे समय और परिस्थिति की विडंबनात्मक स्थिति को व्यंग्य में ढाल देते हैं, वहीं 'हम तो शेर की मांग में रहते हैं' जैसे वाक्य आत्मबल और साहस का प्रतीक बनते हैं।

थ्रिल, डिप्रेशन, कॉलेज ट्रिप, प्रैक्टिकल, फैक्टरी, कल्चरल डिफरेंस जैसे अंग्रेजी शब्द लेखिका के आधुनिक शिक्षित, प्रगतिशील अनुभवों को व्यक्त करते हैं। जुल्म, बेकसूर, धड़कन जैसे उर्दू शब्द भाषा को भावप्रधान और मार्मिक बनाते हैं।

उनकी भाषा में काव्यात्मकता भी विद्यमान है—'ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया' और 'उठ जाग मुसाफ़िर भोर भई' जैसे पद्यांशों से जीवन की क्षणभंगुरता, चेतना और दार्शनिक दृष्टिकोण प्रकट होता है। 'गुज़र गई... मर जाना क्या होता है?' जैसे प्रश्न भाषा को दार्शनिक और संवेदनात्मक बनाते हैं, जो लेखिका की चिंतनशीलता और आत्ममंथन की प्रवृत्ति को दर्शाते हैं। कुल बात यह कि, 'जमाने में हम' की भाषा एक ओर जहां सामाजिक यथार्थ से टकराती है, वहीं दूसरी ओर वैयक्तिक भावनाओं और स्मृतियों को भी उदात्त सौंदर्य के साथ अभिव्यक्त करती है। यह भाषा आधुनिकता और परंपरा के संधिस्थल पर खड़ी, एक विवेकशील स्त्री की आत्मस्वर है।

5.2.ix. जो कहा नहीं गया — कुसुम अंसल

♦ "मेरे छोटे से मस्तिष्क में अनुभवों की तैरते करते हैं जमाती जा रही थी। एक उलझन के साथ दूसरी जुड़ रही थी कोमल से बचपन के नन्हे पलों के अनुभव बहुत बड़े थे और उनके संभालने का साली का भी मुझे नहीं आता था।" पृष्ठ संख्या 15-16

♦ "पता नहीं कब उठते थे, पर हम जब भी उठते उनके कमरे से आता उनका स्वर-

'उठ जाग मुसाफिर भोर भई, अब रैन कहाँ जो सोवत है, जो सोवतहै सो खोवत है, जो जागत है सो पावत है।" पृष्ठ 17

♦ "मेरी कविता की पुस्तकें चाव से पढ़ते-कभी वह मुझे वर्ड्सवर्थकी कविता –

My heart leaps up, when
l behold A rainbow in the sky
So was it when my days began
So it is I am a man
So it will be when I die.
Child is a father of man" पृष्ठ 22

♦ "मेरे अन्दर की युवती मुझसे श्वास-श्वास पूछती, 'मैं कौन हूँ?' धड़कन धड़कन पूछती, 'मैं कौन हूँ?' पर साकेत के बन्द परिवेश में मेरे सवाल कमरों की ठहरी हुई हवाओं में लटककर रह जाते, जैसे फाँसी पर लटका हुआ कोई मृत शरीर और एक भुतहा सन्नाटा वहाँ फैल जाता।" पृष्ठ 27

♦ "तराने के माध्यम से बाहर बहती ऊर्जा का जैसे रूपान्तरण हो जाता था और हमारी मनुष्यता मानो अपने भीतर लौटती थी, या शायद प्रयास करती थी, सामूहिक ऊर्जा में रूपायित होती हुई।

तराना—

यह मेरा चमन है यह मेरा चमन। मैं अपने चमन का बुल-बुल हूँ।।

सरशार निगाहें नरगिस हूँ। पाबस्तये गेसुये सुमबुल हूँ।।…

हर शहर तरब पर गरजेगा हर क़सरे तरब पर कड़केगा ।। यह अब्रहमेशा बरसा है यह अब्र हमेशा बरसेगा ।।

बरसेगा... बरसेगा" पृष्ठ 36- 37

♦ "वही स्त्रियाँ जो प्रगतिशील पुरुषों की मनोबल बनी थीं, उनके प्रगति के कष्टपूर्ण पथ पर सहयात्री बनी थीं-उन्हें असहजता के अंधकार में धकेलकर पुरुष, सोकॉल्ड ग्रेट मैन विजेता सा विश्व के रंगमंच पर आरोपित हो जाता है।" पृष्ठ 201

अंग्रेजी शब्द —थ्रिल, लेट मी रिलीव, नथिंगनेस, फिलर, मेडिटेशन, डिप्रेशन, हाऊ टू विन फ्रेड्स एंड इनफ्लुएंस पीपुल, कल्चरल, डिफरेंस, फैक्टरी, कैपेसिटी, वाइल्ड-लाइफ, प्रैक्टिकल, फैशनेबल, अननोन, अवेयरनेस, ट्रिप, यूथफेस्टिवल, वार एंड पीस, हॉबी रूम, सो कॉल्ड ग्रेट मैन, एब्नार्बल, इनडायरेक्टली, निगेटिव इमोशंस, हियरिंग ऐड, आदि।

कुसुम अंसल की आत्मकथा 'जो कहा नहीं गया' की भाषा अत्यंत आत्मपरक, भाव-संवेदनशील और वैचारिक रूप से समृद्ध है। इसमें एक स्त्री के मानसिक, बौद्धिक और भावनात्मक विकास की अनेक तहें भाषा के माध्यम से उद्घाटित होती हैं। प्रस्तुत अंशों में भाषा का वैविध्य स्पष्ट रूप से सामने आता है—जहाँ एक ओर लोकगीत "उठ जाग मुसाफिर भोर भई..." के माध्यम से स्मृति और संस्कार की गूंज सुनाई देती है, वहीं दूसरी ओर Wordsworth की कविता "My heart leaps up..." के उद्धरण में लेखिका का बौद्धिक और साहित्यिक वातावरण झलकता है।

लेखिका की भाषा विचार और संवेदना के बीच एक संतुलन बनाए रखती है। "मैं कौन हूँ?" जैसे प्रश्नों के माध्यम से लेखिका आत्मचेतना और अस्मिता की गहराई तक जाती हैं। "कमरों की ठहरी हुई हवाओं में लटककर रह जाते जैसे फाँसी पर लटका हुआ कोई मृत

शरीर''—यह रूपकात्मक भाषा स्त्री के दमन, घुटन और उसकी पहचानहीनता को गहराई से उकेरती है।

भाषा में अंग्रेज़ी शब्दों की प्रचुरता डिप्रेशन, प्रैक्टिकल, कल्चरल डिफरेंस, सो कॉल्ड ग्रेट मैन, एब्नार्मल, फैशनेबल, अवेयरनेस आदि—लेखिका के आधुनिक, वैश्विक और बौद्धिक संसार की परिचायक है। वहीं, "यह मेरा चमन है..." जैसे उर्दू तरानों के माध्यम से सामूहिक ऊर्जा और सांस्कृतिक समन्वय का चित्र रचती है। कुसुम अंसल की भाषा गद्य के भीतर कविता की संवेदना, दर्शन की गंभीरता और स्त्री अस्मिता की पुकार को आत्मीयता के साथ पिरोती है। यह भाषा केवल वर्णन नहीं करती, वह आत्मा की चुप्पी को स्वर देती है—वह जो कहा नहीं गया, उसे कहती है।

5.2.x. आरोह-अवरोह — सुषम बेदी

♦ "देखा जाए। राजनैतिक स्वाधीनता मिलने के बावजूद सांस्कृतिक औपनिवेशिकता से तो आज तक मुक्त हुए भी नहीं। बीच में ही डोलते रहते हैं या तो पक्के हिन्दुत्वा या फिर एकदम से नास्तिक, या तो एकदम हर धर्म-परम्परा का तिरस्कार, उसा निराकरण या एकदम अपनापा और हर तरह की प्राचीन परम्परा का महिमाग:जैसे कोई सन्तुलित या मध्यमार्ग तो है ही नहीं।" पृष्ठ 26

♦ "प्रेम के प्रति—

मैंने कहा था / प्रेमगीत कभी नहीं लिखूंगी/ प्रेम भ्रम है/ मुझे सच को पकड़ना है।

प्रेम हवा है/ मुझे धरती पर जीना है।" पृष्ठ 92

♦ "रिश्ते—

जितनी जगह दो उतना ही फैलते हैं,/ फूटते हैं,/ पनपते हैं रिश्ते।

गमलों में कैद पौधे / दूर की उड़ान नहीं भर पाते।

मैदानों में, जंगलों में, खेतों में/फूटती हरियाली / अपने निर्बन्ध आलिंगन में
असीम कर देती है / रिश्ते " पृष्ठ 95

♦ "दूसरी ओर यह भी सच है कि यहां से जाकर भारत में जाते ही बाहरी रूप-रंग और भाषा या रिश्तेदारी की वजह से अपनापन एकदम से मिल जाता है।हमारा अमेरिका-इंगलैंड से जुड़ा होना भारत में बसे लोगों का हमारे प्रति कौतुहल भी जगाता है। उनका हमसे जुड़ना एक तरह से एक बड़ी दुनिया से दुनिया के केन्द्र से जुड़ने-जानने की कही या अनकही चाह होती है।" पृष्ठ 25-26

♦ "सच को पकड़ने की कोशिश ही गलत है। अपने आदर्श यानी कि ज्यों-के-त्यों रूप में सत्य जितना भी आकर्षक हो, ज्यों ही अपने यथार्थ या व्यवहार रूप में प्रगट होता है, कुछ और हो जाता है।" पृष्ठ 213

सुषम बेदी की आत्मकथात्मक कृति 'आरोह-अवरोह' की भाषा विचारप्रधान, चिंतनशील और अनुभवसंपृक्त है, जिसमें प्रवासी जीवन की जटिलताओं, द्वंद्वों और सांस्कृतिक उलझनों को अत्यंत संतुलित रूप में अभिव्यक्त किया गया है। प्रस्तुत अंशों से स्पष्ट है कि लेखिका की भाषा में दार्शनिक गहराई और बौद्धिक मंथन के साथ-साथ भावनात्मक सघनता भी मौजूद है।

"प्रेम भ्रम है/ मुझे सच को पकड़ना है" जैसे पंक्तियाँ न केवल लेखिका की जीवन-दृष्टि को उद्घाटित करती हैं, बल्कि उनकी आत्मविश्लेषी भाषा का प्रमाण भी देती हैं। वे संबंधों, पहचान और सामाजिक संरचनाओं पर गहरी अंतर्दृष्टि के साथ विचार करती हैं। "रिश्ते गमलों में कैद पौधे हैं" जैसी रूपकात्मक अभिव्यक्ति भाषा को काव्यात्मक और प्रतीकात्मक बनाती है, जो एक ओर संवेदना को छूती है तो दूसरी ओर वैचारिक स्पेस देती है।

उनकी भाषा में प्रवासी अनुभवों का द्वंद्व गहराई से व्यक्त होता है—"भारत में अपनापन... अमेरिका से जुड़ाव... कौतूहल"—यह सब सांस्कृतिक आत्मविमर्श का हिस्सा

बन जाता है। साथ ही, "सच को पकड़ने की कोशिश ही गलत है..." जैसी पंक्तियाँ जीवन और आदर्श के बीच की दूरी को गहन विवेक के साथ भाषा में रूपायित करती हैं। सुषम बेदी की भाषा सरल होते हुए भी बौद्धिक, आत्ममंथनशील और बहुआयामी है। यह भाषा केवल आत्मकथा नहीं कहती, बल्कि सामाजिक विमर्श, स्त्री अस्मिता और प्रवासी चेतना का संवेदनशील दस्तावेज बनती है।

5.2.xi. लगता नहीं दिल मेरा — कृष्णा अग्निहोत्री

♦ "मैं कृष्णा अग्निहोत्री वल्द रामचन्द्र तिवारी गीता की कसम खाकर कहती हूँ कि जो कहूंगी, सच कहूंगी। कचहरी में तो व्यक्ति कठघरे में खड़ा कसम खाकर झूठ बोल जाता है, परंतु आत्मा का कठघरा बड़ा तीखा है, वहां व्यक्ति अपरिवर्तित रहता है, और मैं भी दिन-रात कभी-कभार मुखौटे लगाने के बावजूद अपनी आत्मा के तईं निर्वस्त्र ही रहूंगी।" पृष्ठ 9

♦ "स्टॉफ के कुछ लोग मेरे घर के नीचे बैठकर मेरा मजाक बनाते, 'भाई, होगी बिगड़ैल। तभी तो इतने आदमियों के बीच नौकरी करने आई है। अरे भाई हमें अपना समझो, घर बैठकर खाओ न, तुम्हें नौकरी करने की क्या आवश्यकता है।" पृष्ठ 203

♦ "कैसा समाज है यह? लड़कियां कितनी भारी हैं यहां मां-बाप को? वे बस उन्हें ब्याहना चाहते हैं, चाहे जो हो? पृष्ठ 212

♦ "वहां से हटी तो शोषण के कठोर चक्रव्यूह से निकलते-निकलते मैं बेहाल हो गई। जो भी पुरुष आया, उसने शरीर पर पहले दृष्टि डाली, मदद नहीं दी। अपने तन को बचाते-बचाते मैं थक गई। तन शुद्ध-मन आहत ।" पृष्ठ 289

♦ "जिस स्त्री ने तप्त रेत का अनुभव किया था, उसे खजूर की छांव कब शीतल कर सकती थी?" पृष्ठ 187

♦ "अन्यथा वेदना के बवंडर में फंसी तड़पती मेरी औरत उनकी दया की पात्र ही बनती। उन्होंने मुझे सताने की प्रत्येक कांटेदार स्थिति बना दी।" पृष्ठ 28-29

कृष्णा अग्निहोत्री की आत्मकथा 'लगता नहीं दिल मेरा' की भाषा अत्यंत आत्ममंथनशील, संप्रेषणीय और स्त्री-जीवन के कटु यथार्थ को बेबाकी से उजागर करने वाली है। लेखिका ने अपने अनुभवों को नाटकीयता या अलंकरण से नहीं, बल्कि तीखी ईमानदारी और संवेदनशील अभिव्यक्ति से प्रस्तुत किया है।

"कचहरी में झूठ बोल सकते हैं, पर आत्मा के कठघरे में नहीं"—यह वाक्य लेखिका की भाषा की ईमानदारी और आत्मस्वीकृति की गंभीरता को रेखांकित करता है। इसी तरह "तन शुद्ध-मन आहत", "वेदना के बवंडर में फंसी मेरी औरत", "तप्त रेत का अनुभव" जैसी अभिव्यक्तियाँ उनके जीवन के घावों को प्रतीकों और गहन भावबोध के साथ चित्रित करती हैं।

उनकी भाषा में सामाजिक विडंबना, पितृसत्तात्मक मानसिकता और स्त्री की अस्मिता की त्रासदी बार-बार उभरती है—"अरे भाई हमें अपना समझो, घर बैठकर खाओ न...", "कैसा समाज है यह?" जैसे वाक्य स्त्री के आत्मनिर्णय के अधिकार और पुरुष-सत्तात्मक दृष्टि के बीच संघर्ष को बयां करते हैं। इस आत्मकथा की भाषा साहसी और मुखर है—कभी-कभी व्यंग्यात्मक, तो कभी रुदनशील। पर हर बार वह अपनी देह और आत्मा पर हुए अनुभवों को निर्भीकता से अभिव्यक्त करती है। यह भाषा न सिर्फ लेखिका की आत्मगाथा है, बल्कि हर उस स्त्री की वाणी है, जो मुखौटों के समाज में निर्वस्त्र सत्य बोलने का साहस करती है।

5.2.xii. और और औरत — कृष्णा अग्निहोत्री

♦ "मैंने तो बस वही सब लिखना चाहा जो मेरी व्यथा है, जो भीतर से मुझे शनैः-शनैः समाप्त करना चाहती रही। किसी फैशन या प्रसिद्धि के लिए नहीं लिखी।" पृष्ठ 11

♦ "अत्याचार के छोटे से तंत्र को तोड़ने में अग्रणी उत्पीड़ित स्त्री को देख जलने लगती है। हाथ में बंदूक हो तो दो गोली चला भी सकती है। जीवन में आनंद आता है, वह उसे भोग नहीं पाती। यदि स्त्रियां कारणवश शील तोड़ती हैं तो मुझे बुरा नहीं लगता। उसके समर्थन में मैं तनी रहूंगी। कोई भी पुरुष मुझसे सौदा करके, मुझे नहीं पा सका। इसका मुझे नाज तो है लेकिन उच्छंखलता या व्यभिचार मेरी दृष्टि में गलत होते हैं, प्यार अलग अनुभूति है।" पृष्ठ 10- 11

♦ "प्यार का गहरा विश्वास ही नारी को पुरुष के प्रति समर्पित करता है। न मुझे किसी की प्रतीला थी न पत्यर में फूल खिलने की कोई उम्मीद थी। न अंधेरे दालान में पूप के आने की संभावना इसलिए में अनेकों रिश्तों के खालीपन में डूबी निराशा की चहानों में व्बीयदा-कदा प्रताप से बात करके खुश हो जाती।" पृष्ठ 78

♦ मैंने आत्मकथा प्रशंसा पाने हेतु नहीं लिखी। वहां मेरे चौतरफा लड़ाई भी है। क्या ये सत्र जो मुझ पर बीता था, सब पर विभिन्न रंगों से बीता? घिसी-पिटी मान्यताओं में न जीकर नए स्वर छेड़ने के लिए है न साहित्य? लेकिन स्वयं के जीवन को क्यों काल्पनिक रंगों में गूंथ प्रसिद्धि के जाम पीने की चेष्टा हो। जीवन जीने की घिसी-पिटी मान्यताएं समयानुसार अपने आप परिवर्तित हो जाती हैं पर मानवीय संवेदनाएं, कष्ट, उसके प्रति दुलार का शाश्वत सत्य एक ही होता है।" पृष्ठ 144

♦ "जब स्त्री-पुरुष के सच्चे संबंधों का खुलासा एवं उनके दोष हमारे किसी अनुभव के निचोड़ हैं तो उसके कसैलेपन को तो समझें।" पृष्ठ 159

♦ "आत्मकथा मात्र ऐसे सुखद, रोमांटिक, सेक्सी किस्मों की किस्सोगोई तो नहीं। रोजमर्रा की लड़ाई भी तो जीवट कर्म है। लंगड़ेपन में नीचे न बैठ पाने पर झाड़, पोंछा, वर्तन, खाना सब हैंडल करने के बाद लेखन कोई आनंद की स्थिति तो नहीं।" पृष्ठ 160

कृष्णा अग्निहोत्री की आत्मकथा 'और और औरत' की भाषा भीतर के घावों की अनगूंज है—सीधी, तीखी, विद्रोही और अनुभव की गहराई से निकली हुई। यह भाषा

आत्मकथात्मक गद्य का वह रूप है जो न आत्मदया में डूबता है, न प्रशंसा की लालसा में झुकता है, बल्कि स्त्री जीवन के कटु यथार्थ को निर्भीकता और आत्मगौरव के साथ कहता है। "मैंने तो बस वही सब लिखना चाहा जो मेरी व्यथा है..." जैसे कथन से भाषा की आत्मसत्यता सामने आती है। लेखिका भावुकता या अलंकरण से बचती हैं; उनका गद्य अनुभवजन्य, यथार्थधर्मी और प्रतिरोध से भरा है। वह प्यार, समर्पण, शील, व्यभिचार जैसे स्त्री-जीवन के गहरे सवालों को भावनात्मक नहीं, वैचारिक स्तर पर टटोलती हैं और कहती हैं, "कोई भी पुरुष मुझसे सौदा करके, मुझे नहीं पा सका।" यह भाषा स्त्री स्वाभिमान की घोषणा है।

उनकी शैली आरोप-प्रत्यारोप से परे जाकर व्यक्तिगत अनुभवों के सहारे सामाजिक संरचनाओं को प्रश्नांकित करती है। "आत्मकथा मात्र ऐसे सुखद, रोमांटिक, सेक्सी किस्मों की किस्सागोई तो नहीं..."—इस कथन में वह आत्मकथा लेखन के उस स्त्री-दृष्टिकोण की मांग करती हैं जो संघर्ष, परिश्रम और मानसिक द्वंद्वों की ईमानदार अभिव्यक्ति हो। कृष्णा अग्निहोत्री की भाषा न तो साहित्यिक मानकों को खुश करने के लिए सजती है, न आत्मगौरव के लिए मुखौटे पहनती है। वह लिखती हैं—"मैं तनी रहूंगी", और यही उनका भाषिक स्वर है: सच को तनी हुई रीढ़ से कहने का साहस। उनकी भाषा स्त्री होने के भार, विवशता और विद्रोह की साक्षात घोषणा है—मौन नहीं, स्वर।

अंततः हम कह सकते हैं कि स्त्री आत्मकथाएँ केवल जीवन-यात्राओं का विवरण भर नहीं होतीं, बल्कि वे भाषा के स्तर पर भी गहन अर्थों और विमर्शों को सामने लाती हैं। विश्लेषित आत्मकथाओं—प्रभा खेतान की 'अन्या से अनन्या', मन्नू भंडारी की 'एक कहानी यह भी', कुसुम अंसल की 'जो कहा नहीं गया', कृष्णा अग्निहोत्री की 'लगता नहीं दिल मेरा' और 'और और औरत', सुषम बेदी की 'आरोह-अवरोह', ममता कालिया की 'कितने शहरों में कितनी बार', शीला झुनझुनवाला की 'कुछ कही कुछ अनकही' तथा चंद्र किरण

सोनरेक्सा की 'पिंजरे की मैना' जैसी कृतियों के भाषा-विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि स्त्री आत्मकथाओं की भाषा बहुस्तर, बहुभाषिक और वैचारिक रूप से समृद्ध होती है।

इन रचनाओं की भाषा संवेदनशील, आत्मपारदर्शी और वैयक्तिक अनुभवों की तीव्रता से समृद्ध है। इनमें लोकबोलियों, देशज शब्दों, मुहावरों, गीतों और भक्ति पदों का प्रयोग न केवल भाषा को जीवंत बनाता है, बल्कि स्त्री की सांस्कृतिक जड़ों और सामुदायिक चेतना को भी उद्घाटित करता है। उदाहरणतः, प्रभा खेतान, ममता कालिया और चंद्र किरण सोनरेक्सा की रचनाओं में लोक-भाषिक ठाठ और बोलियों का गाढ़ा रंग दिखता है।

साथ ही, आधुनिकता और वैश्विकता के प्रभाव में अंग्रेज़ी शब्दों, अवधारणाओं और बौद्धिक संदर्भों का भी प्रयोग व्यापक रूप से होता है—जैसे 'इमोशनली हंब्ड', 'क्रिएटिवली चैलेंज्ड', 'यूथ फेस्टिवल', 'डिप्रेशन', 'सो कॉल्ड ग्रेट मैन' इत्यादि। यह प्रवृत्ति सुषम बेदी, कुसुम अंसल और कृष्णा अग्निहोत्री की आत्मकथाओं में विशेष रूप से देखी जा सकती है, जो भारतीय और प्रवासी स्त्री जीवन के द्वंद्वों को प्रकट करती हैं।

भाषा की एक अन्य विशेषता इसकी तीव्र आत्मस्वीकृतिपरकता और विद्रोही स्वर है। लेखिकाएँ समाज की रूढ़ छवियों, पुरुष-सत्तात्मक दृष्टियों और शोषणकारी तंत्रों के विरुद्ध अपनी पीड़ा, प्रतिरोध और चेतना को निर्भीक भाषा में व्यक्त करती हैं। "तन शुद्ध-मन आहत", "मैं तनी रहूंगी", "फांसी पर लटकता हुआ सन्नाटा" जैसे वाक्य स्त्री संवेदना की गहराई को उद्घाटित करते हैं।

इन आत्मकथाओं की भाषा में उर्दू, फारसी, अरबी, संस्कृत और पंजाबी शब्दों का संयोजन भी दृष्टिगोचर होता है, जो न केवल सांस्कृतिक बहुलता को दर्शाता है, बल्कि भाषा के स्तर पर स्त्री लेखन को एक समावेशी, व्यापक और बहुपरतीय संरचना प्रदान करता है। निष्कर्षतः स्त्री आत्मकथाओं की भाषा एक बहुभाषिक, आत्मबोधमयी और विमर्शात्मक उपस्थिति है, जो स्त्री के सामाजिक, सांस्कृतिक, मानसिक और आत्मिक संघर्षों को स्वाभाविकता, विद्रोह और सौंदर्य के साथ प्रस्तुत करती है। यह भाषा केवल कहती नहीं,

जीती है—कभी रोती है, कभी चिल्लाती है, और कभी चुप रहकर भी बहुत कुछ कह जाती है। स्त्री आत्मकथाओं की यही भाषिक सघनता उन्हें साहित्य के इतिहास में एक अनिवार्य और मौलिक स्थान प्रदान करती है।

संदर्भ :

1. जगदीश चतुर्वेदी, स्त्री साहित्येतिहास, अस्मिता और आत्मकथा, पृष्ठ संख्या 397
2. वही, पृष्ठ संख्या 402
3. वही, पृष्ठ संख्या 405
4. वही, पृष्ठ संख्या 298
5. वही, पृष्ठ संख्या305
6. वही, पृष्ठ संख्या 395
7. कृष्णा अग्निहोत्री, और और औरत, पृष्ठ संख्या 114
8. कुसुम अंसल, जो कहा नहीं गया, पृष्ठ संख्या 81-82

उपसंहार

साहित्य और कलाएँ मानव सभ्यता की आदि सहयात्री रही हैं। ये न केवल मनुष्य की प्रारंभिक अवस्थाओं की साक्षी हैं, बल्कि उसके विकास, संघर्ष, परिवर्तन और चिंतन की पूरी यात्रा को भी आत्मसात किए हुए हैं। साहित्य और कलाओं को यह भली-भाँति ज्ञात है कि मनुष्य कहाँ से चला था और आज वह किस दिशा में बढ़ रहा है। यह यात्रा केवल भौतिक नहीं, बल्कि आत्मिक और सांस्कृतिक भी है—जिसमें मानव जाति के आदर्श, मूल्य, आकांक्षाएँ और चिंताएँ निरंतर रूपांतरित होती रही हैं।

साहित्य इसी परिवर्तनशील प्रक्रिया की संवेदनशील पड़ताल करता है और युग-यथार्थ के साथ संवाद करता है। यही कारण है कि साहित्य महज मनोरंजन या कल्पना का उपकरण न रहकर मानवीय चेतना का संवाहक बन गया है। वह समय की रेखा पर चलते हुए समाज की स्थिति और उसकी संभावनाओं की शिनाख्त करता है। साहित्य चाहे गद्य हो, पद्य हो या फिर दोनों का समन्वय—उसने कभी अपने सरोकारों की पतवार नहीं छोड़ी। यह उसकी सामाजिक प्रतिबद्धता ही है कि वह मनुष्य के अंतस को स्पर्श करता है, उसकी पीड़ा, आकांक्षा और संघर्ष को स्वर देता है और कभी प्रश्न बनकर तो कभी उत्तर बनकर समाज में अपनी उपस्थिति दर्ज करता है। इस नाते साहित्य केवल सृजन नहीं, बल्कि मानवीयता का सजीव दस्तावेज है—जो हमें यह समझने में सहायक होता है कि हम क्या थे, क्या हैं और क्या हो सकते हैं।

इसी नाते; साहित्य, समाज और संस्कृति का संबंध गहराई से जुड़ा हुआ है जहाँ एक का प्रभाव दूसरे पर अनिवार्य रूप से पड़ता है। यह एक सतत और परस्पर क्रियाशील प्रक्रिया है जो मनुष्य के व्यक्तित्व, उसके चिंतन और व्यवहार की परतों को उजागर करती है। साहित्य केवल शब्दों का संयोजन नहीं, बल्कि वह संवेदना है जो समाज के भीतर धड़कती है। यह कहना गलत न होगा कि साहित्य का यथार्थ तात्कालिक घटनाओं का नहीं, बल्कि

दीर्घकालिक अनुभवों और मानवीय मूल्यों का दर्पण होता है। जब समाज अपने नैतिक आदर्शों और सांस्कृतिक पहचान से दूर होने लगता है, तब साहित्य एक सचेत प्रहरी की भांति उसे उसकी मूल चेतना की ओर लौटने की प्रेरणा देता है।

साहित्य केवल सौंदर्यबोध की चीज़ नहीं है, वह सामाजिक चेतना का वाहक भी है। एक ऐसी रचना जो समाज में व्याप्त मानव संघर्ष, पीड़ा, विडंबना या विरोधाभास को व्यक्त नहीं कर पाती, वह केवल मनोरंजन का साधन रह जाती है, न कि किसी गहरे उद्देश्य का वाहक। इस दृष्टि से साहित्य, समाज की ज़िम्मेदारियों को ग्रहण करता है, उन्हें प्रकट करता है और कभी-कभी उनसे टकराता भी है—इसलिए वह केवल रचना नहीं, एक सामाजिक हस्तक्षेप भी होता है।

साहित्य मानवीय अनुभवों की सजीव और सहज अभिव्यक्ति के साथ-साथ संप्रेषण की शक्ति से भी समृद्ध होता है। जैसे मानव जीवन अनेक रूपों, विचारों और भावनाओं से युक्त होता है, वैसे ही साहित्य भी अपनी विविधता में उसे अभिव्यक्त करता है। यह विविधता केवल विषयवस्तु तक सीमित नहीं रहती, बल्कि प्रस्तुति के रूप में भी अनेक विधाओं में विकसित होती है।

हिंदी साहित्य ने कालक्रम में अपनी परंपरा को सहेजते हुए आधुनिक सामाजिक, सांस्कृतिक और बौद्धिक संदर्भों के साथ अपने स्वरूप का विस्तार किया है। यही कारण है कि आज साहित्य केवल कविता या कहानी तक सीमित नहीं है, बल्कि वह आत्मकथा, संस्मरण, जीवनी, रेखाचित्र, डायरी लेखन, रिपोर्ताज, पुस्तक समीक्षा, व्यंग्य, विज्ञान कथा, व्याख्यान, पत्र लेखन, साक्षात्कार, संपादकीय, अनुवाद आदि जैसी विधाओं को आत्मसात करता हुआ अधिक समृद्ध और बहुआयामी होता जा रहा है। इन विधाओं के माध्यम से साहित्य न केवल समाज के विविध अनुभवों को संजोता है, बल्कि विचार और संवेदना के नए क्षितिज भी खोलता है। यह विस्तार और बहुलता ही हिंदी साहित्य को अधिक जीवंत, समकालीन और

संवादधर्मी बनाते हैं। साहित्य अब केवल सौंदर्यबोध का माध्यम नहीं, बल्कि बौद्धिक विमर्श, सामाजिक चेतना और आत्म-प्रकाशन का सशक्त उपकरण भी बन गया है।

साहित्य की विभिन्न विधाओं में हिंदी साहित्य में आत्मकथा-साहित्य का एक विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण स्थान है। आज जब साहित्य विविध विधाओं और स्वरूपों में सृजनात्मकता के नए प्रतिमान रच रहा है, आत्मकथा एक ऐसी विधा के रूप में सामने आई है जो न केवल साहित्यिक सौंदर्यबोध को समाहित करती है, बल्कि उसमें जीवन की ठोस सच्चाइयों का गहन आत्मावलोकन भी होता है। लेखक अपनी आत्मकथा में न केवल अपने जीवन का बिंब प्रस्तुत करता है, बल्कि उसमें समय, समाज, राजनीति, संस्कृति और परिवेश की सक्रिय भागीदारी को भी उद्घाटित करता है। यह विधा एक भोगे हुए यथार्थ की पुनर्रचना है, जिसमें व्यक्ति की अंतर्दृष्टि और बाह्य अनुभव दोनों समवेत रूप से उपस्थित रहते हैं। इसी कारण आत्मकथा साहित्य के साथ-साथ समाज और व्यक्ति की भी गहरी पड़ताल करती है।

आत्मकथा केवल किसी जीवन की घटनाओं का क्रमिक लेखा-जोखा नहीं होती, बल्कि वह लेखक के व्यक्तित्व, चिंतन, भाव-बोध और आत्मविवेक का प्रतिबिंब होती है। इसमें लेखक अपने भीतर की दुनिया को, अपने मन के उतार-चढ़ाव, संघर्ष, मूल्यबोध, अनुभव और चिंतन को सहज रूप में अभिव्यक्त करता है। आत्मकथाकार जब अपने जीवन को शब्दों में ढालता है, तो वह केवल घटनाओं का उल्लेख भर नहीं करता, बल्कि उनके पीछे की भावभूमि और मनोदशा को भी सामने लाता है। यह आत्मनिरीक्षण की प्रक्रिया लेखक को अपने व्यक्तित्व के पुनरावलोकन का अवसर देती है।

आत्मकथाएँ किसी लेखक के संपूर्ण जीवन-दृष्टिकोण, साहित्यिक विकास और वैचारिक प्रवृत्तियों को समझने की एक विश्लेषणात्मक और प्रमाणिक कुंजी के रूप में कार्य करती हैं। ये केवल घटनाओं का वर्णन नहीं करतीं, बल्कि लेखक के अनुभव-संसार, मानसिक द्वंद्व, रचनात्मक प्रेरणाओं और सामाजिक सरोकारों का ऐसा अंतरंग रूप उद्घाटित करती हैं, जो अन्य किसी साहित्यिक विधा या माध्यम से संभव नहीं होता।

आत्मकथा के माध्यम से हम लेखक की वैयक्तिक पीड़ा, संघर्ष, संकल्प और परिवेश के प्रभाव को प्रत्यक्ष रूप में देख सकते हैं। यह आत्मकथ्य न केवल उस व्यक्ति की अंतरात्मा की गवाही होता है, बल्कि उसके समय और समाज की धड़कनों का भी साक्षी बनता है। जब आत्मकथा में प्रकट विचारधारात्मक रुझानों, नीतियों और मूल्यबोध की तुलना लेखक की अन्य रचनात्मक अभिव्यक्तियों—जैसे उपन्यास, कहानियाँ, निबंध या कविताओं—से की जाती है, तब उसके संपूर्ण साहित्यिक व्यक्तित्व का एक व्यापक और सुसंगत मूल्यांकन संभव होता है।

इस तरह आत्मकथा न केवल आत्मविश्लेषण की प्रक्रिया है, बल्कि वह साहित्यिक आलोचना और इतिहास लेखन के लिए भी एक मौलिक स्रोत बन जाती है। यह लेखक के भीतर और बाहर की दुनिया को जोड़ते हुए उसकी रचनाशीलता के मूल स्रोतों तक पहुँचने का सशक्त माध्यम है।

हिंदी आत्मकथा साहित्य की पृष्ठभूमि बहुस्तरीय सामाजिक, सांस्कृतिक और साहित्यिक प्रक्रियाओं से निर्मित हुई है। आत्मकथा, एक ऐसी विधा के रूप में उभरती है, जहाँ लेखक अपने जीवन का आत्मपक्ष उद्घाटित करता है। हिंदी में आत्मकथा लेखन की स्पष्ट परंपरा अपेक्षाकृत देर से विकसित हुई, जिसका प्रमुख कारण भारतीय समाज की सामूहिकता-प्रधान चेतना, आत्मप्रशंसा के प्रति संकोच और निजता के उद्घाटन से जुड़ी सांस्कृतिक झिझक रही है।

फिर भी, बनारसीदास द्वारा 17वीं शताब्दी में रचित अर्द्धकथानक को हिंदी का प्रारंभिक आत्मकथात्मक प्रयास माना जाता है। आधुनिक काल में महावीर प्रसाद द्विवेदी, भारतेंदु हरिश्चंद्र, शिवनाथ शास्त्री जैसे रचनाकारों ने आत्मकथात्मक लेखन के कुछ रूप प्रस्तुत किए, पर वे पूर्ण आत्मकथाएँ नहीं थीं। इस काल में आत्मकथा लेखन अधिकतर आत्मसंकोच, सामाजिक बंधनों और निजता की भावना से प्रभावित था। फिर भी, स्वतंत्रता आंदोलन और राष्ट्रवादी चेतना के प्रभाव में कुछ लेखकों ने आत्मकथात्मक अभिव्यक्ति के

माध्यम से सामाजिक व राजनीतिक अनुभवों को व्यक्त करना शुरू किया, जिससे इस विधा की नींव धीरे-धीरे मजबूत होने लगी।

स्वतंत्रता-पूर्व हिंदी आत्मकथा साहित्य में एक महत्वपूर्ण प्रस्थान बिंदु के रूप में 'हंस' पत्रिका के आत्मकथा-विशेषांक (1932) को विशेष रूप से रेखांकित किया जाता है। प्रेमचंद के संपादन में प्रकाशित इस विशेषांक ने आत्मकथा जैसी व्यक्तिवादी और आत्मकेंद्रित मानी जाने वाली विधा को सार्वजनिक विमर्श में स्थान दिलाया। इस विशेषांक के माध्यम से आत्मकथा लेखन को साहित्यिक गंभीरता और सामाजिक स्वीकृति प्राप्त हुई। 'हंस' के आत्मकथा-विशेषांक ने यह स्पष्ट किया कि आत्मकथा केवल आत्मप्रशंसा या आत्मरति नहीं, बल्कि एक सामाजिक और वैचारिक दस्तावेज भी हो सकती है। इसमें प्रकाशित रचनाओं ने व्यक्ति की अंतरात्मा के संघर्ष, सामाजिक विवशताओं और मनोवैज्ञानिक द्वंद्व को उजागर किया, जिससे यह विधा हिंदी साहित्य में एक संभावनाशील और विचारोत्तेजक विधा के रूप में स्थापित हुई।

स्वातंत्र्योत्तर काल में हिंदी आत्मकथा साहित्य का व्यापक विस्तार हुआ।स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भारतीय समाज में सामाजिक चेतना, वैचारिक स्वतंत्रता और व्यक्तिगत अभिव्यक्ति के क्षेत्र में एक नया उभार देखा गया। लोकतांत्रिक मूल्यों के प्रसार और अभिव्यक्ति की आज़ादी ने आत्मकथा जैसी व्यक्तिनिष्ठ साहित्यिक विधा को विशेष गति प्रदान की। इस कालखंड में आत्मकथा लेखन केवल आत्मवृत्त नहीं रहा, बल्कि वह समाज, राजनीति, संस्कृति और सत्ता संरचनाओं के विश्लेषण का माध्यम बन गया।

अब आत्मकथाकार अपने जीवन की घटनाओं के साथ-साथ अपने अनुभवों के सामाजिक और ऐतिहासिक संदर्भों को भी विश्लेषित करने लगे। स्वतंत्रता के बाद उभरे स्त्री-विमर्श, दलित चेतना, यौनिक अस्मिता, जातिगत भेदभाव और वंचनाओं की बहसों ने आत्मकथा को केवल आत्म-उद्घाटन न रहने देकर उसे प्रतिरोध और पहचान की लड़ाई का साहित्यिक औजार बना दिया। मन्नू भंडारी, प्रभा खेतान, रमणिका गुप्ता, शरणकुमार

लिंबाळे, ओमप्रकाश वाल्मीकि आदि लेखकों की आत्मकथाएँ इसी वैचारिक भूमि से उपजी हैं।

इस काल की आत्मकथाओं में लेखक अपने 'मैं' को सामाजिक यथार्थ के 'हम' से जोड़ता है। इस प्रक्रिया में आत्मकथा भारतीय समाज की विविधताओं, अंतर्विरोधों और संघर्षों की एक जटिल लेकिन प्रमाणिक तस्वीर प्रस्तुत करती है, जो उसे साहित्यिक ही नहीं, ऐतिहासिक दस्तावेज़ भी बनाती है।

इस सब के साथ, हिंदी आत्मकथाएँ हिंदी भाषी समाज की सांस्कृतिक पहचान के निर्माण और संरक्षण में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। इनमें भाषा, परंपरा, विरासत और सामाजिक ढाँचों की जटिलता को उजागर किया जाता है, जिससे पाठकों में अपनी सांस्कृतिक जड़ों के प्रति आत्मबोध उत्पन्न होता है।

आत्मकथा साहित्य की साहित्य-सीपी में 'स्त्री आत्मकथा' इस विधा का एक अत्यंत सशक्त और संवेदनशील रूप है। यह केवल किसी एक स्त्री की जीवनकथा नहीं होती, बल्कि सामाजिक संरचनाओं, लैंगिक असमानताओं और सांस्कृतिक पूर्वग्रहों की भी पड़ताल होती है। जब कोई स्त्री स्वयं अपनी कथा कहती है, तो वह मात्र स्मृतियों का समुच्चय नहीं, बल्कि अपने अस्तित्व की पुनःस्थापना का प्रयास करती है। समाज ने स्त्री की पहचान को हमेशा दूसरों की भूमिकाओं—पत्नी, माँ, बहू—के दायरे में बाँधने की कोशिश की है। ऐसे में आत्मकथा लिखना स्त्री के लिए आत्मबोध और आत्मसंघर्ष दोनों का माध्यम बनता है।

स्त्री विमर्श ने स्त्रियों को इस आत्मबोध के प्रति जागरूक किया है और आत्मकथा ने उन्हें एक ऐसा औजार प्रदान किया है जिसके माध्यम से वे न केवल स्वयं को अभिव्यक्त कर सकती हैं, बल्कि अपनी आवाज़ को समाज में सुनवाने का साहस भी जुटा पाती हैं। यह लेखन उनके 'स्व' की घोषणा है—एक ऐसी घोषणा जो न केवल साहित्य को समृद्ध करती है, बल्कि सामाजिक परिवर्तन की दिशा भी तय करती है।

स्त्री आत्मकथाओं के आरम्भ में विमर्श की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण रही है। स्त्री विमर्श ने जहाँ एक ओर स्त्री को अपने अस्तित्व, अधिकार और अस्मिता के प्रति सजग किया, वहीं दूसरी ओर उसे अपने अनुभवों को अभिव्यक्त करने का वैचारिक आधार भी प्रदान किया। पारंपरिक समाज में स्त्री की आवाज़ को दबाया गया, उसकी निजता और 'स्व' को महत्व नहीं दिया गया। ऐसे में स्त्री आत्मकथा केवल आत्माभिव्यक्ति का माध्यम नहीं, बल्कि सामाजिक रूढ़ियों, लैंगिक भेदभाव और सत्ता संरचनाओं के प्रतिरोध का सशक्त उपकरण बनकर उभरी।

विमर्श ने यह स्पष्ट किया कि स्त्री की चुप्पी भी एक राजनीतिक भाषा है और जब वह बोलती है, तो वह अपने साथ पूरे समाज की चुप्पी को भी तोड़ती है। स्त्री आत्मकथाओं के आरम्भ में यह विमर्श न केवल लेखन को वैचारिक बल देता है, बल्कि लेखिका को यह विश्वास भी प्रदान करता है कि उसकी व्यक्तिगत पीड़ा, संघर्ष और अनुभव एक सामूहिक सच का हिस्सा हैं। इस तरह स्त्री विमर्श आत्मकथा को केवल निजी आख्यान नहीं, बल्कि सामाजिक और सांस्कृतिक प्रतिरोध के दस्तावेज़ में रूपांतरित कर देता है।

स्त्री आत्मकथाएँ हिंदी साहित्य में केवल किसी स्त्री के जीवन की घटनाओं का विवरण भर नहीं होतीं, बल्कि वे समाज, संस्कृति और सत्ता-संरचना के विभिन्न स्तरों पर फैले अनुभवों की गहरी अभिव्यक्ति होती हैं। इन रचनाओं के भीतर अनेक विमर्श एक-दूसरे में उलझे हुए पाए जाते हैं, जिनसे स्त्री का अनुभव-संसार बहुआयामी रूप में सामने आता है।

स्त्री आत्मकथाओं में सामाजिक परिप्रेक्ष्य प्रमुख रूप से उभरता है, जहाँ स्त्री अपने चारों ओर व्याप्त पितृसत्तात्मक ढाँचों, पारिवारिक दायरों और समाज द्वारा निर्धारित भूमिका को प्रश्नांकित करती है। उसका जीवन सामाजिक अपेक्षाओं, रूढ़ मान्यताओं और भेदभाव से गहराई से प्रभावित होता है, जिसे आत्मकथा के माध्यम से वह स्वर देती है। इन आत्मकथाओं में नारीवादी चेतना भी स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। स्त्री जब अपने 'स्व' की तलाश करती है और उस अस्मिता को पहचानकर उसे अभिव्यक्त करती है, तो वह केवल

व्यक्तिगत अनुभव नहीं होता, बल्कि एक व्यापक सामाजिक विमर्श बन जाता है। अपनी भावनाओं, स्मृतियों और संघर्षों को शब्दों में पिरोते हुए वह उस मौन को तोड़ती है, जिसे समाज ने उस पर थोपा है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखें तो आत्मकथाएँ स्त्री के अंतर्मन की गहराइयों में प्रवेश करती हैं, जहाँ उसकी संकोच, ग्लानि, द्वंद्व और अकेलेपन की अनुभूतियाँ पिरोई होती हैं। स्त्री का आत्मसंघर्ष केवल बाहरी नहीं होता, बल्कि वह भीतर से भी अपनी पहचान को लेकर जूझती है। सांस्कृतिक संदर्भों में स्त्री आत्मकथाएँ परंपरा, रीति-नीति और सामाजिक प्रतीकों के साथ स्त्री की टकराहट और उसकी पुनर्व्याख्या को भी प्रस्तुत करती हैं। स्त्री अपनी भाषा, मुहावरे और अनुभवों से सांस्कृतिक ढाँचे में भी हस्तक्षेप करती है।

कई आत्मकथाएँ राजनीतिक चेतना से युक्त होती हैं, जहाँ स्त्री अपनी पीड़ा को सामाजिक अन्याय और सत्ता के संदर्भों से जोड़ती है। यहाँ उसका संघर्ष केवल निजी नहीं, सामूहिक और ऐतिहासिक होता है। विशेषकर दलित स्त्रियों की आत्मकथाओं में यह दृष्टिकोण तीव्र रूप से उभरता है, जहाँ जाति और लिंग दोनों प्रकार के शोषण की छवियाँ एक साथ उपस्थित होती हैं। इन सब परिप्रेक्ष्यों को समेटते हुए स्त्री आत्मकथाएँ एक ओर आत्माभिव्यक्ति का साधन बनती हैं, तो दूसरी ओर वे साहित्य और समाज को नई दृष्टि से देखने की चुनौती भी प्रस्तुत करती हैं।

इस के साथ ही, वैश्वीकरण ने स्त्री-लेखन की प्रवृत्तियों, विषय-वस्तु, भाषा और दृष्टिकोण को गहराई से प्रभावित किया है। वैश्वीकरण ने स्त्री-लेखन को नई चेतना, विषयवस्तु और दृष्टि प्रदान की है। अब स्त्री-लेखन केवल घरेलू अनुभवों तक सीमित न होकर वैश्विक संदर्भों—जैसे उपभोक्तावाद, यौनिकता, पहचान संकट, श्रम का बाज़ारीकरण और माइग्रेशन—से भी जुड़ता है। इस दौर की लेखिकाएँ अधिक मुखर, आत्मविश्वासी और राजनीतिक रूप से सजग हैं। उन्होंने समाज की पितृसत्तात्मक संरचना के साथ-साथ वैश्विक पूँजीवाद की आलोचना भी अपने लेखन में शामिल की है। भाषा और शैली में भी स्पष्टता

और वैचारिक गहराई आई है। अतः वैश्वीकरण ने स्त्री-लेखन को व्यापकता और नवीन विमर्श का आयाम प्रदान किया है।

हिंदी की समकालीन स्त्री आत्मकथाएँ केवल व्यक्तिगत स्मृतियों की पुनर्रचना नहीं, बल्कि एक सामाजिक और वैचारिक हस्तक्षेप का सशक्त माध्यम बन चुकी हैं। ये आत्मकथाएँ स्त्री अस्मिता, यौनिकता, सामाजिक प्रतिबंधों और मानसिक द्वंद्वों के बीच 'स्व' की तलाश का जीवंत दस्तावेज प्रस्तुत करती हैं। प्रभा खेतान की आत्मकथा 'अन्या से अनन्या' साहसिक भावबोध की मिसाल है, जिसमें वे स्त्री की यौनिक चेतना, भावनात्मक निर्भरता और आत्मसम्मान के बीच गहरे अंतर्विरोध को उघाड़ती हैं। वे स्पष्ट कहती हैं कि स्त्री की मुक्ति केवल सामाजिक ढांचों से नहीं, बल्कि आत्मिक और मानसिक गुलामी से भी होनी चाहिए।

इसी तरह; मन्नू भंडारी की एक कहानी यह भी लेखिका और पत्नी की भूमिकाओं के बीच झूलती स्त्री की त्रासदी को सामने लाती है। राजेन्द्र यादव से उनके संबंध लेखन की स्वतंत्रता, निजी पहचान और स्त्री-स्वायत्तता के बीच के तनाव को स्पष्ट करते हैं। मैत्रेयी पुष्पा की गुड़िया भीतर गुड़िया' 'कस्तूरी कुंडल बसे' ग्रामीण परिवेश, स्त्री श्रम, जातिगत विसंगतियों और भाषिक स्वाभिमान का अद्भुत समन्वय है, जहाँ आत्मकथा एक संघर्षशील स्त्री की जीवन-कथा से आगे बढ़कर सांस्कृतिक प्रतिरोध का औजार बन जाती है। कृष्णा अग्निहोत्री की 'लगता नहीं दिल' 'और और औरत' मेरा स्त्री के पारिवारिक उपेक्षा, सामाजिक अस्वीकार और आंतरिक टूटन को मार्मिकता के साथ अभिव्यक्त करती है। आत्महत्या जैसे चरम बिंदुओं पर पहुँचती चेतना के भीतर आत्मसंघर्ष और जिजीविषा दोनों को देखा जा सकता है।

ममता कालिया की 'कितने शहरों में कितनी बार' में एक शिक्षित स्त्री की बौद्धिक यात्राएँ, सामाजिक संपर्क, वैचारिक विमर्श और निजी अनुभवों का आत्मसंलाप स्त्री आत्मकथा को एक सघन सामाजिक पाठ में बदल देता है। सुषम बेदी आत्मकथा 'आरोह-

अवरोह' एक प्रवासी भारतीय स्त्री के आत्मसंघर्ष, सांस्कृतिक द्वंद्व और आत्मबोध की सूक्ष्म पड़ताल करती है। लेखिका अमेरिका में रहते हुए भारतीय पहचान, भाषा, परंपरा और स्त्री अस्मिता के बीच लगातार झूलती रहती हैं। यह आत्मकथा केवल भौगोलिक विस्थापन की नहीं, बल्कि मानसिक और सांस्कृतिक विस्थापन की भी कथा है। इसमें स्त्री का व्यक्तित्व सामाजिक दायरों से टकराते हुए अपनी स्वतंत्र पहचान गढ़ने की प्रक्रिया से गुजरता है, जो इसे विशेष बनाती है।

चंद्रकिरण सौनरेक्सा आत्मकथा 'पिंजरे की मैना' में एक स्त्री की पारिवारिक असमानताओं, मानसिक दमन और सामाजिक उपेक्षा के बीच उसकी चेतना की गूंज को आवाज़ देती हैं। यह कृति विवाह संस्था, स्त्री की भूमिका और घर की चारदीवारी में छिपे शोषण को मार्मिकता से उजागर करती है। लेखिका अपने अनुभवों के माध्यम से यह दर्शाती हैं कि कैसे स्त्री, आत्मसम्मान और अस्तित्व की तलाश में भीतर-ही-भीतर टूटती रहती है। यह आत्मकथा स्त्री के मौन प्रतिरोध और अंत:संघर्ष की सशक्त अभिव्यक्ति है।

शीला झुनझुनवाला की 'कुछ कही कुछ अनकही' और निर्मला जैन की 'जमाने में हम' महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं। ये आत्मकथाएँ मध्यवर्गीय स्त्रियों की पारिवारिक जकड़नों, सामाजिक अपेक्षाओं और व्यक्तिगत आकांक्षाओं के बीच एक आत्मसजग स्त्री की उपस्थिति को रेखांकित करती हैं। झुनझुनवाला की भाषा भावुकता से अधिक विवेकशील असहमति की भाषा है, वहीं निर्मला जैन का लेखन एक बौद्धिक, शालीन लेकिन आत्मविश्वासी स्त्री की छवि को प्रस्तुत करता है। कुसुम अंसल की आत्मकथा 'जो कहा नहीं गया' में आत्मसंघर्ष, आत्मसंदेह और सामाजिक अस्वीकार की पीड़ा के साथ-साथ आत्मस्वीकृति और स्त्रीत्व की गरिमा की खोज है। वे समाज द्वारा थोपी गई चुप्पियों को तोड़ने का साहस दिखाती हैं।

इन सभी रचनाओं में जो तंतु इन्हें आपस में जोड़ता है वह है — स्त्री का अपने 'स्व' की तलाश, अपनी अस्मिता की पुनर्रचना, और समाज से टकराने की अंतर्दृष्टि। ये

आत्मकथाएँ स्त्री-विमर्श को केवल सैद्धांतिक दायरे में सीमित नहीं रखतीं, बल्कि उसे जीवन-जागतिक अनुभवों की जमीन पर सार्थक बनाती हैं। इन लेखिकाओं ने आत्मकथा को एक नारीवादी प्रतिरोध के मंच के रूप में प्रयुक्त किया है, जहाँ व्यक्तिगत अनुभव दरअसल सामूहिक स्त्री यथार्थ की गूंज बन जाते हैं।

वस्तुतः हिंदी की स्त्री आत्मकथाएँ अपने समय, समाज और सत्ता-ढाँचों से गहरे संवाद में हैं। वे न केवल साहित्य की विधा का विस्तार करती हैं, बल्कि स्त्री विमर्श को ठोस वैचारिक और संवेदनात्मक आधार प्रदान करती हैं। इन आत्मकथाओं के माध्यम से हिंदी साहित्य में स्त्री का अनुभव, अब केवल दृष्टांत नहीं, बल्कि विमर्श का केंद्र बन गया है।

एक बात यह भी कि, स्त्री-आत्मकथाओं में निहित स्त्री-विमर्श की यह दिशा अब केवल पुरुष-वर्चस्व के विरोध तक सीमित नहीं रही, बल्कि उसने स्त्री के आत्मबोध, आत्म-निर्णय और आत्म-अधिकार को भी केंद्र में लाया है। इन आत्मकथाओं के माध्यम से स्त्री की आवाज़ अब हाशिये से उठकर विमर्श के केंद्र में आ गई है, जहाँ उसकी पीड़ा, चेतना और संघर्ष को न केवल सुना जा रहा है, बल्कि गंभीरता से विश्लेषित भी किया जा रहा है।

और, एक साहित्यिक विधा होने के नाते आत्मकथा में भाषा का विशेष महत्त्व रहता है, क्योंकि यह व्यक्ति के जीवन की कथा है तथा भाषा व्यक्तित्व का आईना होती है। भाषा से लेखक का भाषा कौशल, भाषा संस्कार, भाषा पर अधिकार, भाषा क्षेत्र सभी कुछ पता चलता है। व्यक्ति का घर-परिवेश, शिक्षा, उसकी व्यक्तिगत रुचियाँ सभी भाषा को प्रभावित करती हैं। भाषागत वैशिष्ट्य से व्यक्तिगत वैशिष्ट्य का पता बड़ी आसानी से लगाया जा सकता है।

जहाँ; साहित्य की अन्य विधाओं में कृत्रिम भाषा का प्रयोग किया जा सकता है तथा पात्रानुकूल शब्दचयन कर वास्तविकता से बचा जा सकता है वहीं आत्मकथा रचनाकार को ऐसी कोई छूट नहीं देती। जीवन की घटनाओं तथा परिस्थितियों का यथातथ्य चित्रण होने के कारण आत्मकथा की भाषा अकृत्रिम तथा जीवंत होती है। शब्द, मुहावरे, लोकोक्तियाँ

यहाँ तक कि गालियाँ भी, जो भी भाषा के अवयव व्यक्ति प्रयोग करता है वे उसके व्यक्तित्व के ही अवयव होते हैं। कहानी, कविता, उपन्यास आदि में भाषा पात्र की स्थिति के अनुसार परिवर्तित हो सकती है किंतु आत्मकथा में नहीं। आत्मकथा के माध्यम से हिंदी भाषा को नई शब्दावली, अभिव्यक्तियाँ और शैलीगत प्रयोग प्राप्त हुए हैं, जिनसे भाषा के विकास की गतिशील और जीवंतता बनाए रखने में सहायता मिली है।

वस्तुतः स्त्री आत्मकथाएँ केवल जीवन घटनाओं की दस्तावेज़ी अभिव्यक्ति नहीं, बल्कि भाषा के स्तर पर गहरे वैचारिक, सांस्कृतिक और भावनात्मक विमर्शों की सशक्त प्रस्तुति हैं। आत्मकथाएँ जब स्त्री दृष्टि से लिखी जाती हैं, तो उनकी भाषा महज़ संप्रेषण का माध्यम न रहकर आत्मानुभूति, विरोध और अस्मिता की खोज का औजार बन जाती है। इन रचनाओं में भाषा भाव की प्रामाणिकता, समाज-संरचना की आलोचना और निजी अनुभव की सूक्ष्मता को अभिव्यक्त करती है।

इन आत्मकथाओं में लोकभाषाओं और देशज प्रयोगों का विशेष स्थान है। ग्रामीण स्त्री के अनुभवों को जब लेखिकाएँ शब्द देती हैं, तो उनकी भाषा में अवधी, भोजपुरी, पंजाबी, मैथिली या अन्य बोली के शब्द स्वतः प्रवाहित हो जाते हैं। चंद्रकिरण सौनरेक्सा और ममता कालिया जैसे रचनाकारों के लेखन में यह 'लोकभाषिक ठाठ' न केवल यथार्थ की जीवंतता रचता है, बल्कि स्त्री की सांस्कृतिक जड़ों से उसका जुड़ाव भी दर्शाता है।

दूसरी ओर, वैश्वीकरण और आधुनिक शिक्षा का प्रभाव भी इन आत्मकथाओं की भाषा में स्पष्ट है। सुषम बेदी और कुसुम अंसल जैसी लेखिकाओं की आत्मकथाओं में अंग्रेज़ी शब्दों, वैचारिक पदों और अकादमिक अवधारणाओं का प्रयोग भाषा को बहुपरतीय बनाता है। स्त्री आत्मकथाओं की भाषा की एक अन्य उल्लेखनीय विशेषता उसका विद्रोही स्वर और आत्मस्वीकृतिपरकता है। ये लेखिकाएँ समाज की पितृसत्तात्मक रूढ़ियों और नैतिकताओं को चुनौती देती हुई भाषा को एक प्रतिरोधी उपकरण में बदल देती हैं।

निसंदेह ; स्त्री आत्मकथाओं की भाषा केवल अभिव्यक्ति का माध्यम नहीं, बल्कि संघर्ष, प्रतिरोध, स्मृति, पीड़ा और आत्म-रचना की प्रक्रिया का सजीव साक्ष्य है। यह भाषा केवल 'लिखी' नहीं जाती, वह स्त्री की चेतना में 'जीती' जाती है। कभी वह मौन में बोलती है, कभी विद्रोह में गरजती है, और कभी संवेदना में पिघल जाती है। यही भाषिक सघनता इन आत्मकथाओं को न केवल साहित्यिक रूप से समृद्ध बनाती है, बल्कि उन्हें हिंदी साहित्य के विमर्शात्मक इतिहास में एक अनिवार्य और मौलिक स्थान भी प्रदान करती है।

अंततः विवेचनोपरांत कहा जा सकता है कि हिंदी की स्त्री आत्मकथाएँ आधुनिक भारतीय साहित्य में केवल एक साहित्यिक विधा भर नहीं, बल्कि एक वैचारिक, सामाजिक और सांस्कृतिक हस्तक्षेप के रूप में स्थापित हुई हैं। ये आत्मकथाएँ स्त्री के निजी जीवन की परतों को खोलते हुए पितृसत्तात्मक समाज में उसके संघर्ष, अस्मिता और आत्मबोध को उजागर करती हैं। यह लेखन किसी स्त्री का आत्मवृत्त न होकर, उसकी चुप्पियों, पीड़ाओं और प्रतिरोधों का सार्वजनिक बयान है—ऐसा बयान जो ऐतिहासिक भी है और राजनैतिक भी।

स्त्री आत्मकथाओं की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ये स्त्री को केवल सहनशील, भावुक और त्यागमयी नहीं दिखातीं, बल्कि एक सोचने-समझने वाली, निर्णय लेने वाली और प्रतिरोध कर सकने वाली सत्ता के रूप में प्रस्तुत करती हैं। ये आत्मकथाएँ स्त्री के अनुभवों को वैधता और मूल्य प्रदान करती हैं। इन रचनाओं ने हिंदी साहित्य में स्त्री की वैचारिक उपस्थिति को मज़बूत किया है। इन्होंने स्त्री विमर्श को एक ऐसा धरातल दिया जहाँ अनुभव, संवेदना और विचार मिलकर एक नए बौद्धिक और सामाजिक परिदृश्य का निर्माण करते हैं। स्त्री की पीड़ा को इन रचनाओं ने घर की चारदीवारी से बाहर लाकर सामाजिक संरचना में मौजूद विषमताओं से जोड़ा।

हालाँकि इन आत्मकथाओं की गहनता निर्विवाद है, परंतु उनकी व्यापकता आज भी सीमित है। आज का उपभोक्तावादी और सोशल मीडिया-प्रधान समाज ‘शरीर’ को उत्पाद

बना चुका है और 'समझ' की जगह सतही ज्ञान ने ले ली है। ऐसे में स्त्री आत्मकथाओं का संघर्ष और ज़्यादा चुनौतीपूर्ण हो जाता है। फिर भी यह स्वीकार करना होगा कि, इन रचनाओं ने उस समाज की चुप्पी को तोड़ा है, जहाँ स्त्री को बोलने की अनुमति तक नहीं थी। वस्तुतः ये आत्मकथाएँ न केवल अतीत का बयान हैं, बल्कि वर्तमान संघर्षों और भविष्य की संभावनाओं की वह आधारभूमि भी हैं, जिनसे एक संवेदनशील और न्यायपूर्ण समाज की परिकल्पना संभव है। स्त्री आत्मकथाएँ वस्तुतः 'स्व' की पुनर्खोज हैं जिसे इतिहास, धर्म, समाज और परिवार ने दबा दिया था। एक स्त्री की अपने अस्तित्व की तलाश, अस्मिता की पुनर्परिभाषा और आत्मबोध की गहन प्रक्रिया इन आत्मकथाओं में समाहित है। साथ ही, ये स्त्री आत्मकथाएँ; पितृसत्तात्मक संरचनाओं में गुम हुई उस आवाज़ को पुनः स्थापित करती हैं, जो सदियों तक अनसुनी रही।

ग्रंथ-सूची

आधार ग्रंथ :

1. अन्या से अनन्या, प्रभा खेतान; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण : 2016

2. एक कहानी है यह भी, मन्नू भंडारी ; राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली संस्करण : 2016

3. जो कहा नहीं गया, कुसुम अंसल; राजपाल एंड संस, दिल्ली, संस्करण : 2019

4. कस्तूरी कुंडल बसै, मैत्रेयी पुष्पा; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण : 2017

5. गुड़िया भीतर गुड़िया, मैत्रेयी पुष्पा; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण : 2014

6. पिंजरे की मैना, चंद्र किरण सौनरेक्सा; पूर्वोदय प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण : 2022

7. जमाने में हम, निर्मला जैन; राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण : 2016

8. लगता नहीं दिल मेरा, कृष्ण अग्निहोत्री; सामायिक प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण : 2019

9. और… और… औरत, कृष्ण अग्निहोत्री; सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली : 2021

10. कुछ कहीं कुछ अनकही, शीला झुनझुनवाला, डी.पी. झुनझुनवाला दिल्ली, सं.: 2001

11. कितने शहरों में कितनी बार, ममता कालिया; राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सं. : 2010

12. आरोह–अवरोह, सुषम वेदी; सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली : संस्करण 2022

सहायक ग्रंथ-सूची :

1. अग्रवाल, चंद्र मोहन: नारी: अंतर्दर्पण व समाज, इंडियन पब्लिशर्स डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली
2. अग्रवाल, रोहिणी: स्त्री लेखन स्वप्न और संकल्प, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, तीसरा संस्करण: 2019
3. अनामिका: स्त्री मुक्ति की सामाजिकी मध्यकाल और नवजागरण, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण: 2023
4. अनामिका: स्त्री मुक्ति साझा चूल्हा, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास भारत, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2010, तीसरी आवृत्ति: 2014
5. अरोड़ा, सुधा: औरत की कहानी, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, चौथा संस्करण: 2010
6. अरोड़ा, सुधा (संपादन): मन्नू भंडारी का रचनात्मक अवदान, वंदना बुक एजेंसी, प्रीत विहार, दिल्ली, संस्करण: 2012
7. अरोड़ा, सुधा (संपादन): मन्नू भंडारी सृजन के शिखर, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2010
8. आज का स्त्री आंदोलन, आज के सवाल 9: उमा चक्रवर्ती, पूरनचंद्र जोशी, वृंदा करात, उर्वशी बुटालिया, चारु गुप्ता, जवरी मल्ल पारख, उत्पल कुमार, रमेश उपाध्याय, शब्द संधान प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण: 2011
9. उपाध्याय, रमेश; संज्ञा उपाध्याय (संपादक): स्त्री सशक्तिकरण की राजनीति, आज के सवाल 28, शब्द संविधान, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2012
10. कालिया, ममता (संपादन): नयी सदी की पहचान श्रेष्ठ महिला कथाकार, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण: 2009
11. कुशवाहा, रमाशंकर: आत्मकथा और स्त्री, अद्वैत प्रकाशन, नवीन शाहदरा, दिल्ली, प्रथम पेपरबैक संस्करण: 2022

12. के. अजीत: स्त्री की दुनिया, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2019
13. खान, डॉ. समा: महिला लेखन में चेतना के बदलते स्वर, राज पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, प्रथम संस्करण: 2007
14. खेतान, प्रभा: उपनिवेश में स्त्री, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण: 2003, तीसरी आवृत्ति: 2010
15. गुप्ता, रमणिका: स्त्री मुक्ति संघर्ष और इतिहास, सामाजिक प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण: 2014
16. गुप्ता, सरोज कुमार: भारतीय नारी कल आज और कल, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2007
17. चंदन, संजीव (संपादक): चौखट पर स्त्री: समय से संवाद, अन्य प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2015
18. चंदेल, डॉ. धर्मवीर: मानवाधिकार और महिला विमर्श, पोंटर पब्लिशर, जयपुर, प्रथम संस्करण: 2014
19. चतुर्वेदी, जगदीश्वर: स्त्री साहित्य इतिहास अस्मिता और आत्मकथा, एकेडमिक पब्लिकेशन, सोनिया विहार, दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2021
20. चतुर्वेदी, जगदीश्वर: स्त्रीवादी साहित्य विमर्श, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, संस्करण: 2011
21. चतुर्वेदी, पंकज: आत्मकथा की संस्कृति, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण: 2021
22. चतुर्वेदी, रामस्वरूप: हिंदी साहित्य और संवेदना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण: 2010
23. चक्रवर्ती, उमा; साधना आर्य (संपादक), बसंती रावण, विजय झा (अनुवादक): स्त्री अध्ययन एक परिचय, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण: 2021

24. जैन, अरविंद: औरत अस्तित्व और अस्मिता, सारांश प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2000
25. जैन, अरविंद; लीलाधर मंडलोई (अतिथि संपादक), प्रोफेसर कमला प्रसाद, राजेंद्र शर्मा (संपादक और सहायक संपादक): स्त्री मुक्ति का सपना, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण: 2018
26. जैन, अरविंद: बेड़ियां तोड़ती स्त्री, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण: 2022
27. जोशी, गोपा: भारत में स्त्री असमानता, हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2006
28. ठाकुर, अभय कुमार: स्त्री अस्मिता का इतिहास, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
29. ठाकुर, डॉ. आभा गुप्ता (अनुवादक): संस्कृति का ताना-बाना, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण: 2016
30. डॉ. आशु रानी: महिला विकास कार्यक्रम, इना श्री पब्लिशर्स, जयपुर, संस्करण: 2013
31. डॉ. नागेंद्र (संपादक): भारतीय साहित्य कोश, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, इलाहाबाद
32. डॉ. राम प्रकाश: साहित्य की विविध विधाएं, सन्मार्ग प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण: 1988
33. डॉ. हरिमोहन: साहित्यिक विधायक पुनर्विचार, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण: 1997
34. डॉ. श्रद्धा सिंह: आधी आबादी, कला मंदिर, नई सड़क, प्रथम संस्करण: 2014
35. द बोबुआर, सिमोन; मनीष पांडेय (अनुवाद): स्त्री के पास होने के लिए कुछ नहीं है!, संवाद प्रकाशन, मुंबई मेरठ, प्रथम संस्करण फरवरी: 2004, पुनः मुद्रण: 2008
36. दुष्यंत: स्त्रियां पर्दे से प्रजातंत्र तक, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण: 2019

37. द्विवेदी, हजारी प्रसाद: हिंदी साहित्य की भूमिका, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण: 2006

38. नैयर, सुशीला; कमला मनकेकर (संपादन), नेमीशरण मित्तल (अनुवाद): भारतीय पुनर्जागरण में अग्रणी महिलाएं, नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2005

39. पचौरी, सुधीर: उत्तर आधुनिक साहित्यिक विमर्श, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण: 2023

40. पांडे, नीलिमा: इतिहास में स्त्री अस्मिता की तलाश, अध्ययन पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, संस्करण: 2013

41. पालीवाल, कृष्ण दत्त (संपादन-संकलन): नारी विमर्श की भारतीय परंपरा, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2014

42. पोपकर, किरण: मैत्रेयी पुष्पा का कथा साहित्य स्त्री विमर्श, गौड पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2011

43. प्रकाश, डॉ. अलका: नई चेतना के आयाम, लोकभारती, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण: 2007, पुनः मुद्रण: 2013

44. प्रमिला, के. पी.: विमर्श की संगति, आधार प्रकाशन, हरियाणा, प्रथम संस्करण: 2022

45. प्रजापति, डॉ. हरिशंकर: हिंदी स्त्री आत्मकथाएँ एक मूल्यांकन, वेसर बुक्स प्रकाशन, जर्मनी, प्रथम संस्करण: 2020

46. बेचैन, डॉ. श्यौराज सिंह: स्त्री विमर्श और पहली दलित शिक्षिका, साहित्य संस्थान, गाजियाबाद, प्रथम संस्करण: 2012

47. भाटिया, डॉ. कैलाशचंद्र: साहित्य में गद्य की नई विविध विधाएं, तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण: 1996

48. मिश्रा, अल्पना: स्त्री विमर्श का नया चेहरा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण: 2023
49. मिश्रा, अमिताभ: भारतीय नारी कोश, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण खेतान: 2014
50. मिश्रा, ज्योति प्रसाद निर्मल (संपादन और संकलन), बलवंत कौर (प्रस्तुति): स्त्री कवि कौमदी, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण: 2014
51. मेहरा, दिलीप: मन्नू भंडारी का कथा संसार, क्लासिकल पब्लिशिंग कंपनी, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2009
52. मोरे–पावडे, वर्षा: स्त्री संघर्ष और हिंदी आत्मकथा, विनय प्रकाशन, कानपुर, प्रथम संस्करण: 2018
53. यादव, डॉ. वीरेंद्र सिंह: नई सहस्त्राब्दी का महिला सशक्तिकरण, ओमेगा पब्लिकेशंस, दरियागंज, दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2010
54. यादव, राजेंद्र: देहरी भई विदेश, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण: 2020
55. यादव, राजेंद्र (संपादक), प्रेभा खेतान (सौजन्य संपादन), अभय कुमार दुबे: हंस: स्त्री—भूमंडलीकरण: पितृ–सत्ता के नए रूप (खंड–1), अक्षर प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2022
56. यादव, राजेंद्र (संपादक), प्रेभा खेतान (सौजन्य संपादन), अभय कुमार दुबे: हंस: स्त्री भूमंडलीकरण: पितृ सत्ता के नए रूप (खंड–2), अक्षर प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2022
57. यादव, राजेंद्र (संपादक), अर्चना वर्मा (सह संपादक), बलवंत कौर: हंस स्त्री विमर्श: अगला दौर, अक्षर प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2022

58. यादव, राजेंद्र (संपादक), अर्चना वर्मा (संपादन सहयोग): हंस: अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य (खंड–1), अक्षर प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2022
59. यादव, राजेंद्र (संपादक), अर्चना वर्मा (संपादन सहयोग): हंस: अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य (खंड–2), अक्षर प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2022
60. यादव, राजेंद्र (संपादक), अर्चना वर्मा (संपादन सहयोग): हंस: अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य (खंड–3), अक्षर प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2022
61. यादव, राजेंद्र (संपादक), अर्चना वर्मा (संपादन सहयोग): हंस: औरत: उत्तरकथा (खंड–1), अक्षर प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2022
62. यादव, राजेंद्र (संपादक), अर्चना वर्मा (संपादन सहयोग): हंस: औरत: उत्तरकथा (खंड–2), अक्षर प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2022
63. यादव, राजेंद्र (संपादक), अर्चना वर्मा (संपादन सहयोग): हंस: औरत: उत्तरकथा (खंड–3), अक्षर प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2022
64. यादव, राजेंद्र; अर्चना वर्मा (संपादन): अतीत होती सदी और स्त्री का भविष्य, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, चौथा संस्करण: 2018
65. राजकिशोर: स्त्री पुरुष कुछ पुनर्विचार, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण: 2006
66. राजे, सुमन: इतिहास में स्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, दूसरा संस्करण: 2015
67. राजे, सुमन: 20वीं सदी का हिंदी महिला लेखन, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2007

68. राजे, सुमन: हिंदी साहित्य का आधा इतिहास, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, पहला संस्करण: 2015

69. रावत, ज्ञानेंद्र: औरत एक समाजशास्त्री अध्ययन, विश्व भरती पब्लिकेशंस, दरियागंज, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2006

70. रावत, रश्मि: स्त्री लेखन का समकाल, आधार प्रकाशन, हरियाणा, प्रथम संस्करण: 2023

71. वर्मा, कल्पना (संपादन): स्त्री विमर्श विविध पहलू, लोकभारती प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण: 2019

72. वर्मा, डॉ. सुशील: आधुनिक समाज की नई चेतना, आशा पब्लिशिंग कंपनी, आगरा, संस्करण: 1998

73. वर्मा, महादेवी: श्रृंखला की कड़ियां, लोकभारती प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण: 2023

74. वर्मा, सावित्री देवी (संपादक): भारत की महान नारियां, चंद्र प्रकाशन, आगरा, प्रथम संस्करण: 1961

75. व्होरा, आशारानी: स्त्री सरोकार, आर्य प्रकाशन मंडल, गांधीनगर, दिल्ली, संस्करण: 2006

76. शर्मा, राम; एम. के. मिश्रा: भारतीय समाज में नारी, अर्जुन पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2010

77. शर्मा, सुभाष: भाषा का समाजशास्त्र, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली

78. शागि, पीटर: स्त्री एवं सामाजिक प्रसंग–ममता कालिया का कथा साहित्य, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण: 2018

79. श्रीवास्तव, डॉ. चंपा: हिंदी का आत्मकथात्मक साहित्य, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण: 2013

80. सिंह, कुंवर पाल: साहित्य और हमारा समय, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण: 2002
81. सिंह, बच्चन: हिंदी साहित्य का दूसरा इतिहास, राधा कृष्ण, नई दिल्ली, संस्करण: 2013
82. सिंह, बहादुर विजय (संपादक): मैत्रेयी पुष्पा स्त्री होने की कथा, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण: 2016
83. सिंह, विजय बहादुर; राधा वल्लभ त्रिपाठी (संपादक): संस्कृति के प्रश्न और रामविलास शर्मा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण: 2022
84. सिंह, सच्चिदानंद: संस्कृति और समाजवाद, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण: 2004
85. जैदी, रंजन: स्त्री कथा कथाअनंता, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास भारत, नई दिल्ली, पहला संस्करण: 2013, पहली आवृत्ति: 2014
86. ग्रियर, जर्मेन; मधु बी जोशी (अनुवाद): बदिया स्त्री, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण: 2005
87. कुलश्रेष्ठ, नीलम: परत दर परत स्त्री, राधा पब्लिकेशंस, नई दिल्ली, पहला संस्करण: 2012
88. त्रिपाठी, डॉ. विश्वनाथ: हिंदी साहित्य का सरल इतिहास, ओरिएंट ब्लैक स्वान प्राइवेट लिमिटेड, हैदराबाद, आंध्र प्रदेश, संस्करण: 2012
89. डॉ. धर्मवीर: सीमंतनी उपदेश, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली
90. डॉ. धर्मवीर, संपादक लेखिका एक अज्ञात हिंदू: औरत सीमंतनी उपदेश, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण: 2017

ऑनलाइन (हिन्दी) वेब-पत्रिकाएँ :

1. अक्षर पर्व (Akshar Parv Hindi Literature Web Magazine)
2. अनुभूति (Anubhuti Hindi Literature Web Magazine)
3. अभिव्यक्ति (Abhivyakti Hindi Literature Web Magazine)
4. उर्वशी (Urvashi Hindi Literature Web Magazine)
5. कलायन (Kalayan Hindi Literature Web Magazine)
6. कविता कोश (Kavita Kosh Hindi Literature Web Magazine)
7. गघकोश (Gadya Kosh Hindi Literature Web Magazine)
8. जानकीपुल (Jankipul Hindi Literature Web Magazine)
9. भारतीय पक्ष (Bhartiya Paksha Hindi Web Magazine)
10. रचनाकार (Rachnakar Hindi Literature Web Magazine)
11. लघुकथा.Com (Laghukatha.Com Hindi Literature Web Magazine)
12. लेखक मंच (Lekhak Manch Hindi Literature Web Magazine)
13. समयांतर (Samyantar Hindi Literature Web Magazine)
14. समालोचन (Samalochan Hindi Literature Web Magazine)
15. साहित्य कुंज (Sahitya Kunj Hindi Literature Web Magazine)
16. साहित्य शिल्पी (Sahitya Shilpi Hindi Literature Web Magazine)
17. सृजनगाथा (Srijan Gatha Hindi Literature Web Magazine)
18. हिन्द युग्म (Hind Yugm Hindi Literature Web Magazine)
19. हिन्दी कुंज (Hindi Kunj Hindi Literature Web Magazine)
20. हिन्दी नेस्ट (Hindi Nest Hindi Literature Web Magazine)

ई-पुस्तक पता :

1. http://www.gutenberg.org
2. http://ebooks.adelaide.edu.au/themes
3. http://www.manybooks.net
4. http://www.e-booksdirectory.com
5. http://www.ebooksread.com
6. http://www.fullbooks.com
7. http://openlibrary.org
8. http://www.bibliomania.com
9. http://www.getfreeebooks.com
10. http://www.openculture.com/free_ebooks
11. http://digital.library.upenn.edu/books
12. http://libgen.org
13. http://www.feedbooks.com/publicdomain
14. http://www.digilibraries.com
15. http://ebookuniverse.net
16. http://bookboon.com
17. http://ebookcollective.wordpress.com

साहित्यिक-अनुवाद से संबंधित वेब-पता :

1. http://www.translatedfiction.org.uk
2. http://wordswithoutborders.org
3. http://exchanges.uiowa.edu/splash
4. http://www.ou.edu/worldlit
5. http://www.rochester.edu/College/translation/threepercent

शोधार्थी

Arpna Singh

पौष-चैत्र, वि.सं. २०८१
अप्रैल-जून, 2025

ISSN : 0378-391X
भाग-86, अंक: 2
यूजीसी केयर लिस्ट में सम्मिलित

हिन्दुस्तानी

त्रैमासिक

शताब्दी की ओर

हिन्दुस्तानी एकेडेमी
उ.प्र. प्रयागराज

अनुक्रम

- सम्पादकीय
- आलेख
  - बुन्देली लोकसाहित्य के संग्रहकार और कोश-निर्माता : श्री दुर्गा प्रसाद समाधिया — ~ उदय शंकर दुबे ... 7
  - परस्पर प्राण-पोषक लोक और शास्त्र — ~ रामदेव शुक्ल ... 10
  - नाथ सिद्ध-परम्परा एवं साधना-प्रक्रिया — ~ अनुज प्रताप सिंह ... 14
  - 'तितास एक नदी का नाम' उपन्यास और फिल्म में चित्रित नदी-संस्कृति — ~ रेनू सिंह ... 20
  - मैथिल कोकिल विद्यापति का साहित्यिक योगदान — ~ रुचि बाजपेई ... 24
  - भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम में जनजातीय महिलाओं का योगदान — ~ शैलेंद्रकुमार शर्मा ... 32
  - हिन्दी-साहित्य में बालसाहित्य की उपस्थिति : इतिहास, समीक्षा, परिवेश और कुछ विचारणीय बिन्दु — ~ सुरेन्द्र विक्रम ... 43
  - भारतीय गुरुकुल शिक्षा पद्धति : वर्तमान शिक्षा प्रणाली में इसकी प्रासंगिकता — ~ मीतू सिंह, अमित उपाध्याय ... 50
  - कोरोना महामारी : स्याह से सृजन — ~ विभूति नारायण चतुर्वेदी ... 54
  - ऐतिहासिक भावभूमि पर बुन्देली नाट्यकला — ~ प्रेमलता ... 61
  - भारतीय ज्ञान-परम्परा और भारत-बोध — ~ दिनेश सिंह, सरोज यादव ... 66
  - भक्तिकालीन कवियों के काव्य में निहित लोकतत्व एवं लोक-चेतना — ~ प्रतीची मालवीय ... 71
  - मध्यकालीन समाज और स्त्री-दशा — ~ अर्पणा सिंह ... 76
  - अखिल भारतीय महिला-साहित्य-सम्मेलन एवं अन्तर्राष्ट्रीय संगोष्ठी रूढ़िवादी विचारधारा बनाम महिला-सशक्तीकरण — ~ सुप्रिया तिवारी ... 80
  - बिन शिक्षा सब सून — ~ आद्या शक्ति राय ... 83
  - साहित्य की भारतीय सांस्कृतिक परम्परा — ~ अरुण कुमार वर्मा ... 87
  - भारत में जनजातियों का इतिहास : विकासवादी परिप्रेक्ष्य — ~ विकास कुमार ... 91
  - प्रेमचन्द का राष्ट्रप्रेम और सोजे वतन — ~ शालिनी सिंह ... 98
  - शिक्षा में भारतीय ज्ञान-परम्परा का समावेश एवं योगदान — ~ प्रिया सोनी खरे, जितेन्द्र कुमार ... 103
  - भारतेन्दु-पूर्व हिन्दी-भाषा और लिपि का विवाद — ~ ज्ञानेंद्र प्रताप सिंह ... 110
  - भारतीय, संस्कृति में सन्त-परम्परा — ~ सपना तिवारी ... 116
  - शेख़ सादी : पुनर्व्याख्या — ~ मोहम्मद आदिल ... 122

मध्यकालीन समाज और स्त्री-दशा

अर्पणा सिंह

मध्यकालीन भारत का समय ऐतिहासिक रूप से बहुत महत्वपूर्ण रहा है, खासकर समाज और स्त्री-दशा के संदर्भ में। इस समय के दौरान भारत में सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, और सांस्कृतिक परिवर्तन हुए थे। यह विशेषकर भारतीय समाज की स्त्रियों की भूमिका और स्थिति में महत्वपूर्ण बदलावों का समय भी था। मध्यकालीन भारतीय समाज का इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि छोटी-बड़ी रियासतों में बँटी हुई शासन-व्यवस्था और उस पर मुगलशाही का नियन्त्रण जनता के अधिकारों की सुरक्षा के क्षेत्र में शून्य था। व्यक्ति पर कर्तव्य तो थोपे जाते थे, किन्तु यह ध्यान नहीं रखा जाता था कि उसके कुछ अधिकार भी होते हैं। इन अधिकारों की उपेक्षा में स्त्री, जिसे हम 'आधा इतिहास', 'आधी दुनिया' और 'आधी आबादी' आदि शब्दावलियों में बाँधकर समझने की कोशिश करते हैं, लेकिन क्या समाज में उसे 'आधी दुनिया' कभी स्वीकारा गया और अगर स्वीकारा गया तो किस धरातल पर! सवाल यह है! जो हमें परम्परा की पड़ताल करने को मजबूर करता है और इस बात की खोज करवाता है कि जिसे हम 'समाज' कहते हैं, उसमें यह 'आधी आबादी' किस दिशा और दशा में थी और है।

"मुक्त करो नारी को मानव, चिर बन्दिनी नारी को/ युग-युग की निर्मम कार से, जननी सखी धारी को।"[1] आधुनिक काल में कवि सुमित्रानन्दन पन्त द्वारा लिखी ये पंक्तियाँ इस ओर संकेत करती है कि प्राचीन काल से स्त्री जरूर किसी ऐसी सत्ता के शासन में है, जिसे चलाने वाला कोई दूसरा ही है, ये जो चलाने वाली सत्ता है, उसे हम पितृसत्ता कह सकते हैं। स्त्री की यह दयनीय दशा एक परम्परा से चली आ रही है। जिसे कवियों ने अलग-अलग रूप में चित्रित किया है। मैथिलीशरण गुप्त लिखते है– "अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी/ आँचल में है दूध और आँखों में पानी।"[2] वहीं जयशंकर प्रसाद कामायनी में लिखते हैं– "नारी! तुम केवल श्रद्धा हो।"[3] ये शब्दावली नारी की वर्षों से मौजूद यथास्थिति को ही बयां कर रही है कि जो स्त्री सदियों से अबला, श्रद्धा, देवी आदि है। उसके ये सारे रूप स्वीकार्य हैं– 'मानवीय' रूप को छोड़कर। उसका समाज में देवी रूप ही स्वीकार्य है।

मध्यकाल में स्त्री की भूमिका की पड़ताल करने के लिए तुलसीदास जी समाज की पुकार बनकर खड़े थे, वे स्त्री के साथ न्याय नहीं कर पाए, उन्होंने लिखा कि, "ढोल गंवार शूद्र पशु नारी, सकल ताड़ना के अधिकारी।"[4] दूसरे सबसे बड़े समाज-सुधारक और प्रगतिशील कवि कबीर स्त्री को मध्यकालीन समाज में जस के तस ढोते नजर आते है–

"नारी कुंड नरक का बिरला थामे बागा"[5]

"पतिव्रता मैली भली, काली कुचल कुरूप"[6]

विदित है कि साहित्य; समाज का दर्पण है। कबीर व तुलसीदास के ये पद मध्यकालीन सोच के ही प्रतिबिम्ब है। मध्यकाल तक आते-आते नारी की सामाजिक स्थिति गरिमापूर्ण तथा प्रभावशाली नहीं रह गई थी। "मध्यकालीन स्त्री की बुनियादी विशेषता यही है कि उसकी कोई अस्मिता नहीं है। उसका स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं है, वह मातहत है और जिसकी मातहत है, वही उसका सामाजिक सन्दर्भ है, वहाँ से ही उसकी सामाजिक स्थिति भी तय हो रही है। फलतः स्त्री सामाजिक जीवन में क्या करे और क्या न करे, यह भी पुरुष से ही तय हो रहा है। किसी न किसी पुरुष के आश्रय में रहना ही उसका कर्तव्य था। मध्ययुगीन पुरुष के मन में स्त्री के लिए नकारात्मक भाव अधिक होता था। दरबारी कवि प्रेम की महानता का वर्णन करते नहीं अघाते थे, लेकिन ठीक इसके विपरीत युद्ध-

लेखन में हम औरत के प्रति विद्वेष अधिक पाते हैं। किस्से-कहानियों, व्यंग्य और प्रहसन औरत को आलसी, छिछोरी तथा कामुक कहते नहीं थकते थे। औरत का सबसे बड़ा दुश्मन था पुरोहित-वर्ग, जो विधवा-विवाह को हेय दृष्टि से देखता था और शारीरिक-सम्बन्ध को पाप की संज्ञा देता था।"[7] मध्यकाल में पितृसत्तात्मक व्यवस्था थी। पुरुषों ने स्त्रियों पर अपने वर्चस्व को बनाये रखने के लिए धन का सहारा लिया।

दुनिया के कमोबेश प्रत्येक धर्म में पुरुष को श्रेष्ठ और स्त्री को गौण माना गया है और लगभग सभी धर्मों में स्त्रियों को जन्म से ही पुरुष के अधीन माना गया है, फिर चाहे वह पिता रूप में हो या पति रूप में। ये उपक्रम पितृसत्ता को जस का तस बनाये रखने की लालसा ही थी। मनुस्मृति में कहा गया है- "**रक्षा प्रकृति चरित्रं च कुल्मात्मानमेव च रचं च धर्म प्रयत्ने जायां रक्षन हि रक्षति।**"[8] अर्थात् सब पुरुषों को चाहिए कि अपनी स्त्रियों को स्वतन्त्र न होने दे, किसी भी प्रकार के विषयों में आसक्त होने पर भी उन्हें अपने बस में रखें। कुमार अवस्था में पिता रक्षा करता है, युवा अवस्था में पति तथा बुढ़ापे में पुत्र स्त्री की रक्षा करता है, स्त्री स्वतन्त्रता के योग्य नहीं है। साथ ही- "**स्वाभाव एष नारीणां नराणांमिह दूषणे।**"[9] अर्थात् इस लोक में पुरुषों को विकार-भ्रष्ट कर देना, यह नारियों का स्वाभाव है। ऐसे न जाने कितने विचार और सिद्धान्त हमें पढ़ने व सुनने को मिलते हैं, जब हम शोध-सामग्री का संकलन करते हैं। स्त्री के प्रति यही दृष्टिकोण आम है।

मध्यकाल में किसी भी स्त्री को अपनी स्वतन्त्र राय रखने और अपने को स्वतन्त्र रूप में अभिव्यक्त करने का कोई अधिकार नहीं था। पितृसत्ता की खूबी होती है कि वह स्त्रियों को सिखाता है कि केवल पुरुषों की बातचीत ही आधिकारिक होती है। यही वजह है कि स्त्री दूसरी स्त्री को गम्भीरता से नहीं सुनती क्योंकि परम्परा से स्त्री की वक्तृता को नियन्त्रित किया गया है। इसके पीछे यह धारणा काम करती है कि स्त्री अच्छी वक्ता नहीं होती है। उन्हें अधिकार भी नहीं दिया जाता, लेकिन यह स्थिति स्त्री चेतना के साथ-साथ थोड़ी बदली है।

पति के प्रति पत्नी की निष्ठा और सेवा के दायित्व लादने वाले पुराने नियम कायम थे। परित्याग, संक्रामक रोग आदि जैसी विशेष परिस्थितियों में विवाह-विच्छेद की अनुमति थी, लेकिन सभी लेखक इससे सहमत नहीं हैं। विधवा-विवाह को उन प्रथाओं में शामिल किया जो कलियुग में वर्जित है, किन्तु यह विधान केवल तीन उच्च जातियों पर ही लागू होता था। जहाँ तक सती-प्रथा का प्रश्न है, कुछ लेखकों और विचारकों ने इसके पक्ष में जोरदार वकालत की, जबकि कुछ लेखकों ने कुछ शर्तों के साथ इसका अनुमोदन किया। अनेक यात्री देश के विभिन्न भागों में इसके प्रचलन का उल्लेख करते हैं। इब्नबतूता ने ढोलकों की ऊँची आवाजों के साथ एक स्त्री के द्वारा स्वयं को अपने मृत पति की चिता पर जलाये जाने के दृश्य का मर्मान्तक वर्णन किया है। ढोलकों की यह ऊँची आवाज वास्तव में स्त्री के स्वर को दबाने का ही प्रयास था। उनके अनुसार सती-प्रथा सम्पन्न करने हेतु सुलतान की अनुमति प्राप्त करना अनिवार्य था।

सम्पत्ति के सम्बन्ध में तत्कालीन सामयिक नियमों के अनुसार एक पुत्रहीन पति की सम्पत्ति उसकी विधवा को प्राप्त थी, बशर्ते कि वह संयुक्त सम्पत्ति न रही हो। विधवा इस सम्पत्ति की संरक्षक मात्र नहीं थी, अपितु इसे बेचने का भी उसे पूरा अधिकार था। इस प्रकार ऐसा लगता है कि हिन्दू-कानून में स्त्रियों के सम्पत्ति-सम्बन्धी अधिकारों में वृद्धि हुई। इस काल के दौरान स्त्रियों को एकान्त में रखने एवं बाहरी व्यक्तियों के सामने अपने चेहरे को ढककर रखने की प्रथा अर्थात् पर्दा-प्रथा उच्चवर्गीय स्त्रियों के बीच प्रचलित हो गई। लोगों की कामुक दृष्टि से स्त्रियों को ओझल रखने की प्रथा उच्च वर्गीय हिन्दुओं के बीच प्रचलित थी और इसका प्रचलन प्राचीन ईरान, यूनान आदि में था। अरबों और तुर्कों ने इस प्रथा को अपनाया और वे अपने साथ इसे भारत में भी ले आए। उनके प्रभाव के कारण यह प्रथा भारत में विशेषकर उत्तर भारत में महिलाओं में आ गयी। शायद पर्दा-प्रथा की वृद्धि का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारक सामाजिक चरित्र था। यह समाज के उच्च वर्गों का प्रतीक बन गई और ऐसे सभी लोग, जो समाज की दृष्टि में आदरणीय और सम्मानित होना चाहते थे, इसका पालन करने का प्रयत्न करते थे। साथ ही इसके पक्ष में धार्मिक औचित्य और तर्क भी प्रस्तुत किये गए। कारण जो भी रहा हो, इसने स्त्रियों को बुरी तरह प्रभावित किया और उन्हें पुरुषों पर और भी अधिक आश्रित बना दिया।

इन सामान्य समस्याओं को अलग रखें, तो उच्च वर्ग की स्त्रियाँ और श्रमिक स्त्रियों की जिन्दगियों के बीच भारी फर्क था। उच्च वर्ग की स्त्रियाँ शिक्षित होती थीं और ऐशो-आराम में रहती थीं। हालाँकि उनकी दुनिया हरम के लोगों तक सीमित रहती थी और उनके पतियों की अनेक पत्नियाँ और प्रेमिकाएँ होती थीं। इनमें से कुछ राजनीति में सक्रिय भूमिका

निभाती थी और स्वयं शासिका होती थी। गोंडवाना की रानी दुर्गावती या अहमद नगर की चाँद बीबी इसके उदाहरण हैं। कभी-कभी वे अपने पति के जरिए राजनीतिक सत्ता का प्रयोग करती थीं, जैसे नूरजहाँ। इस तरह की अन्य स्त्रियाँ भी हुईं, जैसे शाहजहाँ की बेटी जहाँआरा, जो अपने पिता के शासनकाल में और मृत्यु के बाद भाई औरंगज़ेब के भी शासनकाल में राजनीतिक प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण रूप से जुड़ी हुई थी। कई अन्य स्त्रियों ने मुग़ल साम्राज्य के पतन के दौर में राजनीतिक भूमिका निभाई जैसे- मुहम्मद के शासनकाल में औरत जोहरा या उसकी पत्नी ऊधमबाई, जो पहले नर्तकी थी। लेकिन स्त्रियाँ इससे कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका पर्दे के पीछे से समाज को नैतिक और सांस्कृतिक ओज प्रदान करने में निभाती थीं। वे शाही रुचि और संरक्षण को प्रभावित करती और कलाकारों, गायकों आदि को स्वयं भी संरक्षण देती थीं। उनमें से कई को साहित्यिक कृतियों के प्रवर्तन का भी श्रेय प्राप्त है। उदाहरण के लिए जहाँनारा 'मखफ़ी' तखल्लुस से लिखा करती थी। जब औरंगज़ेब ने जेबुन्निसा को दरबार से हटाकर दिल्ली भेज दिया तो उसने वहां एक साहित्यिक केन्द्र स्थापित किया।

बाल-विवाह, जबरन-विवाह, पैतृक संपत्ति में हिस्सा देने से इंकार आदि बहुत सी सामाजिक कुरीतियाँ मध्यकाल में जारी रहीं। अकबर ने लड़कों और लड़कियों के विवाह की उम्र निर्धारित करने, लड़कियों को माता-पिता के दवाव से नहीं, बल्कि अपने मर्जी से शादी करने की छूट देने की कोशिश की, जिसका कोई खास नतीजा नहीं निकला। इसी प्रकार मुगलों के सती-प्रथा के नियमन करने के प्रयास का भी कोई विशेष प्रभाव नहीं हुआ, क्योंकि सभी बड़े राजपूत राजा इस प्रथा का पालन करते रहे। उदाहरण के लिए जब महाराजा मान सिंह कछवाहा की संवत् 1614 में मृत्यु हुई, तो चार रानियाँ उसके साथ सती हो गई और पांच आमेर में सती हुई, लेकिन समकालीन राजस्थानी स्रोतों में जिन बहुत सारी रानियों के नाम मूल और जीवन-गाथा बताई गई है, उनमें से अनेक अपने शासक पतियों की मृत्यु के बाद विधवाओं के रूप में जीवित रहीं, इससे पता चलता है कि सती होने के लिए कोई असहनीय दवाव नहीं डाला जाता था। लेकिन एक दुर्भाग्यपूर्ण कुरीति यह थी कि मृत राजा को उसके साथ सती होने वाली रानियों से जो सत् प्राप्त होने की कल्पना थी, उसमें वृद्धि करने के लिए रानियों के साथ दासियों इत्यादि को- जो राजा के साथ सहवास कर चुकी थी और जो देखरेख के अनुसार उन्हें एक प्रकार की पत्नियाँ मानी जाती थी और जिन्हें परिणामस्वरूप विशेष सुविधाएँ प्रदान की जाती थी- राज के लिए सती होने पर मजबूर किया जाता था। स्पष्ट रूप से यह कहा है कि बहुत सी स्त्रियाँ राजपूत नहीं होती थी, बल्कि दूसरे उनसे नीची जाति की होती थी। उदाहरण के लिए जब वर्ष 1698 में बीकानेर के महाराजा अनूप सिंह की मृत्यु हुई, तो उसकी दो रानियों के अलावा देखभालकर्ता महिलाएँ और पांच दासियाँ उसके साथ सती हो गयी थी।

उमरा वर्ग के मुसलमानों में तलाक को अच्छा नहीं माना जाता था, हालाँकि उनके बीच भी इसके कुछ उदाहरण मिलते हैं। जहाँ तक सम्पत्ति का सम्बन्ध है, यह किसी सरदार की मृत्यु होने पर शासक उसकी सम्पत्ति को अपने कब्जे में लेता था, तो उसे मृत सरदार की पात्रता के मुताबिक उनके बेटों में बाँट दिया जाता था। मुसलमान महिलाओं की सम्पत्ति का कोई हिस्सा उनकी बेटियों को नहीं दिया जाता था। इसका कोई उल्लेख हमें प्राप्त नहीं है। हो सकता है कि अदालतें अन्य मुसलमान-महिलाओं को इस प्रकार का अधिकार दिलवाती रहीं हों।

मध्ययुग में वर्ग का हवाला देते हुए अगर एक दृष्टि श्रमिक वर्ग की ओर डालें, तो पता चलता है कि आम तबके की औरतों का जीवन कठिन था। स्त्री मजदूरों को पुरुषों की अपेक्षा कम मजदूरी दी जाती थी, उदाहरण के लिए कोटा से प्राप्त आंकड़ों के अनुसार खेतों में काम करने वाली औरतें रोज़ 2 कम मजदूरी पातीं थीं। कुछ कामों में स्त्रियाँ कुशल कारीगर थी। बंगाल में जिस सूत से ढाका प्रसिद्ध मलमल बनता था, वह स्त्रियों द्वारा काता जाता था, जो अकसर सिद्ध कारीगरों की तेज नजखाली उच्च वर्ग की स्त्रियाँ होती थीं। बताया गया है कि ऐसी स्त्रियों को कुशल श्रमिक वाली तीन रुपए की मजदूरी मिलती थी, वह भी स्त्रियों की खासियत थी लेकिन यह तय है कि ऐसी सभी स्त्रियाँ व्यापारियों या उस्तादों के सख्त नियन्त्रण में काम करती थीं।

स्पष्ट है कि मध्यकालीन भारतीय समाज में स्त्रियों की दशा दयनीय थी, वे शोषित और पीड़ित थीं। समाज में सतीप्रथा, बाल-विवाह, पर्दा-प्रथा आदि न जाने कितनी सारी कुरीतियों का बोल-बाला था। मध्यकाल में समाज को जो दृष्टिकोण, वह पुरुषों ने अपने पक्ष में ही की, स्त्री की भूमिका गौण थी,

अपर भी थी तो 'भोग्यावस्तु' के रूप में थी। मध्ययुग के अन्त तक इस शोचनीय स्थिति में कोई अन्तर नहीं आया। सामन्तवाद के विरुद्ध फ्रांस की राज्यक्रान्ति और ब्रिटेन में औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप साम्यवाद न आया हुआ होता, तो नारी-शोषण का चक्र ऐसे ही चलता रहता। "औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप श्रमिक वर्ग का विकास हुआ, कल-कारखानों में स्त्रियों की भी जरूरत पड़ी। अतः समाजवाद उनकी मुक्ति के लिए सहायक बा। सन् 1879 ई. 'समाजवादी कांग्रेस' ने घोषणा की कि स्त्री-पुरुष दोनों समान हैं।"[10] हालाँकि इन घोषणाओं का उतना प्रबल प्रभाव नहीं पड़ा, किन्तु स्त्री अधिकारों की चेतना को जाग्रत करने का स्वर यहीं से प्रस्फुटित हुआ। इस प्रकार, मध्यकालीन भारतीय समाज में स्त्री-दशा समयानुसार और स्थानीय परिवर्तनों के अनुसार विविध होती रही और लगभग समस्त परिवर्तनों में स्त्री-दशा निम्न ही रही। मध्यकालीन भारतीय समाज वस्तुतः स्त्री को वस्तु मानने की प्रति दुराग्रही रहा है और इसी दुराग्रह ने **आधी आबादी को आधी आज़ादी** के लायक भी न समझकर दोयम दर्जा मानने को आतुर होता समाज रहा है। आज हम तत्कालीन समाज की पश्चभिमुकता को सबक़ के तौर पर लेते हुए हम आज के समाज में स्त्री की दशा को निरन्तर बेहतर करने की ओर अग्रसर रह सकते हैं।

संदर्भ :

1. सुमित्रानन्दन पन्त, ग्राम्या, लोकभारती प्रकाशन, दिल्ली, 2009
2. मैथिलीशरण गुप्त, यशोधरा,
3. जयशंकर प्रसाद, कामयानी, राजकमल प्रकाशन दिल्ली, 2005
4. तुलसीदास, रामचरितमानस, गीता प्रेस गोरखपुर, 1996
5. कबीर, हजारीप्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन दिल्ली, 2003
6. वही,
7. प्रभा खेतान, सिमोन द बोउवार : स्त्री उपेक्षिता, हिन्द पॉकिट बुक्स, 2015
8. मनुस्मृति, गीता प्रेस गोरखपुर, 2007
9. वही,
10. प्रभा खेतान, सिमोन द बोउवार : स्त्री उपेक्षिता, हिन्द पॉकिट बुक्स, 2015

अर्पणा सिंह
असिस्टेंट प्रोफ़ेसर
हिन्दी एवम् आधुनिक भारतीय भाषा-विभाग
एस. आर. टी. परिसर, टिहरी
हेमवती नन्दन बहुगुणा गढ़वाल विश्वविद्यालय, उत्तराखण्ड
मो. 8810540233
मेल आईडी : arpnabutasingh@gmail.com

ISSN: 2454 – 7905

SJIF Impact Factor: 8.542

Worldwide International Inter Disciplinary Research Journal

A Peer Reviewed Referred Journal

Quarterly Research Journal

(Arts-Humanities-Social Sciences- Sports, Commerce, Science, Education, Agriculture, Management, Law, Engineering, Medical-Ayurveda, Pharmaceutical, MSW, Journalism, Mass Communication, Library sci., Faculty's)

www.wiidrj.com

Vol. I ISSUE - CXXIV Year – 10 April 2025

:: Editór in Chief ::

Mrs. Pallavi Laxman Shete

Address for Correspondence

Editor in Chief : Mrs. Pallavi Laxman Shete Website: www.wiidrj.com

Ramkrishna Nagar near Ganpati Mandir Vasmat Road Parbhani (India –Maharashtra)

Email: siddhiprakashan674@gmail.com / Shrishprakashan2009@gmil.com

Mob. No: +91-9623979067 **Director : Mr. Tejas Rampurkar, Hyderabad.**

(For International contact only +91-8857894082)

19.	"दक्षिण एशिया के भविष्य का निर्माणः भारत की उर्जा सुरक्षा और भू राजनीति दृष्टिकोण"	डॉ0 अरविन्द कुमार प्रशान्त कुमार पाण्डेय	75
20.	संत साहित्य और भारतीय ज्ञान परंपरा	जयसिंग गोवर्धन चवरे	84
21.	आत्म मुक्ति के मार्ग–भारत के परिप्रेक्ष्य में	डॉ0 यशमन्त सिंह	87
22.	"महात्मा गांधी के सत्य, अहिंसावादी विचार"	प्रा. डॉ. राजेंद्रप्रसाद पटले	92
23.	हिन्दी आत्मकथाओं में स्त्री आत्मकथा का स्थान और भूमिका	अपर्णा सिंह	96
24.	कालिदास के साहित्य में पुत्रमहिमा	प्रा. डॉ. प्रशांत बाबुराव बिरादार	102
25.	'हिंदी साहित्य और आदिवासी महिला साहित्यकार'	डॉ. संध्या शिवराम गर्जे	107
26.	मराठवाडाविभागे संस्कृतभाषायाः सर्वेक्षणम्	गणेश कुमार सोपानराव पेठकर	113
27.	नवीन राष्ट्रीय शैक्षणिक धोरण	प्रा. डॉ. रेणुकादास यशवंत बोनर	120
28.	पंडित दीनदयाल उपाध्याय विचार आणि कार्याचा आढावा	स्नेहल दत्तात्रय ढगे डॉ. टी. आर. पाटील	128
29.	भारतातील पर्यटन उद्योगांचा विकास : एक संक्षिप्त आढावा	प्रा. डॉ. दिलीप काकडे	133
30.	समाज परिवर्तन आणि प्रशासकीय अधिकाऱ्यांचे साहित्याचे प्रभाव	हर्षदा महादेव डोईफोडे	141
31.	महाराष्ट्रातील एम. आय. डी. सी. मधील रोजगार प्रवृत्तीचे विश्लेषण (सन २०११ ते २०२०)	प्रा. डॉ. संतोष मारूतीराव वाघमारे गुजर उमेश भाऊसाहेब	145
32.	भारतातील स्त्री सौंदर्याचा प्राचिन वारसा	प्रा. डॉ. लुलेश्वर धरमसारे	151
33.	भारतातील महिला कामगारांच्या समस्या	धोंडे अनिल रामलिंग	154
34.	भारतातील अन्नसुरक्षितता आणि भूकबळी : एक अर्थशास्त्रीय अभ्यास	प्रा. डॉ. अनिल दिगंबर वाडकर	157
35.	महाराष्ट्रातील आरोग्यविषयक पायाभूत सुविधा	प्रशांत राजेंद्र तरटे	169
36.	ज्ञान अर्थव्यवस्थेत ग्रंथालयाची भूमिका	डॉ. रिता श्रीमंतराव कदम	175
37.	आरोग्यदायी आहार व शैक्षणिक-शारीरिक विकास- शालेय जीवनात महत्त्वाचे	श्री. देविदास बाबुराव माने	179
38.	आंतरराष्ट्रीय नृत्य दिन	बसवेश्वर भुजंगराव थोटे	181
39.	ऑनलाइन शिक्षणाचे फायदे का तोटे	श्री. देविदास बाबुराव माने	183
40.	महाराष्ट्रातील अल्पभूधारक शेतकऱ्यांच्या समस्या आणि त्यावरील उपाययोजना	कु. शितल कैलास नावडे	186
41.	ग्रामपंचायत महिला सदस्यांनी ग्रामीण विकासासाठी केलेल्या प्रयत्नाचे विश्लेषणात्मक अध्ययन	कु. सुवर्णा गो. लव्हाळे	189

हिन्दी आत्मकथाओं में स्त्री आत्मकथा का स्थान और भूमिका

अपर्णा सिंह

असिस्टेंट प्रोफेसर

हिंदी एवं आधुनिक भारतीय भाषा विभाग, हे. नं. ब. गढ़वाल विश्वविद्यालय, एस आर टी परिसर, टिहरी, उत्तराखंड, पिनकोड: 249199

हमारी भारतीय संस्कृति में प्राचीनकाल से ही स्त्री समाज एवं साहित्य का केन्द्र बिन्दु बनी हुई है। इसके बावजूद आज भी स्त्री अस्मिता का प्रश्न अनादिकाल से अनेक रूढ़ियों और परम्पराओं तथा मर्यादा के अनुसरण में दबता आया है। हर काल में उन्हें अलग-अलग दृष्टिकोण और भिन्न-भिन्न उपमाओं से नवाजा गया है। आदिकाल में उसे 'देवी' या 'शक्ति' कहा गया तो भक्तिकाल में उसे 'माया' रीतिकाल में उसे 'शृंगार' और 'भोग' की वस्तु तो आधुनिक काल में उसे केन्द्र बिन्दु बनाकर उस पर विमर्श किए जाने लगे। जबकि स्त्री भी पुरुष के समान ही एक विचारशील प्राणी है। उसकी भी अपनी निजी सोच एवं व्यवहार है और उस सोच के अनुरूप समाज का निर्माण भी वह करना चाहती है। समय के प्रवाह के साथ परिस्थितियों में बदलाव आया और स्वयं नारी ने भी जागृत होकर अपनी आत्मवेदना को व्यक्त करने के लिए साहित्य जगत में अपनी उपस्थिति दर्ज करायी। हिन्दी साहित्य में पिछले चार दशक में कुछ प्रमुख स्त्री आत्मकथा लेखिकाओं ने अपना अतुलनीय और विशिष्ट योगदान दिया है। जिसमें पदमा सचदेव, मन्नू भण्डारी, मैत्रेयी पुष्पा, प्रतिभा अग्रवाल, रमणिका गुप्ता, सुशीला टाकभौरे, कृष्णा अग्निहोत्री, अमृता प्रीतम, प्रभा खेतान, कौसल्या बैसंत्री आदि उल्लेखनीय हैं।

आज हिन्दी साहित्य में महिला लेखन में एक तरह से आत्मकथा लेखन की बाढ़ सी आ गई है। एक से बढ़कर एक आत्मकथाएँ हमारे सामने आ रही है। यथा-अमृता प्रीतम की आत्मकथा 'रसीदी टिकट', मनू भंडारी कृत 'एक कहानी यह भी', कृष्णा अग्निहोत्री की 'लगता नहीं है दिल मेरा', चन्द्रकिरण सौनेरेक्सा कृत- 'पिंजरे की मैना', पदमा सचदेव कृत- 'बूँद बावड़ी', मैत्रेयी पुष्पा कृत, 'कस्तूरी कुण्डल बसै' एवं 'गुड़िया भीतर गुड़िया', तहमीना दुर्रानी की 'मेरे आका', रमणिका गुप्ता कृत 'हादसे' कौसल्या बैसंत्री कृत 'दोहरा अभिशाप', सुशीला टाकभौरे की 'शिकंजे का दर्द' इत्यादि हिन्दी साहित्य में स्त्रियों द्वारा लिखी गई अनमोल और महत्वपूर्ण आत्मकथाएँ हैं। स्त्री रचनाकारों ने अपनी आत्मकथा द्वारा जो पुरुषों के चेहरे से नकाब हटाया है उसमें पुरुषवादी सोच में उनकी छटपटाहट को महसूस किया जा सकता है। इसी पीड़ा और छटपटाहट का असर है कि विभूतिनारायण राय का वह साक्षात्कार जो राकेश मिश्र द्वारा लिया गया था उसमें कहा था कि "लेखिकाओं के लिए अमर्यादित शब्द 'छिनाल' का आरोप तक लगाया गया।"1

पारिवारिक और सामाजिक संरचना में परम्पराओं और मर्यादाओं के नाम पर स्त्रियों को कई प्रकार के बंधनों में बाँधकर रखा जाता है, जिनके कारण वे कभी पुरुषों के समान विकास नहीं कर पातीं। इन दोहरे मानदंडों के प्रति महिलाओं ने अपना आक्रोश एवं प्रतिरोध अपनी आत्मकथाओं के माध्यम से दर्ज किया है। विविध पारिवारिक और सामाजिक बंधनों में जिस प्रकार के शोषण और भेदभाव के कारण वे सिकुड़ी और

सिमटी रही है, उन बंधनों से मुक्त होने की अपनी छटपटाहट और मुक्ति के प्रयासों को वे अपनी आत्मकथाओं में प्रस्तुत करती हैं। स्त्री चाहे वह जिस भी देश, सम्प्रदाय, समाज, जाति या वर्ग की हो, उन्हें इस तरह के संघर्षों का सामना हर परिस्थिति में करना ही पड़ा है। प्रभा खेतान, मन्नू भण्डारी, मैत्रेयी पुष्पा अपनी आत्मकथाओं के माध्यम से पारिवारों में लड़के और लड़की के बीच किए जाने वाले भेदभाव चाहे वह उनके पालन-पोषण में हो, उनके खेल-कूद कूद, शिक्षा-दीक्षा आदि में सभी को अपने बचपन की स्मृतियों को तहेदिल से याद करती हैं। इसमें से कई आत्मकथा लेखिकाओं को शिक्षा प्राप्त करने हेतु भी बड़ा संघर्ष करना पड़ा है। मैत्रेयी पुष्पा एवं सुशीला टाकभौरे की आत्मकथाएँ स्त्री शिक्षा की जद्दोजहद को दर्शाती हैं। भारतीय समाज में विवाह व्यक्तिगत मामला नहीं है वरन् लड़के लड़कियों के लिए जीवन साथी का चुनाव प्रायः माता-पिता द्वारा किया जाता है।

शिक्षा प्राप्त कर अपने पैरों पर खड़ी होने वाली स्त्री के लिए भी विवाह निर्णय की स्वतंत्रता परिवार एवं समाज के द्वारा नहीं मिलती है। मैत्रेयी पुष्पा की आत्मकथा कस्तूरी कुण्डल बसै, रमणिका गुप्ता की 'हादसे' और मन्नू भंडारी की आत्मकथा एक कहानी यह भी तथा कौसल्या बैसंत्री की चर्चित आत्मकथा 'दोहरा अभिशाप' में इस तरह की स्थितियाँ कमोबेश देखने को मिलती हैं। अपनी व्यक्तिगत प्रतिभा के बल पर किसी मुकाम को हासिल कर लेने वाली स्त्री भी प्रायः दोयम दर्जे पर ही रखी जाती हैं। स्त्रियों को साहित्य के क्षेत्र में राजनीति में तथा व्यापारिक क्षेत्र में भी तमाम उपलब्धियों के बावजूद वह सम्मान व प्रतिष्ठा नहीं मिल पाती जो कि एक पुरुष को हासिल होता है। स्त्री के श्रम तथा यौन शोषण की स्थितियाँ घर और बाहर दोनों जगह बनी रहती हैं जिससे टकराते हुए स्त्री अपनी निजी पहचान बनाने का प्रयास करती है।

आज महिलाएँ विविध विधाओं में अपने लेखन के माध्यम से साहसपूर्वक अपने जीवन के उन पक्षों को उजागर कर रही हैं जो अब तक उनके निजी थे। अपनी नजर से वे परिवार और समाज का विश्लेषण कर रही हैं। हमारी सामाजिक संरचना में स्त्री पुरुष के बीच पक्षपात को पोषित करते हुए स्त्री को तमाम तरह के बंधनों में जीवन जीने हेतु बाध्य किया गया। इन बंधन तथा मर्यादाओं की जकड़न से मुक्ति की चाह महिलाओं में सदा से रही है। स्त्री आत्मकथाओं में पारिवारिक सामाजिक व्यवस्था में अपने प्रति बरती गई उपेक्षा के प्रति आक्रोश तथा प्रतिरोध के स्वर सुनाई देते हैं। पारिवारिक बंधनों खासतौर से माँ की हुकूमत से आजाद होने की चाह इन महिला आत्मकथा लेखिकाओं में तीव्रतर है।

मैत्रेयी पुष्पा की लोकप्रिय आत्मकथा 'कस्तूरी कुंडल बसै' में पति की मृत्यु के बाद अपनी कमजोर स्थितियों को मजबूत बनाने के लिए कस्तूरी शिक्षा प्राप्त करके अपने पैरों पर खड़ी होना चाहती है। मगर परम्परा और रूढ़ियों से ग्रस्त उस गाँव में जहाँ विधवा स्त्री का घर से बाहर पाँव रखना संभव नहीं है, वहाँ परम्परा को तोड़कर कस्तूरी का शिक्षा के लिए बाहर जाना एक क्रांतिकारी कदम होगा। इसी तरह के अन्तर्द्वंद्व से ग्रसित कस्तूरी यह सोचती है कि "ससुर मना नहीं करेंगे लेकिन रजामंदी देंगे इसमें सन्देह है। दूसीर विधवाएँ हैं वे कुछ ऐसा सोचती हैं जिस पर गाँव उँगली उठाए और घर के लोग शर्मसार हों? अगर अपनी ऐसी वैसी इच्छा को नहीं 'दबा पाती तो कुआँ पोखर में डूब मरती हैं। विधवा का इतिहास तो इतना ही है फिर नए भविष्य का ऊटपटांग माना जाने वाला रवैया क्यों जोड़ने जा रही हूँ? अपनी जिद, अपना पागलपन अब तक भरसक छिपाया, मगर क्या कुछ ढँका, छिपा रह सका? आज जब गृहस्थी समेटकर पीहर और ससुराल की मर्यादा का पालन करते हुए, विधवा कर्तव्य जैसी किताब पढ़नी चाहिए और पर पुरुषों से बचकर रहना

चाहिए, मैं पॉव बाहर निकाल देना चाहती हूँ। जहाँ रास्ते ओर कस्बे में पर-पुरुषों से ही वास्ता पड़ेगा। थू-थू तो बहुत होगी।"2

अन्ततः कस्तूरी को शिक्षा के माध्यम से ही अपनी स्थिति सुदृढ़ करने का मार्ग दिखाई देता है। समाज से बार-बार धिक्कारे जाने के बावजूद कस्तूरी दृढ़ता के साथ अपना रास्ता चुन लेती है। अबोध अवस्था से ही देह के प्रति पुरुषों की हवस भरी दृष्टि का आभास कस्तूरी की बेटी मैत्रेयी को आतंकित और असुरक्षित बना डालता है। और वह खुद को दबी-ढँकी चुप्पियों में ही समेटने की कोशिश करती है। यही कारण है कि विद्रोह का विस्फोट आत्मकथा के रूप में अपने इन्हीं अनुभवों को सामने रखती है। बचपन से ही माँ के ममत्व से वंचित मैत्रेयी समाज में पुरुषों की अभद्रता झेलती आई है। इसलिए अब जब उसके सत्रह साल पूरे हो गए हैं, वह एक पुरुष से विवाह करके समाज में एक स्थिर और सम्मानजनक जीवन जीना चाहती है। क्योंकि वह जानती है "एक अबोध अल्हड़ लड़की और अनुभवी के अकेले रहने में फर्क होता है। पौधे को चर जाने वाले पशुओं से बचाने के लिए लोहे या ईंटों की ऊँची हवादार रेलिंग के भीतर रखा जाता है।"3

और वह अपनी माँ से विनती करती है "मेरी स्वाभाविक इच्छाओं को कठोर उपवास में मत बदलो। मैं अपनी इंद्रियों को कसते-कसते दूसरों की हवस का शिकार हुई जाती हूँ।"4

विवाह को हमेशा से ही स्त्री के लिए बंधन मानने वाली महिला मंगल की अधिकारी, मैत्रेयी की माँ कस्तूरी विवाह का विरोध जताती है, क्योंकि- "इस लड़की को ऊँची शिक्षा दिलाकर अफसर बनाने की साध थी उनकी। सोचा था कि एक दिन मैत्रेयी उनके तथा उन जैसियों के साथ कदम-दर-कदम चलकर प्रशासनिक व्यवस्था से उन तमाम गड़बड़ियों को उखाड़ फेंकेगी जो जूझती आगे बढ़ती और रूकावटों के कारण गिरती औरतों की टोली से सहज सामान्य जीवन जीने का हक छीनती रहती है। वह स्त्री के सशक्तीकरण की मशाल अपने हाथ लेगी। लोग कहेंगे कि कस्तूरी माँ के रूप में धन्य है।"5

माँ के नियंत्रण में तनावग्रस्त रहने वाली मैत्रेयी की पीड़ा फूट पड़ती है और वह माँ से कहती है "मैं थूकती हूँ ऐसी आजादी पर जिसकी जन्म देने वाली ही दो मुँही हो। अनपढ़, अशिक्षित होने के बावजूद उन्होंने अपनी कमान अपने हाथ में रखी और किसी दूसरे को अपने जीवन का फैसला लेने नहीं देती थी। मेरे हिसाब से वे औरत नहीं रही... और आगे सुनो कि अपनी बेटी को ब्याह के कारण छिः की निगाह से देखने वाली कस्तूरी स्त्री नहीं हो सकती। तो फिर माँ कैसे हो सकती है?"6

इस आत्मकथा में एक लम्बी बहस विवाह को लेकर मैत्रेयी और कस्तूरी में चलती है और अन्ततः मैत्रेयी की ही विजय होती है। इसी तरह से मूल्यों के संक्रमण काल में भारतीय स्त्रियों ने अपनी स्थिति को पहचाना है। घर से बाहर निकलकर स्वतंत्रता हासिल की है और प्रेम विवाह के प्रति स्वतंत्र निजी विचारों को अपनाया है। आत्मकथा 'हादसे' में रमणिका गुप्ता यह बताती हैं कि "जाति तोड़कर और वह भी प्रेम विवाह दोनों ही परिवार की परम्परा और मर्यादा के लिए चुनौती के रूप में देखे जा रहे थे। मामा ने मेरा घर से निकलना ही बंद कर दिया था। माँ आई मेरी खूब पिटाई हुई पर मैं कटिबद्ध थी। फिर मुझे पटियाला ले जाया गया रोज मार पड़ती। फैसला बदलने के लिए दबाव पड़ता।"7

इसी प्रकार अपनी आत्मकथा 'एक कहानी यह भी' में मन्नू भंडारी द्वारा राजेन्द्र यादव से विवाह करने की बात सुनकर मन्नू के पिता जी के शादी को रोक देने का आदेश देने वाले पत्र आखिरी दिन तक भी आते रहे। यद्यपि 'दोहरा अभिशाप' की कौसल्या बैसंत्री को उनके माता-पिता से अन्तर्जातीय विवाह करने की

छूट मिल गई थी किन्तु समाज के लोगों द्वारा इस विवाह का डटकर विरोध किया गया। कौसल्या बैसंत्री इस सन्दर्भ में बताती हैं कि "शादी की रस्म पूरी हुई और हम विवाह बंधन में बँध गए। तुरन्त ही पत्थर बरसने लगे।"8

एक स्त्री का संघर्ष चीज से व्यक्ति और व्यक्ति से व्यक्तित्व बनने के लिए है। परम्पराओं को नकारने वाली रमणिका गुता समाज में अपनी अलग पहचान बनाना चाहती है। वे लिखती हैं "इतना ही नहीं, अपनी अलग पहचान बनाने की धुन मुझमें इतनी तीव्र हो गई थी कि अगर किसी समारोह का निमंत्रण पत्र मेरे नाम पर न आए तो मैं प्रकाश के साथ श्रीमती वी.पी. गुप्ता बनकर जाने से इन्कार कर देती थी। मुझे लोग मेरे कारण पहचाने, प्रकाश की पत्नी होने के कारण नहीं। मेरे मन में यह भावना अति तीव्र हो गई थी।"9

इसलिए अपने स्वयं सिद्ध बनने के संकल्प को पूरा करने के लिए वह अपने पति और बच्चों को छोड़कर स्त्रियों को स्वावलंबी बनाने वाली संस्थाओं को चलाने के लिए धनबाद में अकेले रहने का निर्णय करती हैं। एक प्रतिभाशाली बौद्धिक स्त्री अपने सीमित स्व से बाहर निकलकर एक फलक को नापती है। मर्यादा, नैतिकता और असुरक्षा की भावना से छीने गए आत्मविश्वास को स्त्री अपने बौद्धिक कुशलता से प्राप्त करना चाहती है। लेकिन उसे निषेधों और वर्जनाओं में जकड़कर पीछे खींचा जाता है किन्तु इन्हीं दबावों से निकलकर उसका प्रतिरोध सामने आता है। साहित्यिक समाज भी औरतों की सीमाएँ निर्धारित करना चाहता है। उसे लिखने से भी रोका जाता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि साहित्यिक समाज औरत को जिस नैतिकता की सीमा में रखना चाहता है, वह सीमा को स्वयं अपने लिए नहीं मानता है। साहित्य जगत में स्त्री का समाज के केन्द्र में आना हमारे आर्थिक सामाजिक विकास का ही परिणाम है। स्त्री प्रश्नों ने समाज के यथार्थ पर नए सिरे से साचेने को विवश किया।

स्त्री के जीवन में आधुनिकता के सन्दर्भ में हुए परिवर्तनों का विश्लेषण भी महत्वपूर्ण है। कृष्णा अग्निहोत्री इस पुरुष समाज की दोगली मानसिकता के सन्दर्भ में लिखती है कि तरक्की के नगाड़े बजाकर इक्कीसवीं सदी तक पहुँचने वाला भारतीय पुरुष समाज अब भी किसी बुद्धिजीवी, कलाकार प्रतिभाशाली महिला और साहित्यकार को वास्तविक रूप से सम्माननीय दृष्टि से नहीं देखता... समाज के रवैये में अभी तक संभावना नहीं है कि वह किसी संकट में फँसी हुई एवं साहित्य सृजन करने वाली स्त्री को देह से अलग देखे। जीवन के हर क्षेत्र में अपने बहुआयामी व्यक्तित्व का निरंतर सिद्ध करते हुए भी स्त्री आज भी अपने श्रम एवं यौन शोषण के लिए अभिशप्त है। समाज में व्यापत स्त्री-पुरुष असमानता की नीति का परिणाम नारी शोषण के रूप में जीवन के हर क्षेत्र में दिखाई देता है। स्त्रियों द्वारा आत्मकथा लिखकर अपने जीवन के अँधेरे पक्ष को सार्वजनिक कर देना अपनी शक्ति और प्रतिरोध का परिचय है। सुशीला टाकभौरे लिखती हैं कि "मैं जो बोलती हूँ वह गलत नहीं यह जानते हुए भी मुझे बोलने क्यों नहीं दिया जाता? समझदार समाज सुधारक पति मुझे सच्चाई क्यों नहीं कहने देते? सच्चाई को कुबूल क्यों नहीं करते? इसका उत्तर मुझे कभी नहीं मिला। मैं कितने बरसों तक इन स्थितियों सामना करती रही। कितने बरसों तक मैंने मानसिक यातना, वेदना को सहा। क्या मुझे एक बार भी इन बातों को बताने का हक नहीं। मुझे यह हक है। समाज में न जाने कितनी स्त्रियाँ जीवन भर जुल्म सहती हैं कई तो पति द्वारा जान से मार दी जाती हैं फिर भी मरते दम तक पति को दोष नहीं देतीं। स्त्रियों का यह संस्कार, यह आदर्श ही पुरुष को निरंकुश बनाता है।"10

सुशीला टाकभौरे अपनी आत्मकथा 'शिकंजे का दर्द' में आगे भी लिखती हैं कि "यह एक स्त्री का दुख नहीं, न जाने कितनी स्त्रियाँ मेरी तरह जिन्दगी का संताप भोगती हैं। न शिकवा, न शिकायत जिन्दगी का जहर चुपचाप पीते रहना वे अपनी किस्मत मान लेती हैं। यह परम्परा टूटनी चाहिए। स्त्रियाँ स्वयं अपना दुख बताएँगी। अपने कष्ट और अन्याय की बात स्वयं कहेंगी, तभी लोग इन बातों को समझेंगे। जो स्त्रियाँ कभी घर से बाहर नहीं निकल पातीं उनको शोषण उत्पीड़न के साथ शारीरिक और मानसिक पीड़ा सहने का संताप होता है। लेकिन जो स्त्रियाँ घर के बाहर की दुनिया से जुड़कर भी शोषण, उत्पीड़न सहते हुए शारीरिक और मानसिक पीड़ा सहती हैं, उसका संताप कहीं ज्यादा होता है।"11

इसी तरह प्रभा खेतान ने अपनी आत्मकथा 'अन्या से अनन्या' के माध्यम से अपने जीवन स्थितियों को उजागर करने का प्रयास किया है। प्रभा खेतान ने अपने लिए परम्परागत स्त्री से भिन्न एक अलग ही रास्ता चुना था। प्रभा नारी के परम्परागत वैवाहिक जीवन से खुश नहीं होती हैं। वह कहती भी हैं कि "मुझे अम्मा की तरह नहीं होना है कभी नहीं। भाभी की घुटन भरी जिन्दगी की नियति मैं कदापि स्वीकार नहीं कर सकती। मैं अपने जीवन को ऑसुओं में नहीं बहा सकती। अम्मा, जीजी, भाभी जी, ताई चाचियाँ क्या सभी रोने के लिए पैदा हुई है।"12

प्रभा खेतान विवाह न करने का दृढ़ निश्चय लेती हैं। उनकी नजरों में सात फेरों का कोई महत्व नहीं है। वह डॉक्टर सर्राफ से कहती हैं जो घट गया, जिससे प्रेम हो गया मैं उसे ही विवाह मानती हूँ और समाज? मुझे समाज की परवाह नहीं। वह मानती हैं कि आर्थिक स्वतंत्रता ही स्त्री की स्वतंत्रता है। वह अपने स्कूल की प्रधानाध्यापिका से कहती भी है कि "आप नहीं जानती बहन जी औरत की सारी स्वतंत्रता उसके पर्स में निहित है।"13

प्रभा खेतान अपने जीवन के अंतरंग प्रसंगों को पूर्ण ईमानदारी के साथ उद्घाटित करती हुई यह स्वीकार करती हैं कि जब वह डॉक्टर सर्राफ की ओर से अपने को उपेक्षित समझती हैं तो विद्रोह स्वरूप निर्णय लेती हैं कि "पुरुष जैसे औरत को काम में लेता है, औरत भी वैसे ही पुरुष का व्यवहार कर सकती है। औरत भी तो कह सकती है तू नहीं तो कोई और सही, कम से कम एक बार किसी अन्य पुरुष की बाँहों में अपना होना तो महसूस कर पाऊँगी।"14

डॉक्टर सर्राफ के साथ अपने संबंधों के चलते भारतीय समाज में उन्हें किन-किन परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है, इसकी चर्चा भी वे अपनी जीवन कहानी में बताती हैं। वे लिखती हैं कि "मैं जीवन की छोटी-छोटी घटनाओं से अपना पाठ सीख रही थी। यह भी समझ रही थी कि केवल पढ़ने से अध्ययन, चिंतन और लेखन से स्त्री स्वतंत्र नहीं हो जाती, सामाजिक पंगुता के विरूद्ध क्रोध और विद्रोह की भावना व्यक्त करने से ही मैं व्यक्ति नहीं हो जाऊँगी। संस्कारों से, परम्परा से मुक्ति की यात्रा बहुत लंबी है और बड़ी कठिन। दो पैसे कमा लेने से ही मुझे निर्णय लेने की स्वतंत्रता मिल जाएगी ऐसा नहीं है।"15

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि अन्य महिलाएँ परम्परागत बंधन को तोड़ते हुए अपने हक की बात कह रही हैं और उसे पा भी रही हैं। अब साहित्य पर पुरुषों का एकाधिकार नहीं रहा। समाज, देश और दुनिया को अपनी दशा, दिशा और उत्थान से रुबरु करने के लिए पुरुषों के लेखनी पर निर्भर नहीं रहना पड़ रहा है। अब वे अपनी तमाम आकांक्षाओं, समस्याओं अधिकारों को अपनी लेखनी के माध्यम से अभिव्यक्त कर रही हैं। लेखिकाओं ने नारी चेतना, नारी अस्मिता ओर नारी पीड़ा को युक्ति और तर्क के साथ निर्भीक और

निडर होकर नारी शक्ति को व्यक्त किया है। भारतीय परम्परागत समाज के लिए यह स्त्री संदर्भ में एक नया एहसास था। आज स्त्री की पहली शर्त है पराधीनता। चाहे वे घर के भीतर हो या बाहर, यह भली-भाँति महिलाएं समझ चुकी हैं। अब उन्हें इस समाज में पुरुषों के समान अधिकार चाहिए। नारी आदर्श पत्नी या प्रेमी के रूप में समाज द्वारा महिमामंडित कर जब चुपचाप पति या पुरुष का आदेश सिर झुकाकर मानते हुए पतियों या प्रेमियों के जुल्मों को चुपचाप सहने का जमाना अब लद चुका है, और इसकी पुष्टि महिला आत्मकथा लेखिकाओं ने अपनी आत्मकथाओं में विस्तृत रूप में किया है।

संदर्भ ग्रंथः-

1. तुम्हीं ने तो दिए हैं हथियार, हंस संपादकीय, राजेन्द्र यादव, सितम्बर 2010, पृ. 51
2. कस्तूरी कुंडल बसै, मैत्रेयी पुष्पा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2002, पृ. 31
3. वही, पृ. 58
4. वही, पृ. 59
5. वही, पृ. 66
6. वही, पृ. 108
7. हादसे, रमणिका गुप्ता, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2005, पृ. 24
8. दोहरा अभिशाप, कौसल्या बैसंत्री, परमेश्वरी प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1999, पृ. 95
9. हादसे, रमणिका गुप्ता, पृ. 26
10. शिकंजे का दर्द, सुशीला टाकभौरे, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2006, पृ. 200
11. वही, पृ. 205
12. अन्या से अनन्या, प्रभा खेतान, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 2004, पृ. 100
13. वही, पृ. 160
14. वही, पृ. 125
15. वही, पृ. 353

ISSN : 2454-7905
MAH/NAN/10936/2015
SJIF 2025 - Impact Factor : 8.542

Worldwide International Inter Disciplinary Research Journal

(A Peer Reviewed)

Year - 10 Vol. I ISSUE - CXXIV April -2025

Special Issue

- Chief Editor -
Pallavi Laxman Shete

Quartly Research Journal

(Arts - Humanities - Social Sciences - Sports, Commerce, Science, Education, Agriculture, Management, Law, Engineering, Medical, Ayurveda, Pharmaceutical, Journalism, Mass Communication, Library Science Faculty's)

प्रमाण-पत्र

राजकीय महाविद्यालय मंगलौर
हरिद्वार (उत्तराखण्ड)

ICSSR

(श्री देव सुमन उत्तराखण्ड विश्वविद्यालय बादशाहीथौल, टिहरी गढ़वाल से सम्बद्ध)

आयोजकः हिंदी विभाग राजकीय महाविद्यालय मंगलौर, हरिद्वार (उत्तराखण्ड)

प्रायोजकः भारतीय सामाजिक विज्ञान अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली

दिनांकः 07 व 08 मार्च, 2025

राष्ट्रीय संगोष्ठी

हिंदी साहित्य के बदलते सरोकार एवं मूल्य

प्रमाणित किया जाता है कि प्रो०/डॉ०/श्री/श्रीमती/कु० अर्पणा सिंह (असि. प्रो. हिंदी)

विश्वविद्यालय/महाविद्यालय एस.आर.टी. परिसर, टिहरी, हे.न.ब.ग. केन्द्रीय विश्वविद्यालय, उत्तराखंड

ने हिंदी विभाग द्वारा आयोजित दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी में सहभागिता की।

इन्होंने स्त्री आत्कथाओं की भाषा (ऑनलाइन)

शीर्षक से अपना शोध-पत्र प्रस्तुत किया।

प्रेमलता

प्रो० प्रेमलता कुमारी
प्राचार्य/निदेशक
राष्ट्रीय संगोष्ठी

राम

डॉ० राम भरोसे
समन्वयक-आयोजन सचिव
राष्ट्रीय संगोष्ठी

राष्ट्रीय संगोष्ठी

19 अक्टूबर, 2024

हरिशंकर परसाई - साहित्य, समाज और समय

स्नातकोत्तर हिंदी विभाग, वीर कुँवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा, बिहार

प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि श्री/सुश्री/डॉ. अर्पणा सिंह, सहायक आचार्य, हिन्दी विभाग, एस॰ आर॰ टी॰ परिसर, टिहरी ..... ने दिनांक 19 अक्टूबर, 2024 को आयोजित ह॰ न॰ ब॰ ग॰ केन्द्रीय विवि श्रीनगर राष्ट्रीय संगोष्ठी में सहभागिता की तथा हरिशंकर परसाई के निबन्धों में सामाजिक सरोकार ..... विषयक शोध पत्र/वक्तव्य/विशिष्ट वक्तव्य प्रस्तुत किया।

डॉ. नवनीत कुमार राय
आयोजन सचिव
असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग
वीर कुँवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा

प्रो. मृत्युंजय सिंह
संयोजक
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
वीर कुँवर सिंह विश्वविद्यालय, आरा